अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व

होगा कोई ऐसा कि जो 'ग़ालिब' को न जाने,
शायर तो वो अच्छा है पे बदनाम बहुत है।

अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व

संकलन : कौशल्या अश्क

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद

● प्रथम संस्करण : १९६१

● मूल्य : [illegible]

● प्रकाशक : **नीलाभ प्रकाशन**
१५-ए महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद

● मुद्रक : **सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग**

अश्क जी की ५१वी वर्षगाँठ पर

. . . इसलिए इस मंगल-पर्व पर, आपका
अन्यतम होने का दावा नहीं करूँगा।
मैं तो अभिनन्दन में यही कहूँगा :
'आप अभी कई मंज़िलें चलें
और अपनी खोज से--
हर उदास दिल में एक सुगबुगाहट, एक बहार;
हर बुझती आँख में एक आलोकपूर्ण स्वप्न
और हर कुहेलिका-भरी रात को
नये सूर्य के आगमन का आश्वासन देते चलें!'

—यात्री

दो शब्द

●●●

गत वर्ष जब इलाहाबाद के मित्रों और स्नेहियों ने अश्क जी की अर्धशती मनाने का निश्चय किया तो उन्हें एक ग्रन्थ भेंट करने की भी योजना थी और जैसा कि सुरेन्द्रपाल जी ने अपने लेख 'अर्धशती-प्रसंग' में लिखा है, भैरव भाई ने, न केवल इलाहाबाद के बाहर रहने वाले अश्क जी के लेखक मित्रों को संस्मरण भेजने के लिए लिखा, वरन् स्थानीय मित्रों से भी अनुरोध किया कि समय कम है, वे तत्काल अपने संस्मरण लिख दें। इस सम्बन्ध में सब से पहली कड़ी भाई मार्कण्डेय ने जुटाई। उन्होंने ऐसा रोचक संस्मरण लिखा कि वह अश्क जी के रचनाकार के सम्बन्ध में एक नया दृष्टि-कोण देने के साथ-साथ अपने में एक उच्चकोटि की कलाकृति उतरा। जिसने सुना, उसने प्रशंसा की और उससे कुछ ऐसा उत्साह बढ़ा कि उस कड़ी के साथ दूसरी कड़ियाँ अनायास जुड़ती चली गयीं।

लेकिन पुस्तक गत वर्ष न छप सकी। यद्यपि बहुत से लेख लिख लिये गये, पर भैरव भाई का ख़याल था कि अश्क जी के उन अन्तरंग मित्रों के संस्मरणों के बिना यह ग्रन्थ अधूरा रहेगा, जिनके साथ वे अपने साहित्यिक जीवन के पहले बीस वर्ष उर्दू में लिखते रहे हैं। उन्होंने बार-बार उन मित्रों को पत्र लिखे, लेकिन उन लोगों के चन्द दिन हफ़्ते और हफ़्ते महीने बन गये और समय निकल गया। बात यह है कि कृष्ण भाई हों या बेदी भाई अथवा अब्बास साहब, वे लोग अत्यधिक व्यस्त हैं। उन्होंने जल्दी ही संस्मरण भेजने का वादा किया था और यह भी कहा था कि उनके संस्मरणों के बिना पुस्तक न छपे, लेकिन अपनी घोर व्यस्तता

में इच्छानुसार 'टालू' नहीं 'जम कर लिखे हुए' संस्मरण तैयार कर पाना उनके लिए कठिन था। तभी भाषा-विभाग (पंजाब) का एक परिपत्र आया कि वे अपने मुख-पत्र 'सप्त सिन्धु' का 'अश्क स्वर्ण जयन्ती अंक' निकाल रहे है और भैरव भाई ने वह सामग्री वहाँ भेज दी और यों जिस उद्देश्य से वे लेख लिखे गये थे, वह एक तरह से पूरा हो गया।

लेकिन जिन स्नेहियों को पत्र गये थे और जो समय पर लेख न भेज सके थे, वे बराबर लेख भेजते रहे। अभी पिछले महीने तक वे संस्मरण पत्र-पत्रिकाओं में छपते और हमारे पास आते रहे हैं। इस वर्ष में लिखे गये संस्मरणों में सर्वश्री जगदीशचन्द्र माथुर, गिरिजाकुमार माथुर, राजेन्द्र यादव और नरेश मेहता ही के संस्मरण नहीं, बल्कि अश्क जी के पुराने साथियों के संस्मरण भी है। ये संस्मरण कुछ इतने रोचक, रंगारंग और उच्चकोटि के हैं कि उन्हें पढ़ते हुए लगा---अच्छा हुआ ये उस जल्दी में न लिखे गये, इतनी जल्दी में शायद इतने अच्छे संस्मरण न लिखे जा सकते ! फिर ख़याल आया, क्यों न इन्हें पुराने संस्मरणों के साथ मिला कर एक ग्रन्थ में संकलित कर दिया जाय !

ये संस्मरण अश्क जी के व्यक्ति को विभिन्न कोणों से जाँचते-परखते हैं और अश्क जी की संगिनी होने के नाते इन्हें पुस्तक-रूप में संकलित करने की मेरी आकांक्षा भी स्वाभाविक है, पर बात केवल इतनी ही नहीं है। मैं हिन्दी में पहले भी संस्मरण पढ़ती रही हूँ, पर इतने खुले और कहानियों के-से रोचक संस्मरण मैंने कम ही पढ़े है। फिर इन संस्मरणों में कितनी ही शैलियाँ हैं, कुछ स्मृतिचित्रों के-से है, कुछ रेखाचित्रों के-से, कुछ निबन्धों के-से और कुछ बड़ी ही सुन्दरता से गढ़े हुए कूजों-ऐसे---अत्यन्त कला-पूर्ण ! फिर इनके लेखकों में भी समय, स्थान और क्षेत्र का बड़ा अंतर है---एक ओर आचार्य शिवपूजन सहाय और पन्त जी है तो दूसरी ओर शेखर जोशी और शानी; एक ओर कृष्णचन्द्र और राजेन्द्रसिंह बेदी हैं तो दूसरी ओर बलवन्त सिह और हुनर---और ये लेखक जीवन्त हिन्दी-उर्दू-साहित्य के एक विशाल और महत्वपूर्ण क्षेत्र को घेरे हुए हैं। एक स्थान पर उनका इकट्ठे हो जाना ही हिन्दी-साहित्य के लिए एक महत्वपूर्ण घटना है।

इसके अतिरिक्त महत्व की बात यह है (और यह शायद इसलिए है कि इन्हें

लिखने वाले सतत रचना शील हैं) कि इन संस्मरणों और स्मृति रेखांकनों में अश्क जी के व्यक्तित्व ही की नहीं, लिखने वालों के अपने व्यक्तित्व और विचारों की स्पष्ट रेखाएँ भी उभर कर पाठकों के सामने आती हैं। इन्हें पढ़ कर पाठक अश्क जी को ही नहीं, इन जीवन्त और क्रियाशील सर्जकों और उनके बीच व्यक्तिगत स्तर पर होने वाली दसियों दिलचस्प बातों को भी जान सकते हैं।

इतने विभिन्न प्रकार के रचनाशील व्यक्तियों का लेखन अपने ही में अत्यन्त महत्वपूर्ण है और मेरा ख़याल है कि इन संस्मरणों को एक साथ संकलित करने से अश्क जी के व्यक्तित्व को उजागर करने के साथ साहित्य की इस विधा का भी समुचित समादर होगा। इस संकलन में व्यक्तिगत भावना के साथ-साथ यही मुख्य प्रेरणा और दृष्टि रही है और शायद इसी कारण मैं कुछ स्नेहियों के संस्मरण और लेख प्रस्तुत संग्रह में संकलित नहीं कर पायी, क्योंकि मैंने प्रयास किया है कि संकलित संस्मरणों में न केवल विभिन्न संस्मरण-शैलियों का प्रतिनिधित्व रहे, बल्कि संकलन पुनरावृत्ति दोष से भी बचा रहे। काफ़ी लेख प्रस्तुत संकलन में छपने से रह गये हैं, जिनका उपयोग मैं निश्चय ही किसी अन्य बेहतर जगह करूँगी। स्नेही लेखकों से मैं अभी क्षमा माँगे लेती हूँ।

संकलन में कुछ ऐसे भी लेख है जो विशेपकर हमारे लिए नहीं लिखे गये। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने अपना लेख बहुत पहले 'आजकल' के लिए लिखा था; श्री रेणु ने 'नयी कहानियाँ' के लिए और श्री त्रिलोक तुलसी ने 'सप्त सिन्धु' के 'अश्क स्वर्ण जयन्ती अंक' के लिए। शुरू के पृष्ठ पर श्री यात्री की कविता का जो अंश दिया गया है, वह भी 'सप्त सिन्धु' के उपरोक्त अंक ही से लिया गया है। ये रचनाएँ अपनी विशिष्टता लिये हुए इतनी सुन्दर हैं कि इन्हें संकलित करने का लोभ मैं सम्वरण नहीं कर सकी। इनके लिए उन स्नेही लेखकों के साथ-साथ मैं उन पत्र-पत्रिकाओं की भी आभारी हूँ।

इस अवसर पर जिन मित्रों, सहयोगियों एवं साहित्यिक बन्धुओं ने अपार सहृदयता और उदारता से अश्क जी के व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में लिखने की कृपा की है, उनकी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। आदरणीय पाठक जी (श्री वाचस्पति पाठक) और गुप्त जी (श्री भैरवप्रसाद गुप्त) को मैं सदा परेशान करती रही हूँ और इस सम्बन्ध में भी मैंने उन्हें ख़ासा परेशान किया है और सदा की

तरह उन्होंने मेरे अनुरोध की रक्षा की है। पुस्तक की तैयारी में पन्त जी ने बहुमूल्य सुझाव दिये हैं; भाई मार्कण्डेय ने घण्टों बैठ कर संस्मरणों और चित्रों की सेटिंग की है और सुरेन्द्रपाल जी ने इसकी छपायी के सिलसिले में दसियों ब्योरों में मुझे मदद दी है। आदरणीय गुण्ठे जी (श्री सीताराम गुण्ठे) तथा भाई ज़ालिम सिंह जी ने अत्यधिक कम समय में इतने सुरुचिपूर्ण ढंग से इसे छाप दिया है। इन स्नेहियों का आभार केवल शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

पुस्तक के नाम को लेकर बड़ी उलझन रही। दसियों नाम सोचे गये, पर कोई ऐसा नहीं सूझा, जो न केवल व्यक्ति अश्क के, वरन् इन संस्मरणों के हल्के-गहरे रंगों को भी अपने में समो ले और साथ ही सरल और सुगम भी हो। आख़िर में सीधा-सा नाम 'रंगीन व्यक्तित्व' मैंने चुन लिया—रंगीन, अर्थात् रंगारंग और कलरफ़ुल !

यदि यह संकलन अश्क जी के व्यक्तित्व के बारे में पाठकों की जिज्ञासा मिटाने के साथ-साथ संस्मरण-साहित्य को कुछ भी आगे बढ़ायेगा तो मैं अपने श्रम को विफल नहीं समझूँगी।

९-१२-६१ —कौशल्या अश्क

अनुक्रम

●

शुभाशंसा

मुलाकातें भी होती हैं...

एक डाइनेमिक व्यक्तित्व

गर्द और कारवाँ

ज़िन्दगी के हसीन पहलू का प्रतीक

हँसता हुआ आँसू

उदास पीले पत्तों पर लम्बी धूप

सर्मपित रचनाकार

दूर और नज़दीक से

फ़रिश्ता नहीं...

अन्तर्दर्शन

अर्धशती-प्रसंग

परिशिष्ट

परिशिष्ट

●

अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व

अश्क अर्धशती-समारोह के अवसर पर
कविवर पन्त अश्क जी को 'सड़कों पे ढले साये' की प्रति देते हुए
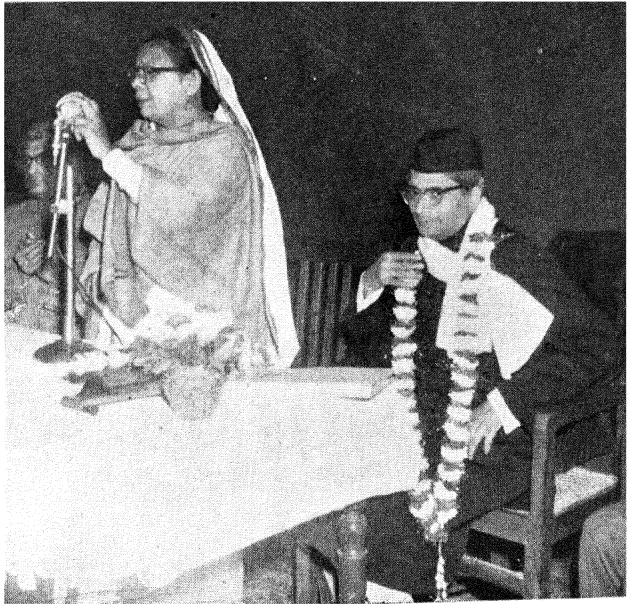
समारोह की अध्यक्षा श्रीमती महादेवी वर्मा : अश्क जी का अभिनन्दन

अभिनन्दन पत्र पढ़ते हुए श्री सुमित्रानन्दन पन्त

शुभाशंसा

आंशिक उसे लगा जीवन का, जड़-चेतन का बौद्धिक दर्शन ,
जड़-चेतन से परे अगोचर, जीवन के हैं मूल सनातन !

—पन्त

शिवपूजन सहाय

●●●

शीलवान

मनुष्य की परख उसकी विद्वत्ता से नहीं, उसके शील से होती है। शील ही विद्वत्ता या योग्यता को सनाथ और अलंकृत करता है। ईश्वर की कृपा से अश्क जी विद्वान और शीलवान दोनों हैं।

विद्वान बहुतेरे मिलते हैं, शीलवान बहुत कम। यदि किसी व्यक्ति में दोनों गुणों का मणिकांचन संयोग हो तो समझना चाहिए कि वह ईश्वर के सृष्टि-कौशल का अनूठा निदर्शन है।

अश्क जी की लोकप्रियता बढ़ाने वाला उनका शील ही है। वे जहाँ कहीं जाते है, अपने शील का जादू जगा देते हैं। उनसे जो कोई मिलता है, वह उनको अपने सहृदय के रूप में देखता है।

अश्क जी के व्यक्तित्व में साहित्य और कला परस्पर मिल कर अभिन्न हो गये हैं। दोनों के दर्शन उनकी लेखनी और वाणी में होते हैं। दोनों ने उनके व्यक्तित्व को सरस और आकर्षक बनाया है।

जब वे साहित्य की रचना करते हैं, तब उनकी बहुमुखी प्रतिभा सदा जनता के जीवन और मनोभाव की अनुगामिनी रहती है और जब वे कला का प्रदर्शन करते हैं, तब उनकी प्रभावशालिनी विनोदशीलता जन-मन को रस-मग्न कर देती है।

बातचीत करने की कला में वे ऐसे निपुण हैं कि उनकी बातें सुनने से कभी जी नहीं भरता। बातें करते समय उनका मुखड़ा बड़ा सुहावना लगता है, मानो दिल की रंगीनी चेहरे पर लाली बन कर छा जाती है।

उनके रचे हुए साहित्य में जो सरलता है, वह उनके हृदय की है। उस सरलता में बाल-स्वभाव के रस की तरलता है। इसीलिए उनके साहित्य में स्वाभाविक प्रवाह है और रुचिकर मिठास भी।

वे सफल कथाकार और नाटककार तो हैं ही, भावुक कवि और अभिनेता भी हैं। साहित्य-संसार में अनुभूतियों के जो उर्वर क्षेत्र हैं और अभिव्यक्तियों की जो नैसर्गिक प्रणालियाँ है, उन्हें अधिकृत करने में उन्होंने अभिनन्दनीय सिद्ध-हस्तता प्राप्त की है।

उनकी ढलती उम्र और उनकी चुलबुली तबीयत देख कर ऐसा भान होता है कि आज भी उनमें जवानी की मस्ती उबल रही है। जीवन के उतार में यौवन का चढ़ाव उनकी ज़िन्दादिली का परिचायक है।

उनकी दोस्तपरस्ती और मिलनसारी हर जगह अपनी अमिट छाप छोड़ती चलती है। विषाद जैसे उनकी घुट्टी में पड़ा ही नहीं। जिस मण्डली में रहते हैं, उसमें स्फटिक-स्वच्छ पहाड़ी झरने की तरह आनन्द की शीतल मधु-धारा बहा कर सब को तृप्त करते रहते हैं। उनकी मुस्कान से उनका वाग्विलास सुरभित प्रतीत होता है और उनके अट्टहास से उनका मस्तिष्क उन्मुक्त वातावरण में उल्लसित एवं प्रफुल्लित होता जान पड़ता है।

ईश्वर से यही प्रार्थना और कामना है कि भाव के साथ जहाँ कल्पना रसती रहती है, हृदय की उसी सघन अमराई की छँहियाँ में अश्क जी आजीवन विहरते रहें।

सुमित्रानन्दन पन्त

●●●

स्नेही

अश्क जी से मेरी पहली भेंट बम्बई में नरेन्द्र के यहाँ हुई थी। मैं उन दिनों मद्रास में था और जब-तब नरेन्द्र के स्नेह का उपभोग करने बम्बई आया-जाया करता था। पहली ही भेंट में अश्क जी ने इस प्रकार खुल कर बातें कीं कि मेरे मन का संकोच—एक अपरिचित के प्रति—एकदम जाता रहा और उनका ऊँचा स्वर, मधुर पंजाबी उच्चारण और अपनी ही बातों के प्रभाव से उठने वाले हँसी के ठहाके मन में गूँजने लगे। नगा सिर; घुँघराले, तेल से सिक्त बाल; रेशमी कुर्ता, धोती और लम्बा छरहरा कद—उनके स्वभाव की मस्ती और आँखों की चमक पर रीझ कर मन ने चुपचाप उनके लिए अपने भीतर स्थान बनने दिया—दो-तीन बार नरेन्द्र ही के घर पर बम्बई मे उनसे फिर मुलाकात हुई और उन्होंने फ़िल्म वालों के और बम्बई के गवैयों के जो रोचक किस्से सुनाये, उससे उनका उन्मुक्त व्यक्तित्व स्मृतिपट पर अंकित हो गया। तब वे सम्भवतः बीमार थे और बीच-बीच में अपनी बीमारी और कौशल्या जी की परेशानी की चर्चा करना भी नहीं भूलते थे। इसके बाद मेरी मुलाकात उनसे कई साल बाद इलाहाबाद में हुई, जब वे हेस्टिंग्ज़ रोड पर श्रीपतराय जी के साथ ठहरे थे और तदनन्तर दो-एक बार सम्भवतः रसूलाबाद, साहित्यकार संसद, में भी, जहाँ वे प्रयाग में जल्दी मकान न मिलने के कारण, कुछ समय के लिए रहे थे।

पर अश्क जी के सुखद परिचय ने आत्मीयता अथवा मैत्री का रूप सम्भवतः तब धारण किया जब वे एक बार सन् ४९ या ५० की गर्मियों में दो-एक महीने के

लिए अल्मोड़ा आये थे। अपने-जैसे संकोचशील स्वभाव के व्यक्ति से आत्मीयता पैदा करने का श्रेय मैं दूसरों को ही दिया करता हूँ और श्री कौशल्या जी और विशेषकर अश्क जी में ऐसे अनेक मानवीय गुण हैं—उनकी मुक्त मिलनसार प्रकृति: हँसमुख आकृति, दूसरों को अपनाने तथा अपना बनाने की भावना, सभ्य-संयत बर्ताव, बातें करने का शिष्ट, परिहासप्रिय ढंग इत्यादि—जिससे इन्सान सहज ही उनकी ओर आकृष्ट हो जाता है। अश्क-दम्पति का निश्छल स्नेह सद्भाव पाकर मुझे प्रसन्नता होती है और उनकी मैत्री का मेरे मन में आदर है, मैं उसे मूल्यवान मानता हूँ। उनके प्रयाग में आ कर बसने को मैं प्रयाग के साहित्यिक संगम के लिए एक महत्वपूर्ण घटना समझता हूँ। वे प्रथम श्रेणी के उच्च कलाकार हैं और मध्य वर्ग—विशेषतः निम्न मध्य वर्ग—के जीवन का चित्रण करने में पारंगत हैं। मानव-स्वभाव का उनका गहन अध्ययन तथा अनुभव है। वे अत्यन्त परिश्रमशील, बहुमुखी प्रतिभावान व्यक्ति हैं और कला की अपूर्व परख रखते हैं। उनके गम्भीर व्यवहार-ज्ञान के साथ उनका बच्चों का-सा चंचल, भोला, दूसरों को अकारण छेड़ कर रस लेने का स्वभाव उनकी प्रिय विशेषता है।

अर्धशती पार कर लेने पर साहित्य के ऐसे अनन्यतम, अथक पुजारी का हिन्दी-जगत की ओर से, अपने-आप, जो अकृत्रिम अभिनन्दन हुआ, उसका मैं हृदय से स्वागत करता हूँ। आने वाले वर्षों में भी उनके प्रौढ़, निरुपम कृतित्व से हिन्दी का मस्तक ऊँचा होता रहेगा—ऐसे शुद्ध साहित्य-स्रष्टा को मैं अपने समस्त हृदय के स्नेह तथा समादर के साथ, इस अवसर पर, इन थोड़े से संस्मरणात्मक शब्दों द्वारा, अपनी उन्मुक्त श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

मुलाकातें भी होती हैं....

न मतलब सुनने वालों से, न परवा रंगे-महफ़िल की,
जहाँ बैठे वहीं हम ने कहानी छेड़ दी दिल की।

—साकिब

राजेन्द्रसिंह बेदी

●●●

तुर्के-ग़मज़ाज़न

सन् १९३६ की बात है, मुंशी प्रेमचन्द के देहान्त के सिलसिले में लाहौर के स्थानीय होटल में शोक-सभा हुई।

मेरे साहित्यिक जीवन की शुरुआत ही थी। मुश्किल से दस-बारह कहानियाँ लिखी होंगी, जो साधारण कठिनाई के बाद धीरे-धीरे पत्र-पत्रिकाओं में स्थान पाने लगी। हम नये लिखने वालों की खेप-की-खेप मुंशी जी से प्रभावित थी, इसलिए हम सब को लग रहा था, जैसे हमारा आध्यात्मिक पिता हम से बिछुड़ गया है। इसी कारण अपना ग़म दूसरों को दिखाने और दूसरों के ग़म को अपना बनाने के लिए मैं भी सभा में पहुँच गया। एक ख़याल यह भी था कि प्रेमचन्द के उचित और असली उत्तराधिकारियों से मिलेंगे, जिनसे अप्रत्यक्ष परिचय तो था, लेकिन साक्षात्कार न हुआ था।

सभा का कार्यक्रम आरम्भ हुआ। कम ही ऐसा होता है कि अच्छा लिखने वाले अच्छा बोल भी पायें। कुछ लोगों ने बहुत ही अच्छे भाषण दिये। इस सभा में ऐसे भी थे, जिन्होंने छाती पीट-पीट कर मुहर्रम का समाँ बाँध दिया। ये सब 'परचा बेचने वाले' थे, जिन्हें यों ख़ाक-ख़ून में लथ-पथ देख कर मुझे शरत् चटर्जी के देवदास की याद आ गयी, जो अपने पिता की मृत्यु पर घर के कोने से लगा रस्मी क्रन्दन करने वालों को अपने दुनियादार भाई की ओर यह कह कर भेज देता है—"उधर!"

सभा में कुछ लोग 'इधर' वाले भी थे। इनमें से एक उठा—साँवले रंग का—

दीवार के साथ आड़ी लगी स्लेट का-सा माथा; तुषारकान्ति घोष के-से बाल; आँखों पर हैरल्ड लाइड का-सा चश्मा; धोती-कुर्ते में, ऊपर मस्जिद नीचे ठाकुरद्वारा; थका-थका; अनमना; उदास; मरने से बरसों पहले मरा हुआ . . .

"मैं कुछ कहना चाहता हूँ।" उसने अपनी डुड्डी उँगलियों को अँगूठे के साथ लगाते, हाथ सभापति महोदय की ओर बढ़ाते हुए कहा।

सभापति ने इजाज़त दी भी न थी कि वह मेज़ पर पहुँच कर एक कर्कश स्वर और भोंडे लहजे में शुरू भी हो गया। लगता था जैसे पंजाबी हथौड़े से हिन्दी और उर्दू के कूबड़ निकाल रहा है—अभी लन्दन के लिए रवाना हुआ, कलकत्ता पहुँच गया; फिर लोगों ने देखा—यह तो कोयम्बटूर में घूम रहा है; नहीं दिल्ली में है; तभी किसी काल्पनिक जेट पर बैठ कर मंज़िल पर पहुँच भी गया। भाषण क्या था, एक ऐसे आदमी की चाल थी, जो ग़म के मारे ज़्यादा पी गया हो। लेकिन उसे किसी की परवाह न थी। वह 'नाला पाबन्दे नय नहीं है'[1] के-से अन्दाज़ में बोलता जा रहा था और लगता था, मेज़ की एक ओर खड़ा, वह सारे जगत का पिता है और इर्द-गिर्द के सब लोग उसके बच्चे-बाले है, जो खेल रहे है और उन्हें खेलने देना चाहिए . . .

इन सब बातों के बावजूद, उसके भाषण में एक असर था, क्योंकि वह सीधा उसके दिल से निकला था, जो व्याकरण के नियमों को नहीं माना करता। उसमें एक दर्द था और एक कुलबुलाहट थी, जो केवल तबाहों और तब्बाओं (प्रतिभा-शालियों) के हिस्से में आती है और जिसका तर्कहीन तर्क 'परचा बेचने वालों' को चकित कर दिया करता है। वह उन पत्रों का उल्लेख कर रहा था, जो मुंशी जी ने अपनी ज़िन्दगी में उसे लिखे थे, जिनमें 'पथ-प्रदर्शन' या 'समस्याओं के समाधान' की अपेक्षा अपने सहधर्मी से भावनात्मक अपनापे का आभास मिलता था और जो पत्र शोक के उस क्षण में महज़ पत्रों से बढ़ कर अब एक साहित्यिक निधि हो गये थे।

यह अश्क था। इससे पहले मेरी अश्क से मुलाकात तक न हुई थी। मैंने उसको 'सुदर्शन' की मासिक पत्रिका 'चन्दन' में पढ़ा ज़रूर था, लेकिन देखा न था। यहाँ तक कि उसकी कोई तस्वीर भी मेरी नज़र से न गुज़री थी। जो लोग अश्क को जानते हैं, वे कहेंगे कि यह हो ही नहीं सकता, अश्क तो लेखन और सम्पादन के साथ उसके प्रचार का भी क़ायल है और उस लिखने वाले को नम्बरी मूर्ख और घामड़ समझता है, जो सिर्फ़ लिखना ही जानता हो। बाद में मैंने भी देखा—अश्क निहायत

---

१. फ़रियाद की कोई लय नहीं है।
नाला पाबन्दे – नय नहीं है।। —ग़ालिब

बेतकल्लुफ़ी से अपनी कोई उल्टी-सीधी तस्वीर किसी सम्पादक या प्रकाशक के गले मढ़ देता है, जो उस बेचारे को छापनी ही पड़ती है। और क्या तस्वीर होती है! सामना एक चौथाई, तीन चौथाई या प्रोफ़ाइल, जिसमें ज़ुल्फ़ें कन्धों पर बिखरी हुई हैं या अगर ख़ूबसूरत शेव बनी है तो बालों को बड़ी सफ़ाई से कुण्डलों में ढाल रखा है। कुछ देर देखने के बाद विश्वास हो जाता है—मर्द है...अभी नंगा है, अभी ढाँपे हुए...एक मिनट, एक परचा, एक किताब...पहले सिर पर गांधी टोपी थी तो अब फ़ेल्ट हैट है, जो सिर पर जान-बूझ कर टेढ़ी रखी है और बाँका लग रहा है। उस पर सितम यह है कि खुद भी मुस्करा रहा है...या सिर पर क़राकुली है और आँखें अध-खुली—'तुर्के-ग़मज़ाजन'[1] मालूम हो रहा है, जो उसके हज़ारों पाठकों की आँखों को खल रहा है, इस पर भी दिल में घर किये हुए है। 'हाफ़िज़' के शब्दों मे दिल के एकान्त कक्ष में आराम कर रहा है और दुनिया को गुमान है कि महफ़िल में बैठा है[2]...मैं जो दाढ़ी को सिर्फ़ किसी दुश्मन के चेहरे पर देखना चाहता हूँ और इस डर के मारे आइना भी नही देखता, अश्क के चेहरे पर फ्रांसीसी ढंग की बकरोटी देख रहा हूँ...उसके बाद किसी तस्वीर में अश्क की शक्ल क्या होगी, यह किसी को मालूम नहीं, स्वयं अश्क को भी मालूम नहीं, क्योंकि पतले-छरहरे तन, तलवार की धार के-से मन, चाणक्य की-सी बुद्धि और दूर पहुँचने वाली निगाहों के बावजूद अश्क उसी क्षण का पूरा आदर करता है, जिसे वह उस वक्त जी रहा हो। वह महज़ इन्द्रियों ही से ज़िन्दगी का रस नहीं लेता, उसमें उसकी चेतना भी पूरे तौर पर शामिल रहती है। लगता है कि हाल और कील-ओ-क़ाल (वर्तमान और तत्सम्बन्धी तर्क-वितर्क) के सिलसिले में यदि कृष्णामूर्ति को किसी ने ग़लत पढ़ा है तो अश्क ने! हो सकता है किसी अगली तस्वीर में वह जोगिया बाना पहने हुए हो और एक हाथ से देखने वाले की ओर 'छू' भी कर रहा हो। बात यही पर

---

१. ऐ तुर्के ग़मजाजन कि मुक़ाबिल नशिस्ताई।
दर दीदा अम-ख़लीदा-ो दर दिल-नशिस्ताई॥

२. आराम करदाई ब-निहां-ख़ाना-ए-दिलम।
ख़लक़े बर्दी गुमां कि ब-महफ़िल नशिस्ताई॥
ऐ तुर्के ग़मजाजन (अदाओं वाले) तू मेरे सामने बैठा है।
मेरी आँखों में खुबा जा रहा है और दिल में घर किये हुए है॥
तू अन्तर्गुहा में आराम कर रहा है और दुनिया को
गुमान है कि तू महफ़िल में बैठा है॥

खत्म नहीं हो जाती। वह तस्वीर ऐसे उपन्यास में छप भी सकती है जो सर-ता-सर फूल की पत्ती हो और जिससे हीरे का जिगर भी कट सके'[1]—

जाने कोई आदिम मैत्री अथवा अविच्छिन्न सम्बन्ध होने वाला था कि अश्क से परिचित हुए बिना मुझे विश्वास हो गया कि यह शख़्स अश्क के सिवा और कोई नहीं हो सकता। उस दौर के सब लिखने वालों में जो आदमी मुंशी जी के करीब था और उनसे अलग था, वह केवल अश्क था। मुंशी जी ने अपनी ज़िन्दगी में दूसरों को भी ख़त लिखे होंगे, लेकिन जिन ख़तों का हवाला अश्क दे रहा था, वे एक सहधर्मिता की ओर संकेत कर रहे थे . . .

सभा समाप्त हुई। मैं उन दिनों डाकख़ाने में क्लर्क की हैसियत से काम कर रहा था, इसलिए जनता की शिकायतों से बहुत घबराता था। चुनांचे, आहिस्ता-आहिस्ता, डरते-डरते मैं अश्क के पास पहुँच गया। वह एक एडीटर साहब के साथ बहस में उलझा हुआ था। बहस की ख़ातिर बहस करना अश्क का आज तक का शेवा है। यह बात नहीं कि जो बात वह कहना चाहता है, उसमें वज़न या दलील नहीं होती। सब कुछ होता है और नही भी होता, लेकिन अश्क तो इसमें एक ख़ास किस्म का मच्छन्दरी मज़ा लेता है और इस सम्बन्ध में तर्क-वितर्क और वाद-विवाद के सभी अस्त्र प्रयोग करता है। एक आदमी अच्छी-भली तर्कपूर्ण बातें कर रहा है, लेकिन अश्क उसे यह कह कर कि हम शायद दो भिन्न चीज़ों की बात कर रहे है, एक ऐसी सोच, ऐसी अचकचाहट में डाल देता है कि बहस करने वाले की रेल साफ़ पटरी पर से उतर जाती है और फिर आप जानते हैं कि एक बार रेल पटरी पर से उतर जाय तो क्या होता है। विरोधी तिलमिला कर रह जाता है और यदि वह चतुर हो और ग़लत बहस न होने दे तो अश्क आपको ठहाका मार कर हँसता उसे यह कहता हुआ मिलेगा—'तुम तो यार सीरियस हो गये' . . . अभी वह पूरे तौर पर समझ भी नहीं सका कि अश्क उसका हाथ थाम कर बड़े प्यार से कह रहा है—'असल में जो बात तुम कर रहे हो, वही मैं भी कह रहा हूँ . . .' इसके बाद और क्या हो सकता है, सिवा इस बात के कि दूसरा आँखें झपकता रह जाय, अपने-आपको मूर्ख समझने लगे या फिर नाराज़ हो जाय कि मुझसे ख़ाह-म-ख़ाह ज़बान की कसरत करायी गयी। परिणाम दोनों सूरतों में वही होता है।

---

१. **फूल की पत्ती से कट सकता है, हीरे का जिगर।**
मर्दे-नादाँ पर कलामे-नर्म-ो-नाज़ुक बे-असर॥

—इक़बाल

कोई नाराज़ हो जाय तो मैदान अश्क के हाथ में, न हो तो अश्क के हाथ में—चित भी अश्क की और पट भी अश्क की. . .जब मैं धीरे-धीरे अश्क के पास पहुँचा तो बहस करने वाले एडीटर साहब का बिगुल बज चुका था। अब मेरी बारी थी। मैंने आगे बढ़ते हुए कहा—

"अश्क साहब—!"

एकदम घूम कर अश्क ने अपनी नज़रें मुझ पर गाड़ दीं और मेरे आर-पार देखने लगा। यदि किसी कैमरे में आम रोशनी की बजाय एक्स-रे का प्रकाश हो तो बड़े-से-बड़ा रोमानी दृश्य भी क्या होगा? यही ना कि खोपड़ी से खोपड़ी टकरा रही है, एक कंकाल की बाँह उठी और दूसरे कंकाल के गले में धँस गयी और मालूम हुआ कि अपर-सेक्स को आलिंगन के लिए नहीं, गला घोंटने के लिए अपनी ओर खीचा जा रहा है और फिर—गला भी कहाँ है? . . .मैंने कहा, "बड़ी मुद्दत से मेरी तमन्ना थी अश्क साहब. . ."

"आप. . .?" और फिर अगले ही क्षण वह कह रहा था, "तुम कहीं राजेन्द्र-सिंह बेदी तो नहीं?"

एकाएक जैसे मुझे अपना नाम भूल गया। कम-से-कम यह ज़रूर लगा कि राजेन्द्रसिंह बेदी कोई दूसरा आदमी है, जिसे मैं जानता हूँ। तभी अपने-आप में आते हुए मैंने कहा—"हाँ अश्क साहब, मेरा ही नाम राजेन्द्रसिंह बेदी है!"

आदमी का अहं कहाँ तक पहुँचता है—दरअसल यह दुनिया कितना बड़ा जंगल है, कितना बड़ा मरु, जिसमें वह खोया-खोया फिरता है और हर दम यही चाहता है कि कोई उसे पहचान ले, कोई उसका नाम पुकार ले। और जब ऐसा हो जाय तो उसे कितनी बड़ी ख़ुशी होती है। एक बच्चा तो धीरे-धीरे अपना नाम सीखता है और अपने व्यक्तित्व को दूसरों से अलग कर के देखने लगता है, लेकिन बड़ा होकर, अपने मजाज़ी[१] नाम को पा लेने के बाद, इस हक़ीक़ी[२] नाम के लिए वह कितनी दौड़-धूप करता है और पहचाने जाने के बाद वह उसे भगवान के नाम से अलग कर के नहीं देख सकता। फिर उसमें विलीन हो जाने की आकांक्षा के बावजूद अपना एक अलग व्यक्तित्व भी रखना चाहता है—यदि मैंने अश्क को मिले बिना उसे पहचान लिया तो उसने भी एक ही नज़र में मुझे जान लिया. . .फिर मैं एक छोटा-सा लेखक और इतना बड़ा साहित्यिक मुझे मेरे नाम से जानता है। . . . यही नहीं, उसने मेरी उन एक-दो कहानियों का भी उल्लेख किया, जो उन दिनों

---

१. लौकिक।

२. अलौकिक, यथार्थ।

थोड़े-थोड़े समय के अंतर से लाहौर की पत्रिकाओं में छपी थीं. . .वह उनकी प्रशंसा भी कर रहा था. . .क्या यह सच है ? . . .इस विशाल मरु में मुझ-जैसे अक्षम, डाकखाने के एक बाबू के लिए भी जगह है ? . . .

जगह थी या नहीं, इस वक़्त भी है या नहीं, इससे बहस नहीं, अश्क जिसे पसन्द करता है, उसे स्वीकारता भी है और नाम-धाम की इस दुनिया में उसके लिए स्थान बनाने का सचेत प्रयास भी करता है। यह बात है जो मैंने अश्क में पर्याप्त मात्रा में पायी है। आज जबकि मैं अपने पीछे अपने साहित्यिक जीवन के तीस वर्ष देखता हूँ, तो ग्लानि से अपनी गर्दन झुका लेता हूँ—मैंने तो किसी नये लिखने वाले की मदद नहीं की। मैं भ: अश्क की तरह उसकी प्रशंसा कर सकता था, आलोचना कर सकता था और उसके लिए रास्ते आसान कर सकता था। लेकिन मैं मैं हूँ और अश्क अश्क ! आज भी जब मैं कभी अश्क से मिलता हूँ और उसे किसी नये लिखने वाले का नाम लेते हुए पाता हूँ तो मुझे अचम्भा होता है, वह मुहब्बत, जो इन्सान चौबीस घण्टे अपने साथ करता है, नफ़रत में बदल जाती है और चूँकि आदमी हर हालत में अपने-आप से प्यार करना चाहता है, इसलिए अश्क से आदमी चिढ़ जाता है। . . .मेरी इस कमज़ोरी का क्या कारण है ? शायद मेरे लिए उसे समझाना मुश्किल हो और किसी के लिए समझना मुश्किल ! आसानी के लिए सिर्फ़ इतना कहूँगा. . .मुझ में शुरू ही से एक हीन-भाव-सा रहा है, बावजूद कोशिश के, दूसरों की प्रशंसा-स्तुति के, मैं उसे झटक नहीं सका। जैसे मुझे अपने-आप पर विश्वास नहीं. . .क्यों विश्वास नहीं ? इसे जानने के लिए किसी को मेरी ज़िन्दगी जीनी पड़ेगी और अश्क को क्यों विश्वास है, इसके लिए अश्क की ज़िन्दगी जीनी पड़ेगी।

अगले ही क्षण हम दो मित्रों की तरह बातें कर रहे थे, जैसे वर्षों से एक-दूसरे को जानते हों. . .शायद गर्मियों का मौसम था और आसमान पर एक ग़ुबार-सा छाया हुआ था—नीचे की धूल और गर्द थी जो कच्चे इलाक़ों से, बेशुमार घोड़ों की टापों या बे-लगाम हवा के साथ ऊपर चली गयी थी और अब कण-कण नीचे उतर रही थी। हम पैदल चल रहे थे। अश्क बातें कर रहा था और मैं सुन रहा था। वह बहुत बातें करना चाहता था। ऐसा क्यों था, इसका कारण मुझे बाद में मालूम हुआ। उस समय हमारी बातें एक नये-ब्याहे जोड़े की-सी बातें थीं, जो रात भर एक-दूसरे को कुछ कहते-सुनते रहते हैं और अगले दिन अपनी ही बातों का तात्पर्य न पा कर हैरान होते हैं। पैदल चलते बातें करते हुए, हम अनारकली के निकट पहुँच गये, जहाँ अश्क ने मुझे अपना घर दिखाया।

अश्क का घर अनारकली बाज़ार से ज़रा हट कर, पीछे की एक घनी बसी

हुई गली में था, जिसमें प्राय: स्त्रियाँ आमने-सामने, अपने-अपने मकान से, एक-दूसरी के साथ बातें करती सुनायी देती हैं, "भाबो ! . . .आज तेरे घर क्या पका है ?" और वह उत्तर में कहती है— "आज कुछ नहीं पका, ये बाहर खाना खा रहे हैं न, तू दाल की एक कटोरी भेज देना।" . . .और कहीं आप अपने ध्यान में जा रहे हों तो ऊपर से कूड़ा गिरता है और आपकी तबीयत तक साफ़ कर देता है। गली में इतनी भी जगह नहीं कि कोई उछल कर एक ओर हो जाय। फिर आमने-सामने की खिड़कियाँ। कोई लड़का खिड़की में खड़ा, सामने की खिड़की में झुकी हुई लड़की का हाथ पकड़ कर, उसकी हथेली खुजा देता है, जो लाहौर का एक आम दृश्य है और जिससे पता चलता है कि इश्क के मामले में लाहौर शहर से अच्छी जगह दुनिया भर में और कहीं नहीं ! . . .और इसी गली में अश्क रहता था। यद्यपि 'अश्क' और 'इश्क' के उच्चारण में अंतर होता है, लेकिन लगता है, बात घूम-फिर कर वहीं पहुँचती है। कौन जाने कब इश्क अश्क में बदल जाय या इसके उलट हो जाय। . . .अश्क का घर दो-मंज़िला था, जिसकी ऊपर की मंज़िल में अश्क के दन्दानसाज़ भाई डाक्टर शर्मा बीवी-बच्चों के साथ रहते थे ओर नीचे अश्क और उसका पुस्तकालय—काम करने की जगह—जिस पर पहुँचने के लिए 'पतले के स्वर्ग' और 'मोटे के नरक' किस्म की सीढ़ियों पर से हो कर जाना पड़ता था—एक रस्सा था, जो लोगों के हाथ लग-लग कर मैला हो चुका था और जिसे पकड़ कर न चढ़ने पर लुढ़क जाने का भय था. . .इसी तंग-अँधेरे मकान में अश्क रहता था। यहीं वह किसी चित्रकार की विशी-वाशी (Wishy Washy) शैली में लिखता, काटता, फिर लिखता—पहली रेखाओं को मिटा कर दूसरी रेखाएँ बनाने लगता। लिखना उसकी आदत थी और इबादत भी, जो ज़िन्दगी से परे थी तो मौत से भी परे !

अश्क छोटी उम्र में ही अपनी रोज़ी कमाने लगा। उसके पिता स्टेशन मास्टर थे, जिन्हें शराब पीने और घर से बेपरवाह रहने की आदत थी। वे घर की ओर रुख़ भी करते तो डाँट-फटकार और मार-पीट के लिए—बीवी से लड़ रहे हैं, उस पर गरज रहे हैं, या कि बच्चे को उल्टा लटका कर उसे बेदर्दी से पीट रहे हैं। उन की शक्ल जाबिर थी और अक्ल भी जाबिर। जो फ़ैसला हो गया, अटल है। उस निर्मम व्यक्तित्व वाले पुरुष के साथ गाय-जैसी प्रकृति वाली स्त्री का विवाह हो गया, जो अश्क की माँ थी। अपने पति के अत्याचारों ने जिसकी आकृति पर दुख की स्थायी रेखाएँ बना दी थीं। अश्क की रचनाओं में गृह-कलह के साथ-साथ माता-पिता के विरोधी चरित्र भी आते हैं। और उस ज़बरदस्त शख़्सीयत

वाले बाप के कारण ही था कि एक दिन अश्क ने ज़िन्दगी में अपनी जगह पाने के लिए पिता की छत्र-छाया छोड़ दी। पुत्र ने चुनौती दी, पिता ने स्वीकार कर ली और दोनों जीत गये। क्योंकि ज़िन्दगी की विरोधी हवाओं और आँधियों से टक्कर लेने वाला, स्वयं क्षय-ऐसे राज-रोग में ग्रसित हो कर मौत का मुँह चिढ़ाता हुआ, बच कर निकल आने वाला, घोर विपन्नता और उस पर मित्रों और सम्बन्धियों की बेरुख़ी के बावजूद, साहित्यिक गुटबन्दियों और ईर्ष्या-द्वेष से पटे हुए शहर इलाहाबाद में लेखन-प्रकाशन के काम को सुदृढ़ता से चला ले जाने वाला एक ऐसे ही बाप का बेटा हो सकता था।

अश्क के माता-पिता छह बेटे इस संसार में लाये (लाये तो सात थे, पर एक शैशव ही में चल बसा था) और सब-के-सब नर। जालन्धर के मर्दुम-ख़ेज़ ख़ित्ते (नर-रत्न-प्रसू भूमि) मे जिनका पालन-पोषण हुआ। जहाँ का हर आदमी शायर है या गायक; जहाँ हर बरस हरबल्लभ का मेला लगता है; जहाँ पूरे हिन्दुस्तान से शास्त्रीय संगीत के विशारद खिंचे चले आते हैं और गाते हुए डरते हैं, क्योंकि उस शहर का बच्चा-बच्चा 'बिद्याबान' है, जो सीधा कलेजे में लगता है। जानता है, कहाँ कोई सुर ग़लत लग गया। फिर वह लिहाज़ थोड़े ही करेगा ? जहाँ कहीं भी कोने में बैठा है, वहीं से पुकार उठेगा और वर्षों अपने अथवा अपने गुरु के सामने घुटने टेकने और संगीत सीखने की दावत देगा। सर्दियों की रात में अलाव के गिर्द बैठ कर वह बैतबाज़ी करेगा, जो सुबह तक चलेगी।...उस शहर का हर आदमी अपने-आपको प्रतिभाशाली समझता है और यदि उसकी प्रतिभा को स्वीकार न किया जाय तो एक हाथ है, जो सीधा न मानने वाले की पगड़ी की ओर आता है, फिर गालियों और मार-पीट तक नौबत आ सकती है...ये छहों भाई उस शहर की उपज थे और यह आश्चर्य की बात नहीं कि इनमें से हरेक अपनी जगह एक माना हुआ व्यक्ति था—ऐसे व्यक्तित्व का स्वामी, जिससे वही इनकार करे, जिसकी शामत आयी हो। मालूम होता है घूँसा भी दलील का एक हिस्सा है। यदि किसी कारण वह घूँसा न तान सके तो फिर यों ही शोर मचा रहा है। मकान से 'मर गया, मार दिया' की आवाज़ें आ रही हैं और लोग इस कान से सुन कर उस कान से निकाल देते हैं। एक दिन की बात हो तो कोई कुछ करे भी। हर रोज़ इस मकान से कोई-न-कोई गरज सुनायी देती है। छह-के-छह शेर। कोई बड़ा अपने वज़न से दूसरे को दबा ले, पीट डाले, लेकिन छोटा भी गरजने से बाज़ नहीं आ सकता। कुछ नहीं तो घायल हो कर ही चिल्ला रहा है, शोर मचा रहा है। शोर के बिना कोई बात हो ही नहीं सकती। चारों ओर एक हड़बोंग-सी मची है। दो इधर आ रहे हैं, तीन उधर जा रहे हैं। कछार से निकल रहे हैं, कछार में दाख़िल हो रहे

अश्क अपनी पहली पत्नी शीला देवी के साथ
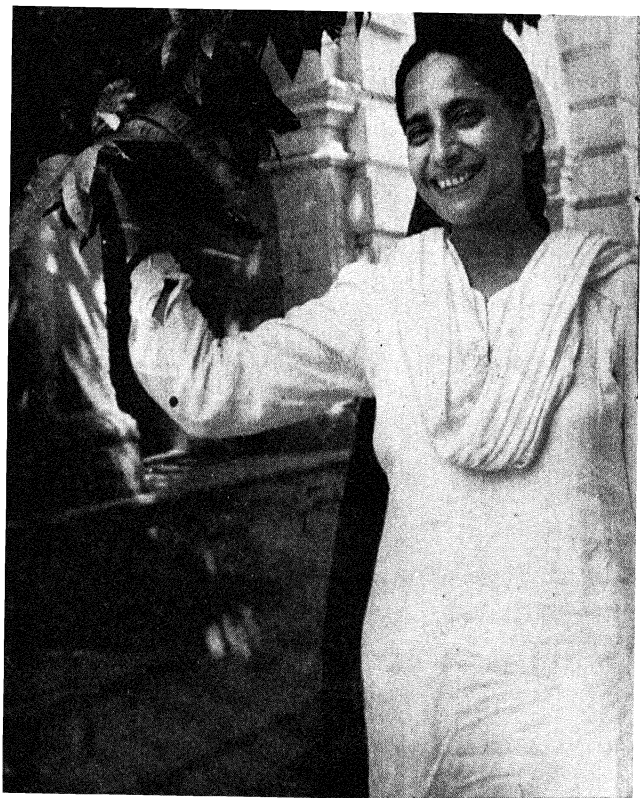
कौशल्या (१९४८)
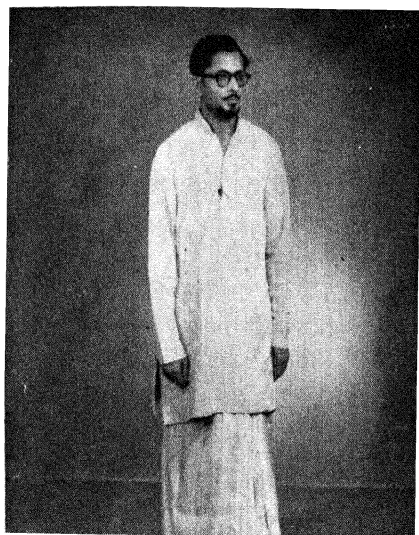
ये भी अश्क हैं

हैं। खून बह रहा है, मरहम-पट्टी हो रही है—इसलिए मारा जा रहा है कि मार क्यों खायी ? और फिर सब की गरज, एक और पाटदार आवाज़, एक और बड़ी गरज में दब जाती है—"चुप !"—यह पिता जी की आवाज़ है—एक शेर बब्बर की गरज, जिसे सुन कर पूरे जंगल में ख़ामोशी छा जाती है। इस गिरि के बेले में कोई लोमड़ी नहीं, एक भी बहन नहीं (हुई, पर बची नहीं)। गाय माँ काँपती रह जाती है, जबकि पिता सामने बोतल रख कर बैठ जाते हैं। भूल करते हैं, लेकिन ब्राह्मण होने के नाते भूल बख़्शवाना भी जानते हैं। गा रहे हैं—'शामाजी मेरे अवगुन चित न धरो!'

अश्क के पिता को अपने ब्राह्मण होने पर नाज़ था। वे उस परशुराम की सन्तान थे, जिसने हाथ में कुल्हाड़ा ले कर इक्कीस बार क्षत्रियों का नाश किया था। क्षत्री, लड़ना और मारना-मरना जिनका पेशा था और जो किसी के सामने न दबे, आज भी परशुराम की इस सन्तान से दबते हैं। लगता है अश्क के पिता की शराबनोशी एक-दो बच्चों के बाद और भी बढ़ गयी—अच्छे-भले सुरेन्द्रनाथ, उपेन्द्रनाथ के-से नाम रखते हुए वे सीधे परशुराम तक पहुँच गये, जो इन छह भाइयों में तीसरा था।... इसका कारण यह था कि वे जालन्धर के उस मुहल्ले मे रहते थे, जहाँ क्षत्रियों (खत्रियों) के साथ ब्राह्मणों की हमेशा से ठनी रहती थी। साल भर पहले मुहल्ले के क्षत्रियों ने अश्क के पिता की अनुपस्थिति में उनके पागल चचा को निर्दयता से पीटा था, जबकि अश्क की माँ और परदादी साँस रोके हुए देखती रह गयी थीं। तभी से एक संकल्प था जो अश्क की प्रकट कमज़ोर और गाय माँ के दिल में जाग उठा था और उस संकल्प के कारण ही नवजात शिशु का नाम परशुराम रखा गया था। बचपन ही से उस बच्चे से कहा गया—'अरे! तू...परशुराम हो कर रोता है, जिसने क्षत्रियों के कुल का नाश कर दिया और आँख तक न झपकी।'...और बच्चा रोते-रोते चुप हो जाता...और सोचने लगता, बड़ा हो कर वह सब क्षत्रियों का नाश कर देगा...चौथे बेटे का नाम अश्क के पिता ने इन्द्रजीत रखा—ब्राह्मण रावण का सुपुत्र, देवताओं के राजा इन्द्र को ज़ेर करने वाला, क्षत्री लक्ष्मण को शक्ति-बाण मार कर उसे मूर्छित करने वाला...अश्क के माता-पिता का बस चलता तो वे पूरी रामायण नये सिरे से लिखते, जिसमें यह प्रमाणित होता कि ब्राह्मण रावण नायक था और क्षत्री रामचन्द्र खल-नायक!

अश्क की माता के बारे में ज्योतिषियों ने कहा था कि वह 'सातपूती' है, अव्वल तो उसके बेटी हो नहीं सकती, होगी भी तो बचेगी नहीं, कन्यादान का सुख उसके भाग्य में नहीं। चुनांचे यही हुआ। लड़के-ही-लड़के चले आये और ऐसी शिक्षा के सहारे एक-से-एक दबंग, एक-से-एक लड़ाका! दुनिया के इतिहास में पठानों की

प्रतिशोध-प्रियता ख्यात है, क्योंकि वे अपनी जायदाद की तरह अपनी लड़ाइयों को भी उत्तराधिकार के रूप में अपनी सन्तान को दे जाते हैं। लेकिन अश्क के माता-पिता उनसे किसी तरह कम नहीं थे। आखिर एक दिन आया कि उन भाइयों ने मुहल्ले के सारे क्षत्रियों को पीट-पीट कर अस्पताल भिजवा दिया। प्रकट है कि परशुराम इस युद्ध का नायक था। अकेले उसने शत्रुओं के परे-के-परे बिछा दिये। यद्यपि वह स्वयं भी घायल हुआ और कानूनी शिकंजे में भी फँस गया, लेकिन सब को प्रसन्नता इस बात की थी कि पागल दादा की आत्मा कहीं ऊपर आकाश में यह सब देख कर प्रसन्न हो रही होगी।

सो ये थे अश्क के नाटक 'छठा बेटा' और उसके वृहद उपन्यास 'गिरती दीवारें' के प्रमुख पात्र! अश्क इन भाइयों में दूसरा है...फिर घर में भाभियों का आगमन शुरू हुआ। शेरों के पास बकरियाँ बँधने लगीं। अब आप ही बताइए, वे क्या खातीं, क्या पीतीं? उस आपसी मार-धाड़, घर भर के हंगामे में वे खा-पी भी लेतीं तो क्या तन को लगता? अनारकली वाले मकान से पहले अश्क अपने बड़े भाई के साथ चंगड़ मुहल्ले के अत्यन्त सील-भरे, तंग और अँधेरे कमरे में रहता था, जिसमें ताज़ा हवा के बदले वे एक-दूसरे की साँसों पर जीते। इस 'हैरताबाद' में औरतों ने बहुत किया तो रो लिया नहीं तो :

घुट के मर जाऊँ, यह मर्ज़ी मेरे सैयाद की है

अश्क की बीवी—शीला—जब ब्याही आयी तो गेहुएँ रंग की एक गोल-मटोल लड़की थी, जो बात-बात पर हँसती थी। इस घर के वातावरण में उसका दम घुटने लगा। इस पर भी वह अपनी पहली फ़ुर्सत में खिलखिला उठती। लगता था, कोई बात भी उसकी हँसी को नही दबा सकती। मैं शीला से मिला तो नही, पर अश्क के लाहौर वाले कमरे में और बाद में इलाहाबाद में अश्क के बड़े लड़के उमेश के कमरे में शीला की तस्वीर ज़रूर देखी है, जिसमें वह हँस रही है। मौत भी उसकी हँसी को नही दबा सकी...अश्क उन दिनों बहुत व्यस्त रहता था। वह अपनी रचनाओं को टोह-टोह कर देख रहा था, उन्हें बाज़ार ले जा रहा था, यह देखने के लिए कि बिकती है कि नहीं। कुछ बिक सकी और कुछ नही। कुछ पैसे वसूल हुए, कुछ नहीं हुए; लेकिन उन्हीं रचनाओं के बल पर उसे उर्दू दैनिक 'भीष्म' और फिर 'बन्दे मातरम्' में सहायक सम्पादक की जगह मिल गयी। अवकाश के क्षणों में वह घोस्ट राइटिंग[1] (Ghost writing) किया करता—अश्क के लिखे हुए

---

१. दूसरे के नाम से लिखना।

हिदायतनामे लाखों की संख्या में बिके, लेकिन चन्द टिकलियों के सिवा उसके हाथ में कुछ नहीं आया। फिर एक और दुर्घटना हुई। अश्क के ससुर पागल हो गये, उसकी सास लाहौर आ कर एक सेठ के यहाँ चौका-बर्तन पर नौकरी करने लगी। दामाद के घर का तो वह पानी भी न पी सकती थी और अपने पति के निकट रहना चाहती थी। इससे अश्क और शीला की भावनाएँ घायल हो गयीं। अश्क ने निश्चय किया कि वह सामाजिक रूप से शीला को ऐसा पद और प्रतिष्ठा देगा, जिससे उसके दिल से हीन-भाव मिट जाय। उसने सबजजी के कम्पीटीशन में बैठने की ठानी।

अब वह वकालत पढ़ने लगा। दिन को साहित्यिक काम, कॉलेज की पढ़ाई, ट्यूशन और रात को अध्ययन-मनन। कोठे-कोठे जितनी-बड़ी पुस्तकें, लेकिन जिस मिट्टी से अश्क का ख़मीर उठाया गया था, जिस हड्डी से उसकी रीढ़ बनी थी, वह किसी भी परिश्रम से लोहा ले सकती थी। इसी बीच शीला ने उमेश—अश्क के सब से वड़े पुत्र को जन्म दिया। घर के वातावरण और ख़ुराक की कमी के कारण वह बीमार हो गयी और अभी अश्क ने एफ़० ई० एल० की परीक्षा भी न दी थी कि डाक्टरों ने यक्ष्मा का सन्देह प्रकट कर दिया। अश्क ने हार नहीं मानी। एफ़० ई० एल० उसने फ़र्स्ट डिवीज़न में पास किया। एल-एल० बी० में वह उसे लाहौर ले आया और वहाँ शहर से आठ मील दूर गुलाब देवी अस्पताल में उसे भरती करा दिया। अब वह एक ओर साहित्य-सृजन करता, दूसरी ओर कानून की पढ़ाई करता और तीसरी ओर हफ़्ते में दो-तीन बार मॉडल टाउन से भी परे अस्पताल में शीला से मिलने जाता। उसे वास्तव में विश्वास नहीं था कि नियति उस ठठोल को इस नीचता की सीमा तक ले जायगी। वह समझता था, शीला अच्छी हो जायगी, लेकिन इधर इतने श्रम, इतनी तपस्या से अश्क ने डिस्टिंक्शन से कानून की परीक्षा पास की, उधर शीला चल बसी। विधाता ने एक हाथ से दिया, दूसरे से सभी कुछ छीन लिया। अब ज़िन्दगी में कोई कायदा, कोई कानून न रहा। अश्क ने सबजजी का विचार छोड़ दिया। जिसके लिए वह जज बनना चाहता था, वह तो जा चुकी थी. . .उसने अत्यधिक दुख, अत्यधिक शोक, बेपनाह थकावट के आलम में अपनी कलम उठायी और साहित्य-सृजन में रत हो गया। क्योंकि यह साहित्य-सृजन ही था, जिसमें अपने-आपको ग़र्क़ कर देने से, वह अपने जीवन की उस महान दुर्घटना को किसी हद तक भूल सकता था. . .घर के झगड़े, परिस्थितियों की विकटता, समाज का ज़ुल्म ही था, जिसे अश्क ने अपने साहित्य की विषय-वस्तु बनाया—इस ज़माने में वह अपना उपन्यास 'गिरती दीवारें' लिखना शुरू कर चुका था, जिसे अश्क की अर्ध-जीवनी भी कहा जा सकता है और जो उसका सब से बड़ा कारनामा है। इसके साथ ही छोटी-छोटी कहानियाँ—कोंपल, गोखरू, संगदिल (पाषाण),

नन्हा, पिंजरा आदि भी उसने उन्हीं दिनों लिखीं, जिन पर उसकी असीम उदासी की स्पष्ट छाप है।

शायद अश्क मेरी इस बात की साक्षी दे कि उसने प्रेम केवल एक स्त्री से किया और वह शीला से। क्योंकि उस ज़माने में अपनी सारी चेतना के बावजूद, वह नहीं जानता था कि प्रेम होता क्या है। और न शीला ही जानती थी। वे दोनों जी रहे थे। कभी अपने लिए, कभी एक-दूसरे के लिए। और यह ऐसा प्रेम था, जिसकी हर अदा में अनायासता थी, जो किसी नाम का मोहताज था, न गुण का।... इसके बाद भी अश्क ने मुहब्बत की, लेकिन जुनून उसमें से ग़ायब हो चुका था। उसमें एक परिपक्वता आ चुकी थी, जिसकी वजह से वह अपनी दूसरी शादी के एक महीने बाद ही माया—अपनी दूसरी बीवी को छोड़ सका और कौशल्या—अपनी वर्तमान पत्नी से कह सका—जानेमन ! मैं ज़िन्दगी का सफ़र करते-करते थक गया हूँ। मुझ में जवानी की वह लपक नहीं रही। यदि तुम उसकी आशा रखती हो तो व्यर्थ है। मैं उस प्रेम के योग्य नहीं जो ज्वाला-सा लपकता है, वह प्यार मैं तुम्हें दे सकता हूँ, जो धीमी आँच पर पकता है और इसीलिए स्वादिष्ट होता है।

तो यों मुझे अपने घर ला कर अश्क ने मेरे साथ सैकड़ों ही बातें कर डालीं। अपना खाया, पिया—सब मेरे सामने उगल दिया। अनुभवी आदमी प्रायः अपना सब कुछ यों नहीं कह डालते और फिर वह भी उस आदमी से, जो उनसे पहली बार मिला हो। लेकिन अश्क मुझ से बहुत कुछ कहना चाहता था। यह तो अच्छा हुआ, मैं मिल गया, नहीं तो वह दीवारों से बातें करता, सड़क पर खड़े किसी बिजली के खम्भे से अपने दिल की दास्तान दोहरा देता...तब तक रात आधी से अधिक जा चुकी थी। ग़ुबार दब चुका था, इस पर भी आसमान कुछ साफ़ न था। कहीं-कहीं कोई सितारा आत्म-प्रदर्शन की धुन में धुन्ध, धुएँ और धूल के आवरण को चीरता-फाड़ता, अपना टिमटिमाता हुआ रूप दिखाने लगता। अश्क की बातें सुनते वक्त मैं कई बार हँसा, कई बार मेरी आँखों में आँसू भर आये।...अब मेरा मन ऊबने लगा था। कुछ इस बात का ख़याल भी था कि सतवन्त—मेरी पत्नी—घर में प्रतीक्षा कर रही होगी। जब तक पुरुष के सैलानी होने का विश्वास न हो जाय, हर स्त्री अपने पति के पीछे कुछ घोड़े दौड़ा देती है। उनमें से कुछ गधे निकल आते हैं, जिनमें से एक मेरा सम्बन्धी था, जो मुझे ढूँढ़ने के लिए भेजा गया था। अश्क मुझे कुछ दूर तक छोड़ने के लिए मकान के नीचे उतरा। वह दूर न जा सकता था, क्योंकि घर में आते ही उसने धोती-कुर्ते को बनियान और तहबन्द से बदल लिया था। लेकिन फिर बातों के नये शोशे छोड़ते हुए हम अनारकली के बड़े बाज़ार

से निकल कर बाइबल सोसाइटी के सामने चले आये और फिर वहाँ से होते हुए माल रोड पर. . . मेरे घर की तरफ़. . . गोलबाग़ पहुँच कर, जहाँ मेरा वह सम्बन्धी, जैसा कि बाद मे पता चला :

चिट्ठिए दर्द फ़िराक वालिए
लैजा, लैजा, सुनेहड़ा सोहने यार दा

गाता हुआ पास से गुज़र गया और हम बेफ़िक्री के आलम में एक बैंच पर बैठ गये. . . आहिस्ता-आहिस्ता मुझ में अपनी पत्नी के कारण एक घबराहट-सी पैदा हो रही थी। मैंने उठने की कोशिश की, लेकिन अश्क कविता सुना रहा था :

चल दोगी कुटिया सूनी कर
इसी घड़ी इस याम
युग-युग तक जलते रहने का
मुझे सौंप कर काम

और मैं उसकी प्रशंसा कर रहा था। मुझे कविता ज़रूर अच्छी लग रही थी, पर घर का ख़याल भी सता रहा था। अब हालत यह थी कि मैं तो कम्बल को छोड़ना चाहता था, पर कम्बल मुझे नहीं छोड़ रहा था। आख़िर मैंने जी कड़ा किया, लेकिन जो शब्द मेरे मुँह से निकले, उनकी हैसियत क्षमा-याचना से अधिक कुछ न थी। मैं उठा तो अश्क भी मेरे साथ उठ गया. . . बातें करता हुआ. . . वह मेरे घर के सामने खड़ा था।

बच्चे ने दरवाज़ा खोला और मैं जल्दी-जल्दी अन्दर गया। बैठक खोल कर बत्ती जलायी और अश्क को अन्दर बैठाया। इतनी गर्मी के बावजूद सतवन्त—मेरी बीवी—नीचे मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। वह एक आम क्लर्क की बीवी थी, जो दफ़्तर से छुट्टी के आधे घण्टे के अन्दर-अन्दर पति को अपने घुटने के पास बैठा हुआ देखना चाहती है और अब तो रात आधी से ज़्यादा गुज़र चुकी थी और 'बुरे-बुरे ख़याल मेरे मन में आ रहे थे।'. . . .

"कहाँ रहे इतनी रात तक ?" उसने मुझ से पूछा।

"जहन्नुम में।" मैंने कहा, "तुम ज़रा मेरे साथ बैठक में आओ। एक बहुत बड़ा साहित्यिक मुझ से मिलने आया है।"

"हाँ मगर—इस वक्त ?"

"हाँ. . . तुम आओ तो।"

और मैं सतवन्त का हाथ पकड़ उसे बैठक की ओर ले चला। उस वक्त तक सतवन्त साहित्यिकों को आदर के योग्य कोई चीज़ समझती थी। जल्दी-जल्दी एक-दो घूंट में उसने अपना गुस्सा पी लिया और अपने चेहरे को 'जैसे कुछ हुआ ही नहीं' के नख-शिख से सँवारते हुए मेरे पीछे बैठक में चली आयी और एक काले-कलूटे आदमी को, इस वेष में देख कर डर गयी। अश्क उस समय भाटी दरवाज़े का कोई ऐसा गुण्डा लग रहा था, जिससे लाहौर की सब स्त्रियाँ डरती थीं और जिसे सामने से आते देख कर सड़क छोड़ कर एक ओर खड़ी हो जाती थीं। मुझे सतवन्त का यह अन्दाज़ अच्छा न लगा। मैं कर ही क्या सकता था। मैंने पहले अश्क की ओर हाथ बढ़ाया—"उपेन्द्रनाथ अश्क।" और फिर पत्नी की ओर—"सतवन्त मेरी पत्नी।"

छूटते ही अश्क ने मेरी पत्नी का नाम पुकारा—"सतवन्त, बुरा मत मानना, मैं ऐसे ही चला आया हूँ।" और उसने अपनी बनियान और तहबन्द की ओर संकेत किया, "बात यह है मैं ज़रा मलंग आदमी हूँ। . . ."

और फिर ज़ोर से मेरे हाथ पर हाथ मारते हुए वह हँसा।—एक ऐसी हँसी, जिससे फेफड़े फट जायँ। एक चिड़िया, जिसने ऊपर कार्निस के पास घोंसला बना रखा था, फड़फड़ा उठी। सामने के घर की बत्ती जली और किसी ने बालकनी पर से झाँका . . . इससे पहले कि मेरी पत्नी कुछ कहती, अश्क उससे कह रहा था—"सतवन्त ! . . . बहुत भूख लगी है।" . . .

त्रिलोक तुलसी

●●●

एक मुलाकात जो हो न सकी

"उसने मुझे नावेल पर तीन हज़ार रुपये एडवांस भी दे दिये थे..."

पानी के गिलास की ओर बढ़ता हुआ मेरा हाथ थम गया और कान खड़े हो गये—यह कौन है, जिसे नावेल पर तीन हज़ार रुपये एडवांस मिल जाते हैं?

सितम्बर १९५४ का प्रथम सप्ताह—स्थान श्रीनगर, समय रात के साढ़े दस बजे।

जेहलम के सात पुलों में से प्रथम, अमीरा कदल के निकट एक छोटा-सा होटल और उसमें खाने का इन्तज़ार करते हुए हम दोनों—मैं और मेरा साथी। होटल में ग्राहकों की भीड़ काफ़ी छँट चुकी थी। दो-चार मेज़ें ही और थी जिन पर कि लोग खा-पी रहे थे। बिजली के मद्धिम प्रकाश में उनकी धुँधली आकृतियाँ ही दिखलायी देती थीं। होटल वालों ने अपनी सुविधा के लिए पतीलों के पास मोमबत्तियाँ जला रखी थीं। बात शायद अजीब-सी लगे, मगर उन दिनों श्रीनगर में होता यही था। बिजली का उत्पादन कम था और माँग कहीं अधिक। परिणाम-स्वरूप वोल्टेज बहुत हल्की पड़ती जाती थी और सौ वाट के बल्ब भी जलते हुए बस यों ही दिखलायी देते थे कि जल रहे हैं। उनके पास पड़ी हुई मोमबत्ती ही प्रकाश फैलाने का काम करती थी। अब तो सुनते हैं कि गांदरबल का बिजलीघर बन जाने से स्थिति ठीक हो गयी है। तो ख़ैर, दिन भर के थके-माँदे हम दोनों खाने का इन्तज़ार कर रहे थे। हमारे पास की ही मेज़ पर दो सज्जन बातों में लगे हुए थे। उनके सामने के ख़ाली बर्तन बता रहे थे कि खाना वे समाप्त कर चुके हैं। जल्दी ही एक

नौकर उन बर्तनों को उठा कर ले भी गया और फिर आकर उनसे पैसे भी ले गया, किन्तु उनकी बातें वैसे ही जारी रहीं। किसी की बातें सुनने की आदत अपनी है नहीं, क्योंकि मुझ-जैसा अन्तर्मुखी व्यक्ति अपने-आप से ही बातें करना अधिक पसन्द करता है। और फिर यहाँ तो खाने के इन्तज़ार में पेट को बहलाया जा रहा था—किसी की बात कौन सुनता ! फिर भी कभी-कभी, जैसे अनजान में ही, कान किसी शब्द को पकड़ बैठते थे। इतना समझ में आ गया कि बातचीत का विषय कुछ साहित्यिक-सा है। कुछ अजीब-सा लगा। कुछ हँसी भी आयी कि अच्छे भले-मानुस हैं, खाना खा चुके हैं, इतनी देर हो गयी है, फिर भी यूँ बैठे बातें कर रहे हैं जैसे और कोई काम ही इन्हें न हो। अगर साहित्यवार्ता का इनका नशा इतना ही टूटा हुआ है और इसके बिना रात को नींद इन्हें आ ही नहीं सकती तो कम-से-कम अनुकूल स्थान तो इन्हें चुन लेना चाहिए था। दो क़दम पर अमीरा कदल पुल है—उस पर टहलते हुए, जेहलम की ठण्डी हवा के झोंकों में नहाते हुए और नदी के दोनों किनारों पर बिखरे हुए श्रीनगर का धुँधला-सा आभास पाते हुए तो यह साहित्यवार्ता बेहतर रूप से चल सकती है। अब की मैंने उन्हें कुछ दिलचस्पी से देखा। मेरी ओर पीठ किये एक सिख सज्जन बैठे थे। परमात्मा की दया से 'स्वास्थ्य' काफ़ी अच्छा था और मेरे मन में आया कि साहित्य की अपेक्षा यदि ये दंगल की बातें करते तो शायद अधिक सजते। उनके सामने फ़ेल्ट, ओवर कोट तथा चश्मे से सुसज्जित एक और सज्जन बैठे थे। वास्तव में बोल यही रहे थे और सिख सज्जन तो कभी-कभी हाँ में हाँ ही मिलाते जान पड़ते थे। इतने में नौकर हमारी मेज़ पर पानी के गिलास रख गया। कवि शैले (Shelley) की एक पंक्ति जैसे मन में कौंध-सी गयी—If winter comes, can spring be far behind ? मैंने अपने साथी की ओर देखा—वे अंग्रेज़ी के प्राध्यापक हैं। स्पष्टतः वे भी खाने का इन्तज़ार काफ़ी बेसब्री से कर रहे थे। मैंने कहा, "If water comes, can food be far behind ?" और मुस्करा कर हम दोनों ने गिलासों की ओर हाथ बढ़ा दिये, उसी समय कान में ये शब्द पड़े—अब की बार कानों ने, खेल-खेल में, पड़ोसी मेज़ का एक पूरा वाक्य ही पकड़ लिया था—'उसने मुझे नावेल पर तीन हज़ार रुपये एडवांस भी दे दिये थे—' गिलास की ओर बढ़ता हुआ मेरा हाथ वहीं रुक गया। कान खड़े हो गये—जैसे कोई शिकारी जानवर गन्ध पाकर चौकन्ना हो जाय। यह कौन है, जिसे नावेल पर तीन हज़ार रुपये एडवांस मिल जाते हैं—या यह यों ही गप्प हाँक रहा है और सरदार साहब पर रोब जमा रहा है. . . ? अब की बार मैंने ग़ौर से उन फ़ेल्टधारी सज्जन को देखा—और किसी पुस्तक में देखा हआ एक चित्र आँखो के आगे कौंध गया। मैं उसे पहचान गया था।

उसी समय मेरे साथी ने कुछ कहना शुरू किया—शायद वे मेरी पैरोडी (Parody) के जवाब में कुछ कहने लगे थे। मैंने झट होंठों पर उँगली रख कर उन्हें रोक दिया और उनकी ओर झुक कर धीमे स्वर में कहा, "अश्क हैं—उपेन्द्रनाथ अश्क!"

खाने की बात अब हम भूल गये थे और अब सारा ध्यान उस बातचीत पर केन्द्रित था—बातचीत की जगह केवल बात कहें तो अधिक ठीक होगा, क्योंकि बोल केवल अश्क साहब ही रहे थे, सरदार साहब को बातचीत करने का अवसर कम ही मिलता था। वे कुछ मूड में आये जान पड़ते थे, क्योंकि अपने बारे में वे बड़ी स्पष्टता से कई-कुछ बतला रहे थे। इस समय विभाजन के बाद की बातें चल रही थीं। जिस प्रकाशक ने उन्हें उपरोक्त एडवांस दिया था, वह शायद लाहौर का था—इतना ही मैं समझ सका। ये अश्क हैं—इस बात का मुझे विश्वास तो हो चुका था और रहा-सहा सन्देह भी उस समय दूर हो गया जब उन्होंने श्रीमती कौशल्या अश्क का ज़िक्र किया। विभाजन के बाद उन्हें कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और कहाँ-कहाँ क्या-क्या करना पड़ा, इस बारे मे बताते हुए उन्होंने कहा, 'यह कौशल्या बड़ी दिलेर औरत है। उसी की हिम्मत से हम इलाहाबाद में पैर जमा सके।'—इस सिलसिले में उन्होंने प्रकाशकों की चाल-बाज़ियों के बारे में भी काफ़ी दिलचस्प बातें बतायी और हिन्दी-साहित्यिकों में गुटबन्दी की शिकायत भी की, जिसकी लपेट में आये हुए कुछ प्रसिद्ध नाम भी उन्होंने गिनाये। अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कौशल्या की वे बड़ी प्रशंसा कर रहे थे, जिन्होंने प्रकाशन का सारा बोझ सम्हाल कर उन्हें छोटी-मोटी सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त कर दिया था।

इस बीच में खाना हमारे सामने आ चुका था और कौर को धीरे-धीरे चबाते हुए हम इस बात का प्रयत्न कर रहे थे कि हमारे मुँह का चलना हमारे कानों के सुनने में बाधक न बनने पाये। अश्क जी की बातें सुनते हुए मेरी कल्पना में बहुत से चित्र घूम रहे थे—कविराज रामदास की पुस्तकें लिखता हुआ चेतन (गिरती दीवारें का नायक), तहमद बाँधे और बनियान पहने हुए पेड़ों वाली लस्सी पीता हुआ 'गर्म राख' का नायक (नाम मुझे भूल गया है—उस समय याद था) और सब से बढ़ कर, लँगोट बाँध कर और शरीर पर मालिश कर के जालन्धर की गलियों में दौड़ लगाता हुआ स्वयं उपेन्द्रनाथ अश्क (देखिए कौशल्या जी का लिखा हुआ स्केच)—इस प्रकार के अनगिनत चित्र मेरी आँखों के आगे उस समय घूम रहे थे। अश्क जी को देख कर उनके उपन्यास-नायक क्यों मुझे दिखायी दे रहे थे, इस बारे में मैंने उस समय तो कुछ नहीं सोचा था, किन्तु अब सोचता हूँ तो मनोविज्ञान का विचार-सम्बन्ध (Association of Ideas) वाला सिद्धान्त काम करता हुआ

मुझे साफ़ नज़र आता है! 'गिरती दीवारें' तथा 'गर्म राख' पढ़ने के बाद, और इस बीच में 'बड़ी-बड़ी आँखें' पढ़ने के बाद भी, 'साहिर' लुधियानवी का यह शेर मुझे बार-बार याद आया है :

दुनिया के तजरुबों ने हवादिस की शक्ल में।
जो कुछ मुझे दिया है वो लौटा रहा हूँ मैं॥

इन तीनों उपन्यासों के नायकों मे स्वयं अश्क के व्यक्तित्व का कुछ-न-कुछ अंश मिला हुआ है, ऐसा मेरा विश्वास है, इसीलिए मेरे मन मे अश्क जी का जो चित्र बना हुआ था, उसमें इन उपन्यास-नायकों के व्यक्तित्व का भी एक अंश मिश्रित था।

अश्क जी धाराप्रवाह पंजाबी में बातें कर रहे थे। और सरदार साहब बड़े ध्यान से उन्हें सुन रहे थे। मुझे लगा कि आपस में इनकी यह पहली मुलाक़ात है। और मज़े की बात यह है कि जितने उत्सुक सरदार साहब उनके बारे में जानने को थे, उतने ही उत्सुक अश्क जी अपने बारे में बताने को भी जान पड़ते थे। उनकी इस वाचालता को देख कर मेरे मन में एक प्रश्न उठा——ऐसा ही एक प्रश्न मेरे मन में एक बार पहले भी उठा था जबकि श्री मुल्कराज आनन्द में भी कुछ ऐसी ही वाचालता का आभास मिला था। अश्क जी को मैं हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ यथार्थवादी लेखक मानता हूँ। उनके उपन्यासों में जिन नगरों का चित्रण हुआ है, उनमें से बहुत से मैंने देख रखे हैं। पंजाबी मध्य-वर्ग की जिन परिस्थितियों को उन्होंने अंकित किया है, उनमें से कइयों का मुझे सामना करना पड़ा है। अश्क जी के उपन्यास पढ़ते हुए मैं उन परिचित स्थानों में फिर से घूम सका हूँ और उन परि-स्थितियों को फिर से अनुभव कर सका हूँ। उनकी कृतियों के बहुत से पात्र मुझे बिलकुल जाने-पहचाने लगे हैं। अश्क जी के यथार्थ-चित्रण से होड़ लेता हुआ चित्रण मुझे मुल्कराज आनन्द के 'कुली' में मिला है। मेरे मन में, पता नहीं कैसे, एक धारणा बन गयी थी कि यथार्थ का इतनी सफलता से चित्रण करने वाले कला-कार बहुत कम बोलते होंगे——कि उनकी आँखें किसी कीमती कैमरे-जैसी सूक्ष्म-ग्राहिणी (Sensitive) होंगी, वे चुपचाप चारों ओर देखते होंगे और सब कुछ उनके मानस-पटल पर अंकित होता चला जाता होगा——कि वे स्वयं कम बोल कर दूसरों को अधिक बोलने के लिए प्रोत्साहित करते होंगे और सब के बोलचाल तथा उठने-बैठने के ढंग को बड़ी बारीकी से पकड़ते होंगे। किन्तु आनन्द जी को और अब अश्क जी को इस प्रकार बोलते हुए सुन कर मेरे मन में प्रश्न उठा कि यदि ये सचमुच ही इतने बातूनी हैं तो इन्हें अपने यथार्थ-चित्रों की सामग्री एकत्रित करने का अवसर कैसे मिल पाता होगा? हो सकता है कि जिन क्षणों की इतनी झाँकी मुझे उपलब्ध

हुई उन्हीं में, किसी विशेष मनोदशा के कारण अपने बारे में, खुले दिल से बातें करने का इनका मूड रहा हो।

समय ग्यारह से ऊपर हो चुका था। अश्क जी अब भी अपने बारे में उसी लगन से बातें कर रहे थे, अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक मामलों में भी वे उसी स्पष्टवादिता से काम ले रहे थे; जिससे कि वे विभिन्न साहित्यिक प्रश्नों पर अपने मत प्रकट कर रहे थे। अपने किसी सम्बन्धी (शायद लड़के) के बारे में उन्होंने कहा, 'उसकी तरफ़ से मुझे बड़ी परेशानी है—उसके दिमाग़ में कुछ ख़राबी है। यह शायद ख़ानदानी असर है।' हम यह सुन कर भौंचक्के-से रह गये। सरदार साहब पर भी शायद कुछ ऐसा ही असर हुआ। किन्तु बड़ी होशियारी से बात सम्हालते हुए वे बोले—'जी हाँ। कलाकार भावुक तो होते ही हैं।' किन्तु अश्क जी को जैसे इन सफ़ाइयों की ज़रूरत ही नहीं थी। बिना किसी लाग-लपेट के उन्होंने कहा, 'इसमें कलात्मक भावुकता की कोई बात नहीं है। वास्तव में हमारे एक पूर्वज (उन्होंने शायद ठीक-ठीक रिश्ता भी बताया था) पागल हो गये थे।' उनकी यह अकृत्रिम स्पष्टवादिता मुझे बहुत भली लग रही थी—किन्तु उस पर मुझे आश्चर्य नहीं हो रहा था। मेरे मन में अश्क का जो चित्र बना हुआ था, उससे यह स्पष्टवादी अश्क पूर्णतः मेल खाता था। मेरे सामने वह अश्क घूम रहा था, जो बैंगन के भुरते का अधिकांश अपनी प्लेट में डाल कर मेहमानों से कहता है, 'देखो भई भुरता यही है—थोड़ा-थोड़ा ले लेना!' और फिर अपनी पत्नी की शिकायती नज़रों के जवाब में कहता है, 'ये कोई पराये थोड़े ही हैं कि इनसे तकल्लुफ़ किया जाय।' (जिन्होंने कौशल्या जी का स्केच पढ़ा है उन्हें यह बात याद होगी। एक बार उनके यहाँ मेहमान आये थे और बैंगन कम होने से भुरता थोड़ा बना था। भुरते के अश्क जी शौकीन हैं इसलिए उन्हें पहले ही चेतावनी देते हुए कौशल्या जी ने कहा था, 'भुरता यही है। आप स्वयं अधिक मत लीजिएगा।' और अश्क जी ने बड़ी सादगी से अपनी प्लेट अच्छी तरह भर के चेतावनी मेहमानों को सौंप दी थी।)

अपने लिखने के बारे में बताते हुए वे किसी झूठे आदर्शवाद से काम नहीं ले रहे थे। स्वान्तः-सुखाय लिखने का अथवा बिना किसी फल की आशा किये साहित्य-सृजन का दावा उन्होंने बिलकुल नहीं किया। वे साफ़-साफ़ कह रहे थे, 'भाई लिखता मैं अपनी मर्जी से हूँ, पर इसका यह मतलब नहीं कि उससे लाभ की आशा न रखी जाय। कई बार, लिखते-लिखते मेरे मन में विचार उठता है कि यदि लोग हमारी पुस्तकों को पसन्द करते हैं तो उसका लाभ क्या हमें नहीं मिलना चाहिए?

और मैं अपने साहित्य के प्रचार-प्रसार में लग जाता हूँ। कई जगह मेरी पुस्तकें पाठ्यक्रम में स्वीकृत भी हो जाती हैं। किन्तु तभी मेरे मन में दूसरा विचार ज़ोर पकड़ता है: तुम कलाकार हो। तुम्हारा काम लिखना है—इन छोटे-छोटे लाभों के लिए भटकना नहीं! और मैं फिर जम कर लिखना शुरू कर देता हूँ।' उन्होंने यह भी बताया कि कश्मीर में आ कर उन्होंने एक उपन्यास लिखा है। उपन्यास का नाम तो उस समय उन्होंने बताया नहीं था, किन्तु उसके बाद जो उनके दो उपन्यास मुझे पढ़ने को मिले हैं—'बड़ी-बड़ी आँखें' और 'बर्फ़ का दर्द' (पत्थर-अलपत्थर)—वे दोनों कश्मीर में लिखे जान पड़ते हैं। 'बर्फ़ का दर्द' तो ख़ैर है ही कश्मीर के बारे में—इसमें कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ-साथ कश्मीरी दारिद्र्य की उस कुरूपता का चित्रण हुआ है जो किसी भी भावुक हृदय को आन्दोलित किये बिना नहीं छोड़ती। 'बड़ी-बड़ी आँखें' में कश्मीर का कोई ज़िक्र नहीं है, बल्कि एक ऐसे नगर का चित्रण है जिसे जानने वाले जानते हैं। किन्तु फिर भी इसकी नायिका वाणी में और सारे उपन्यास में एक भोले सौन्दर्य की जो छटा-सी छायी हुई है और जिसके कारण कविवर पन्त ने इस उपन्यास को गीति-उपन्यास कह कर अभिनन्दित किया है, वह मुझे कश्मीर की रंगीन पहाड़ियों पर छिटकी हुई सुनहली धूप की ही याद दिलाती है।

समय ग्यारह से ऊपर हो चुका था। हमारा खाना भी ख़त्म हो चुका था और लगता था कि उनकी बातें भी ख़त्म हो चुकी हैं। पिछले पाँच-सात मिनटों से वे खड़े हुए, चलने की तैयारी में, बातें कर रहे थे। इतना हमें पता चल गया था कि होटल से वे लोग अलग हो जायेंगे और अश्क जी भी उधर ही जाने वाले हैं जिधर कि हमें जाना था। मैं चाहता था कि होटल में से निकलें तो हम भी साथ ही हो लें और रास्ते में उनसे कुछ बातें की जायें। किसी 'बड़े' आदमी से बातें करने की इच्छा का अनुभव मैं पहली बार कर रहा था। जो लोग 'बड़े' समझे जाते हैं और जो अपने को 'बड़ा' समझते ही नहीं, बल्कि अपने इस 'बड़ेपन' को प्रदर्शित करने की फ़िक्र में भी रहते हैं, उनसे ज़रा दूर ही रहने को दिल चाहता है। इसे आप कमज़ोरी कहें अथवा मध्यवर्गीय आत्माभिमान, किन्तु लगता यही है कि ग़ालिब ने यह शेर हमारे ही लिए लिखा था:

बन्दगी में भी वो आज़ादः-ो-ख़ुदबीं हैं कि हम।
उल्टे फिर आये दरे का'बा अगर वा न हुआ।।

का'बे का भी द्वार यदि स्वागतार्थ खुला न मिले तो वहाँ से भी लौट आयेंगे—

खटखटायेंगे नहीं—ग़ालिब के इस स्वाभिमान पर न्योछावर हो जाने को जी चाहता है। अब जहाँ तक अश्क जी का प्रश्न है, वे बड़े आदमी हैं, इसमें शक नहीं। इस समय हिन्दी के श्रेष्ठतम उपन्यासकारों तथा एकांकी और कहानी-लेखकों में उनकी गिनती है। अपने महत्व को वे स्वयं भी पहचानते हैं, इसमें भी सन्देह नहीं। किन्तु जिस बेतकल्लुफ़ी से और खुले दिल से उन्होंने उन सिख सज्जन से बातें की थीं, जिनसे वे आज ही मिले जान पड़ते थे, उसे देख कर मन में आया कि इन से मिला जा सकता है—बल्कि ज़रूर मिलना चाहिए! बड़ा होना बुरा नहीं—बल्कि बहुत अच्छा है। अपने को बड़ा समझना भी बुरा नहीं—प्रत्येक मनुष्य, यदि वह हीन-भाव से ग्रस्त नहीं है तो, अपने को किसी-न-किसी बात में बड़ा समझता है। किन्तु अपने 'बड़ेपन' को ज़बरदस्ती, किसी पर ठोंसने की फ़िक्र में रहना—यही वह चीज़ है जो अखरती है और जिसे कोई भी स्वाभिमानी मनुष्य सह नहीं सकता। अश्क जी की बातों से ऐसा कोई आभास न मिला था और वे बिलकुल ऐसे बात कर रहे थे, जैसे कोई मनुष्य अपने उस मित्र से करता है, जिसे वह बिलकुल अपने बराबर समझता है। हम होटल वाले को पैसे दे चुके थे और बिना किसी स्पष्ट कारण के वहीं बैठे अश्क जी के चल देने की राह देख रहे थे। किन्तु उनकी बातें थीं कि ख़त्म ही नहीं हो रही थीं। दो बार तो वे हाथ मिला कर सरदार साहब से विदा भी ले चुके थे, किन्तु जाते-जाते फिर कोई बात निकल आती थी और वही सिलसिला फिर शुरू हो जाता था। समय साढ़े ग्यारह के लगभग हो चुका था और बिना किसी कारण के होटल में बैठे रहना अब हमें भी कुछ भद्दा-सा लगने लगा था। अन्त में यह सोच कर कि पता नहीं इनकी बातें अभी और कितनी देर चलेंगी, हम होटल से चल दिये। श्रीनगर में हमें और दो दिन ठहरना था—ख़याल था कि फिर कहीं इनके दर्शन हो ही जायेंगे और उनसे बातें हो सकेंगी, किन्तु यह अवसर हमें फिर प्राप्त न हो सका। अश्क जी फिर कहीं दिखायी नहीं पड़े।

अशोक

●●●

बेतकल्लुफ़

जुलाई १९४९ की एक शाम को रानीखेत के पहाड़ी शहर में मेरा अश्क जी से प्रथम साक्षात्कार हुआ। उससे पहले यदा-कदा उनकी रचनाएँ पढ़ कर मैंने अपनी कल्पना में उनका जो चित्र बना रखा था, उसके बिलकुल बिपरीत मैंने उन्हें पाया। प्रकाश जी ने कहा भी कि ये 'अश्क' हैं तो भी मैं कुछ गड़बड़ा गया। अश्क लाहौर के रहने वाले हैं और कुछ दिनों से बम्बई में काम कर रहे हैं, यह बात मन में जमी थी, इसीलिए पंजाब प्रान्त की स्पष्ट छाप मैं अश्क पर अंकित होने की आशा में था। अब जो साहित्यिक मेरे सम्मुख थे, उनमें कोई भी तो बात ऐसी न थी, जो उन्हें पंजाब से सम्बन्धित करती हो। न शरीर का परिमाण, न रंग-रूप, न भाषा और न व्यवहार—कहीं कुछ भी पंजाबियों का-सा न था। आयु भी उतनी अधिक न लगती थी, जितनी कि मैं कल्पना कर चुका था। इसीलिए ज्योंही परिचय के बाद बातचीत आरम्भ हुई, मैं कई क्षण तक उन्हें 'बुधुआ की बेटी' और 'जीजी जी' के रचयिता पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ही समझता रहा। पंजाब का उर्दू से जो लगाव रहा है और उग्र जी की रचनाओं में भी उर्दू का जो पुट रहता है, उसी से शायद कुछ क्षणों तक यह भ्रान्ति रही। पर शीघ्र ही मैं समझ गया कि ये 'अश्क' हैं——'गिरती दीवारें,' 'पिंजरा,' 'जय-पराजय,' 'छठा बेटा' आदि के रचयिता—उपेन्द्रनाथ अश्क !

प्रथम साक्षात के समय अश्क जी एकदम गर्म कपड़े पहने थे, यहाँ तक कि गर्म कोट, अन्दर पूरी बाँहों का पुलओवर, वह भी गले और गर्दन को आच्छादित

किये था। कोट ही के चेक कपड़े की गर्म नाइट कैप सिर पर लगी थी। उस समय अपने वेश से न तो वे पन्त जी अथवा निराला जी की भाँति साक्षात कवि ही लगते थे, न नाटककार या कथाकार ही। प्रथम परिचय ही में वे स्पष्टवादी और सरल मृदु स्वभाव के लगे। कोई बात उनके व्यवहार या बातचीत में ऐसी न थी, जिससे वे यह प्रकट करना चाहें कि जनसाधारण से वे किसी प्रकार भिन्न हैं। मिथ्याडम्बर का नाम न था, न बनने की प्रवृत्ति थी, जो थोड़े-से अपवादों को छोड़ प्रायः सभी साहित्यकारों में मिलती है। अश्क जी में ऐसे प्रदर्शन की भावना किंचित भी नहीं मिली।

जब चाय आयी और पहला प्याला उनकी इच्छानुसार पर्याप्त गर्म न निकला तो उन्होंने निःसंकोच उसे दो ही घूँट पी कर कहा—'भाई यह तो मैं नहीं पिऊँगा, ठंडी हो गयी है, एक प्याला बहुत गर्म मँगाओ।' ऐसी बेतकल्लुफ़ी और इतने कम समय के परिचय में, एक पारंगत साहित्यिक द्वारा मुझे प्राप्त होने का यह पहला अवसर था।

उस वर्ष रानीखेत में बनारस, लखनऊ और प्रयाग विश्वविद्यालयों के कई विद्वान प्रोफ़ेसर आ गये थे। उनके कारण कभी कहीं 'पिकनिक' का आयोजन होता तो कभी कहीं चाय-पानी के साथ-साथ साहित्यिक-चर्चा हो जाती। लखनऊ विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र के वयोवृद्ध प्रोफ़ेसर डी० पी० मुकर्जी तो इन गोष्ठियों के मानो प्राण ही थे। दूसरे दिन मैं रानीखेत के प्रसिद्ध चित्रकार श्री एन० आर० उपरेती के साथ अश्क जी को उनसे मिलाने ले गया। डॉ० मुकर्जी ऊपर सिविल लाइन्स के एक अंग्रेज़ी होटल में रहते थे। हम तीन बजे अपराह्न उनसे मिलने गये। जब हम डेढ़-दो मील चल कर ऊपर पहुँचे और मुकर्जी साहब के फ़्लैट के ड्राइंगरूम में जा बैठे तो परिचय के उपरान्त अश्क जी ने नितान्त निःसंकोच भाव से कहा, 'मुकर्जी साहब, माफ़ कीजिएगा, मुझे बड़ी भूख लगी है, यदि आप कुछ खिला सकें तो बड़ी मेहरबानी हो।'

अंग्रेज़ी होटल, न खाने का समय, न चाय का, मुकर्जी साहब बड़े धर्म-संकट में पड़े। इसी कठिनाई के बारे में खदबदाते हुए किसी तरह होटल की एक ओर बनी कॉटेज में (जो शायद होटल का किचन था) जाकर वे किसी बैरे से कुछ कह आये। कुछ देर बाद चाय, तोस और कुछ पेस्ट्री और बिस्कुट आ गये। तब अश्क जी ने बताया कि कैसे अल्मोड़े के प्रवास में उनकी भूख मर गयी। पानी में शायद माइका है। अब चढ़ाई चढ़ने से उन्हें बेतरह भूख लग आयी है—और यों अनवरत बातें करते हुए वे तोस उड़ाने लगे।

मैं तो उनकी आदत देख चुका था। उपरेती न रह सके। वापसी पर

उन्होंने अश्क जी को टोक दिया कि उन्हें वैसा न करना चाहिए था। अश्क जी ठहाका मार कर हँसे। 'भाई मुझे सख्त भूख लग आयी थी। मैं जब से बीमार हुआ हूँ, भूख सहने की शक्ति खो बैठा हूँ। भूख लगती है तो मुझे कमज़ोर कर देती है, मैं कुछ और नहीं सोच पाता। मैं न कहता तो मुझे तत्काल उनसे छुट्टी लेनी पड़ती। तब भी वे मुझे गँवार ही समझते। दोनों सूरतों में आज असंस्कृत बनना मेरे भाग्य में लिखा था।' और उन्होंने फिर ठहाका लगाया, 'यदि इस तरह भूख मिटा कर उनसे कुछ बातें कर लीं (कि हम इसी काम से आये थे) तो मैं इसे बुरा नहीं समझता।' और उन्होंने हमारे ताज्जुब को अपने ठहाके से एक ओर कर दिया और किस्सा सुनाने लगे कि वे जवानी में किस प्रकार भूख की चिन्ता किये बिना लगातार गप लगाया करते थे और घर वाले परेशान हो जाते थे।

उन चन्देक गोष्ठियों में, जो अश्क जी के कारण रानीखेत में हुईं, एक छोटी-सी साहित्य-गोष्ठी प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी प्रोफ़ेसर श्री रवीन्द्रनाथदेव के ग्रीष्मकालीन निवास 'कालिका' (रानीखेत से ४ मील दूर) पर 'का-फल' के वृक्षों के नीचे हुई। इसमें अश्क जी ने अपनी कविता 'दीप जलेगा' पढ़ कर सुनायी।

अश्क जी की कहानियाँ और नाटक तो पढ़े थे, पर कविताएँ तब तक पढ़ने का अवसर न मिला था। सोचा भी था कि जब कविता में नीरस शुष्कता की बाढ़ आयी है तो सभी कवि उसी वर्ग के होंगे। पर 'दीप जलेगा' निराली कविता थी। एक-एक पंक्ति में अपना अलग माधुर्य और शब्दों का चमत्कार था। शब्दों में पिंगल-शास्त्रीय अलंकार न थे, पर उनकी ध्वनि में एक नवीन संगीत की लय थी।

हमारी दूसरी बैठक अरोड़ा के घर पर हुई। इस बार श्रोताओं में विश्वविद्यालयों के दो हिन्दी साहित्याचार्य डॉ० भगीरथ मिश्र और डॉ० मेहरा भी उपस्थित थे। श्रोताओं में बालक-बालिकाओं का बाहुल्य था, अतः निश्चय हुआ कि अश्क जी कोई हल्की-फुल्की चीज़ कहेंगे। मैंने सोचा कि 'दीप जलेगा' और 'जय-पराजय' जैसी गम्भीर रचनाएँ करने वाले इस रोगी कवि से हल्की-फुल्की चीज़ की क्या आशा की जा सकती है। यह तो अन्याय है कि मैं उससे बच्चों का मनोरंजन करवाना चाहता हूँ। पर मेरे आश्चर्य का वारापार न रहा, जब तत्काल मैंने उस मण्डली में एक खोंचे वाले की ज़ोरदार आवाज़ सुनी—आवाज़ 'अश्क जी' ने लगायी, यह मैं कुछ देर में समझ पाया। उस समय बच्चे हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये, जब अश्क जी ने अनेक व्यक्तियों की नक़लें कीं। खोंचे वाले, अखबार वाले, भिन्न-भिन्न प्रकार की हँसी हँसने वाले, रोने वाले, रेल पर पान-बीड़ी बेचने वाले आदि अनेक

अश्क
(१९३५)

अश्क और कौशल्या
(१९४२)

अर्धशती-समारोह के अवसर पर 'नीलाभ प्रकाशन' में अश्क परिवार

अश्क कौशल्या
नीलाभ
कश्मीर में
(१९५४)
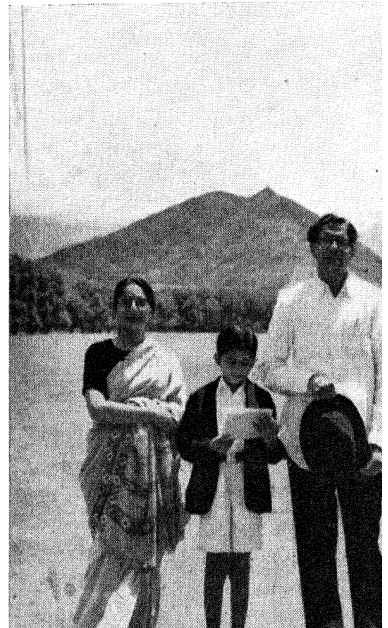
तरह के लोगों की हू-ब-हू नक़लें सुन कर इस व्यक्ति के विषय में एक नयी ही बात का पता लगा कि वह कितना सफल अभिनेता है। वैसे तो प्रोफ़ेसर मुकर्जी से सुना था कि हिन्दी नाटककारों में 'अश्क' अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं तथा ऑल इण्डिया रेडियो में उनका एकाधिपत्य है। पर अश्क सफल ऐक्टर भी हैं, यह मैंने उसी दिन जाना।

१९४९ में अश्क अल्मोड़ा गये थे। वापसी पर काठगोदाम को जाते हुए प्रकाश जी से मिलने (जिनसे उनकी पत्नी का बड़ा सहेलपना था) एक दिन को रानीखेत रुक गये थे, लेकिन रात वर्षा ऐसे ज़ोर की हुई कि सड़क टूट गयी। विवश उन्हें तीन-चार दिन रानीखेत रुकना पड़ा। सड़क ठीक होते ही वे चले गये और उन चन्द मुलाकातों की मीठी, मधुर और दिलचस्प स्मृतियाँ अपने पीछे छोड़ गये।

एक डाइनेमिक व्यक्तित्व

'अश्क' हूँ हस्ति-ए-नाचीज़ मगर याद रहे,
मैं जो चाहूँ तो क़यामत अभी बरपा कर दूँ।

—अश्क

कृष्णचन्द्र

●●●

ज़िद्दी

अश्क से मेरी मुलाकात लाहौर में एक अजीब तरीके से हुई। मैं उन दिनों लॉ कॉलेज लाहौर में पढ़ता था और फ़ाइनल की तैयारी कर रहा था। मैं, महेन्द्र और कन्हैयालाल कपूर—हम तीनों इकट्ठे रहते थे। हमारे कमरे साथ-साथ थे। बाकी दोनों ने अभी उर्दू में लिखना शुरू नहीं किया था और साहित्य के क्षेत्र में मैं स्वयं भी नवागन्तुक ही था। फिर भी चन्द चीज़ें क़लम से निकल चुकी थीं, जिन्हें साहित्य-प्रेमियों ने पसन्द किया था। उन दिनों तबीयत में झिझक ज्यादा थी। सम्पादकों से बहुत डरता था और इसी घबराहट और परेशानी को छिपाने के लिए सम्पादकों और साहित्यिकों से दूर भागता था। अपना ढंग यह था कि जब कोई चीज़ लिखी गयी, उसे लाहौर ही में, डाक द्वारा, किसी पत्र-पत्रिका के सम्पादक को भेज दिया और जब वह छप गयी तो पढ़ कर खुश हो लिये। अपनी कहानियों के बारे में ऐसी राज़दारी से काम लेता था, जैसे कोई जुर्म कर रहा होऊँ।

उन दिनों मैं हिन्दू हॉस्टल (ऋषि नगर) में रहता था। यह हॉस्टल यूनिवर्सिटी के ज़ाब्ते से बाहर था, इसलिए इसमें विद्यार्थियों का रहना यूनिवर्सिटी के नियमों के विरुद्ध समझा जाता था या कम-से-कम अच्छी नज़र से नहीं देखा जाता था। लेकिन अपना वास्ता ज्यादातर विद्रोही विचारों के विद्यार्थियों से रहता था, जिनकी एक बड़ी संख्या उस हॉस्टल में रहती थी। इसलिए मैंने उस हॉस्टल में रहना पसन्द किया था। उन दिनों उसमें विभिन्न कॉलेजों

के ख़तरनाक चरित्र वाले, सामाजिक या राजनीतिक दृष्टि से सन्दिग्ध समझे जाने वाले लोग रहते थे। उनके अध्ययन से मुझे बड़ी दिलचस्पी थी। उन दिनों मैंने उसी हॉस्टल की पृष्ठभूमि को ले कर एक नाटक लिखा था, जो शायद 'हुमायूँ' में छपा था। उस नाटक में मैंने हिन्दू हॉस्टल का नाम और उस कमरे का नम्बर तक दे दिया था, जिसमें वह नाटक खेला जाता था। वह नाटक छप गया और हमने पढ़ लिया और अपना नाम एक प्रसिद्ध पत्रिका में छपा देख कर कुछ क्षण के लिए खुश हो लिये।

नाटक को छपे तीन-ही-चार दिन हुए थे, मैं सुबह अपने कमरे के सामने बरामदे में बैठा हुआ शेव कर रहा था कि मैंने देखा—एक साहब, दुबले-पतले, लम्वे-साँवले, एक छोटी-सी नेकर और कमीज़ पहने हुए, पाँव में चप्पल और मुँह में दातुन लिये चले आ रहे हैं। ज़रा-ज़रा-सा रुक कर कमरों का नम्बर पढ़ते हैं और आगे चल देते हैं। फिर यकायक वे मेरे कमरे के सामने आ कर रुक गये। कमरे का नम्बर पढ़ा, मुझे देखा और बोले, "क्यों जी आप का नाम कृष्णचन्द्र है ?"

मैंने शेव रोक कर सिर हिलाया और कहा, "जी हाँ !"

यह सुनते ही वह अजनबी इस ज़ोर से ठहाका मार कर हँसा कि आस-पास के कमरों से भी कुछ विद्यार्थी बाहर निकल आये। ठहाका मारने के बाद उसने मेरी रान पर ज़ोर का हाथ मारा और बोला, "देखा पट्ठे, कैसे पहचाना !" और इसके बाद मेरे पास ही कुर्सी खीच कर बैठ गया और बोला, "मेरा नाम उपेन्द्रनाथ अश्क है।"

कुछ क्षण तो मैं हैरत और खुशी की मिली-जुली भावनाओं से अश्क को देखता रहा, क्योंकि अश्क मुझ से बहुत पहले लिखना शुरू कर चुके थे और लोकप्रियता की मंज़िलें तय कर के उर्दू कहानीकारों की पहली पंक्ति में आ चुके थे। उस ज़माने में सुदर्शन जी लाहौर से कहानियों की एक बहुत ही अच्छी पत्रिका 'चन्दन' निकालते थे और अश्क जी की कहानियाँ अक्सर उसमें छपती थी। इस मुलाकात के डेढ़-दो बरस पहले मुझे लॉ कॉलेज के दरवाज़े पर ही मेरे किसी दोस्त ने दूर से एक इन्तहाई खुशलिबास विद्यार्थी की ओर संकेत कर के कहा था—"वो हैं मिस्टर उपेन्द्रनाथ अश्क...ये इन दिनों लॉ कर रहे हैं।"...मैं उन दिनों फ़ार्मेन क्रिश्चियन कॉलेज में पढ़ता था और सिर्फ़ अपने कॉलेज की मैगज़ीन में लिखता था, इसलिए मैं इतने बड़े लेखक को दूर ही से देख कर बड़ा खुश हुआ था।

जब मैंने अश्क को यह किस्सा सुनाया तो वे और भी ज़ोर से हँसे, "नेकर

और कमीज़ से बेहतर दुनिया में कोई लिबास नहीं यार," उन्होंने कहा, "ख़सूसन मेरे-जैसे आज़ाद लेखक के लिए––लॉ मैं कर चुका हूँ और कचहरी जाता नहीं और नौकरी करता नहीं, नेकर-कमीज़ पहने घूमता हूँ। तुम नेकर-कमीज़ पहन कर देखो––कितनी आसानी रहती है और कैसा आनन्द मिलता है।"

और वे फिर उसी तरह ज़ोर से ठहाका मार कर हँसे। फिर बोले :

"लेकिन तुम यह तो पूछो कि मैंने तुम्हें ढूँढ़ कैसे निकाला? इतना बड़ा लाहौर और मैं तुम्हारे हॉस्टल में ऐन तुम्हारे दरवाज़े के सामने आ खड़ा हुआ। जानते हो कैसे?" यह कह कर जब उन्होंने मेरी दूसरी रान को ज़ोर से बजाया तो मैंने फ़ौरन तड़प कर पूछा, "कैसे?"

हुमायूँ में तुम्हारा नाटक पढ़ा था। 'कमरा नम्बर ४४।' उसमें हिन्दू हॉस्टल की सेटिंग थी। मैंने कहा––हो न हो मेरा यार वहीं रहता है। सो आज सुबह मैं दातुन करता हुआ सैर को निकला तो सोचा कि जा कर हिन्दू हॉस्टल ही में पता लगाऊँ।...दो-चार चीज़ें मैं तुम्हारी पढ़ चुका हूँ। यार ख़ूब लिखते हो। बहुत ही उम्दा स्टाइल है तुम्हारा, लिखते रहे तो ख़ूब तरक्की करोगे।...लेकिन यह तुम क्या करते हो कि अपने अफ़सानों का मुआवज़ा नहीं लेते। ये 'हुमायूँ' वाले तो कमबख़्त कुछ देते नहीं। इतने अमीर लोग हैं, एडीटर इतनी तनख़्वाह पाता है, पर मुआवज़े के नाम पर अदीब को अँगूठा दिखा देते हैं। मैं वहाँ कभी नहीं लिखता। मैं 'गृहस्थी' को अफ़साना देना पसन्द करता हूँ। पैसे नहीं देते तो उसके बदले में मेरे दन्दानसाज़ भाई का विज्ञापन तो छाप देते हैं।... इससे बुरी बात कोई नही हो सकती कि इन्सान अपने काम का मुआवज़ा तलब न करे। पाँच रुपये लो, दो रुपये लो, पर अपने अफ़सानों का मुआवज़ा ज़रूर लो। मुझे एक बार हैट की ज़रूरत थी, मैंने एक कहानी लिखी, 'गुरु घंटाल' के एडीटर को पसन्द आ गयी। मैंने कहा, 'भाई कहानी ले लो और मुझे हैट ले दो।' और मैंने हैट ले लिया...तुम इन पब्लिशरों को नहीं जानते। मैं जानता हूँ। ख़ून पीते हैं ख़ून ग़रीब अदीबों का। मगर हम सब को मिल कर इन पब्लिशरों से मुआवज़ा तलब करना चाहिए...बाथ-रूम किधर है? मैं थूकना चाहता हूँ...यह दातुन बेहद अच्छी चीज़ है, इससे मुँह भी साफ़ होता है और दाँत भी मज़बूत होते हैं। मैं हमेशा दातुन करता हूँ। मगर तुम मुझे ऐसे आदमी मालूम होते हो जो दातुन की बजाय टुथ-ब्रश इस्तेमाल करते होगे। है न?"

मैंने स्वीकृति में सिर हिलाया कि फिर उन्होंने मेरी पीठ पर एक ज़ोर का हाथ दिया और पहले से भी ज़ोरदार कहकहा मारा।

"हा-हा-हा ! देखा, कैसे तुम्हें जाने-पहचाने बिना ही मैं तुम्हारे मिज़ाज से वाकिफ़ हो गया।" उन्होंने कहा, और फिर निश्चयात्मक स्वर में बोले, "जिस अदीब में यह बात नहीं, वह अदीव नहीं, घसियारा है घसियारा।"

अपनी बेतकल्लुफ़ी, धाराप्रवाह बातों से अश्क ने बहुत जल्द मेरी अजनबियत, डर और दहशत दूर कर दी और बहुत जल्द हम दोनों घुल-मिल गये। वे घुलते गये और मैं मिलता गया। और चन्द घण्टों के बाद ऐसा महसूस हुआ जैसे हम दोनों एक-दूसरे को बरसों से जानते हैं।

और यह तो अश्क से जो कोई भी मिलेगा, स्वीकार करेगा कि अश्क के मिज़ाज में बेकार की साहबीयत और अहंकार नहीं है, जो अक्सर साहित्यकारों में पाया जाता है। अक्सर साहित्यकार अपने-आप को इस तरह लिये-दिये रहते हैं, उनकी बातचीत में, चाल-ढाल में, उनके सारे व्यक्तित्व में ऐसी कैफ़ियत रहती है जिससे यह पता चले मानो सारी सृष्टि महज़ इसी साहित्यकार के सहारे चल रही है। और यदि यह साहित्यकार, भगवान न करे, सोचना या लिखना बन्द कर देगा तो या तो ज़मीन की गर्दिश रुक जायगी या यह नीला आसमान धड़ाम से ज़मीन पर गिर पड़ेगा। अश्क ऐसे साहित्यकारों को बेहद बनाते हैं और ख़ूब मज़ा लेते हैं। गम्भीर और मतीन फब्तीबाज़ी और लतीफ़ागोई में राजेन्द्रसिंह बेदी का जवाब नहीं है, लेकिन व्यावहारिक मज़ाक में उपेन्द्रनाथ अश्क का कोई सानी नहीं। अगर वे किसी अकड़बाज़ साहित्यकार को बनाने में शुरू ही से कामयाब न होंगे तो फिर और भी ज़्यादा मुस्तकिल-मिज़ाजी से उसे बनाने पर तुल जायँगे और एक कोशिश के बाद दूसरी उससे भी शानदार कोशिश करेंगे। साहित्यिकों की एक गोष्ठी का आयोजन करेंगे, बड़े व्यंग्य-भरे शब्दों में उसकी तारीफ़ करेंगे, हो सका तो एक सूक्ष्म व्यंग्य से भरा मान-पत्र तक उसे भेंट करा देगें, अपने पास से सौ-पचास रुपया ख़र्च कर देंगे और उस वक्त तक चैन न लेंगे जब तक वे अच्छी तरह उसकी टाँग न खींच लें। अश्क की बाग़ो-बहार तबीयत की यह ऐसी विशेषता है, जिससे अक्सर साहित्यकार उनसे डरते रहते हैं।

लेकिन इसके साथ ही उनके स्वभाव की एक कुदरती कैफ़ियत यह भी है कि वे जिस महफ़िल में बैठे हों, अपनी तरफ़ लोगों का ध्यान खींचे बिना चैन न लें। मैं समझता हूँ इस ज़िन्दगी में हर शख़्स, हर क्षण अपने-आप को मनवाना चाहता है। अपनी ज़िन्दगी, उसकी उपयोगिता और महत्व पर हर वक्त ज़ोर देता रहता है। यह ज़िन्दगी और उसकी चाहत है, जो उससे ऐसा कराती है। लेकिन हर आदमी उसके लिए अलग-अलग तरीक़े इस्तेमाल करता है। अश्क का तरीक़ा यह है कि वे किसी महफ़िल में ज़्यादा देर तक चुप नहीं बैठ सकते। अगर साहित्यिक

गोष्ठी नहीं है और साहित्य की चर्चा से काम नहीं चल सकता तो लतीफ़े ही सुनाने पर उतर आयेंगे। इससे भी काम न बना तो दो आदमियों को लड़वा देंगे। इससे भी काम न चला तो भरी महफ़िल में उठ कर बे-मतलब एक ज़ोर का ठहाका लगा देंगे। मतलब यह होता है कि किसी-न-किसी तरह लोग उनकी ओर आकृष्ट हो जायें। विभिन्न साहित्यकार अपनी ओर दूसरों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए भिन्न-भिन्न तरीक़े अपनाते हैं। मैं प्रायः ऐसी महफ़िलों में बहुत ही गम्भीर और मनहूस सूरत बना कर बैठ जाता हूँ, ताकि अगर साहित्यिकता का नहीं तो सूरत ही का रोब पड़े। बेदी हौले-हौले व्यंग्य-भरी फब्तियाँ कसते जाते हैं। मण्टो सीधे गालियों पर उतर आते थे। इस्मत और अब्बास इस टोह में रहते हैं कि कहीं कोई बहस छिड़ जाय और वे विरोध करें। महेन्द्रनाथ कन्धे हिला कर हाथापाई पर तैयार हो जाते हैं। जाँ निसार अख़्तर और मुहम्मद हसन अस्करी ऐसी ग़िब्बी (मूढ़) सूरत बना कर बैठेंगे—इस तरह कान लपेटे, आँखें मूँदे, कन्धे झुकाये सादर आप के सामने घुटने टेकेंगे और बीच-बीच में निहायत मिस्कीन स्वर में 'जी हाँ,' 'बिला शुबह,' 'बजा इरशाद फ़रमाया आपने,' कहते जायँगे कि आप को अपनी सर्वज्ञता में कोई सन्देह न रहेगा। बाद में उन लोगों की टीका-टिप्पणी से मालूम होगा कि मामला इसके बिलकुल उलट है।...साहिर लुधियानवी महफ़िल में सब से आख़िर में अपने दो-चार समर्थकों को ले कर बैठेंगे, सरदार जाफ़री सब से आगे आ कर बैठेंगे और सिगरेट सुलगाते, मुस्कराते हुए चारों तरफ़ इस तरह देखेंगे, जैसे कह रहे हों—देख लो, आ गया पहलवान अखाड़े में!...मतलब यह कि हर साहित्यकार सभा-सोसाइटी में अपने व्यक्तित्व के प्रदर्शन का एक ढंग रखता है और उसे सलीके से बरतना जानता है। हाँ, लेकिन कभी-कभी इस प्रदर्शन में उस समय झगड़ा हो जाता है जब दो अदीबों का ढंग एक-सा हो। जैसे मण्टो के लिए यह ज़रूरी था कि वह जिस महफ़िल में बैठे, सब से ऊँची जगह पर नज़र आये। और यदि किसी कारण ऐसा सम्भव न होता था तो वह कुर्सी पर पाँव उठा कर उकड़ूँ हो, गुसलख़ाने का पोज़ बना कर बैठ जाता था और फिर अपने तेज़ अमृतसरी लहजे में बारी-बारी सब को मल्लाहियाँ सुनाता था। अश्क का स्वर मण्टो से भी तीखा है, इसलिए जिस महफ़िल में ये दोनों इकट्ठे हो जाते थे, चिनगारियाँ उड़ती थीं।

इससे कहीं यह न समझ लिया जाय कि अश्क का मिज़ाज हर वक्त बिगड़ा रहता है। ऐसा नहीं है। आम तौर पर अपनी ज़िन्दगी में वे बड़ी नर्मी और मिलनसारी से बात करने के आदी हैं। उन्हें सिर्फ़ उस वक्त ग़ुस्सा आता है, जब वे देख लें कि कोई व्यक्ति अथवा साहित्यकारों का कोई दल उनकी काट करने पर

तुला है, या उनकी हैसियत की उपेक्षा करने का प्रयत्न कर रहा है। फिर वे अपनी ज़िद पर उतर आते हैं और उस व्यक्ति या दल से पूरा प्रतिशोध लेने की ठान लेते हैं। जब तक वे विरोधी को झुका न लें, अपनी बात मनवा न लें, उस वक्त तक वे अपना भी और दूसरों का भी खाना-पीना और जीना हराम कर देंगे। अगर नीयत नेक है तो अपने लिए बड़े-से-बड़ा कटाक्ष सहन कर लेंगे, लेकिन बदनीयत विरोधी का एक चुभता हुआ जुमला भी माफ नहीं करेंगे और जब तक उसकी तबीयत अच्छी तरह साफ़ न कर लेंगे, उन्हें चैन नहीं आयेगा।

मैंने ऐसा ज़िद्दी, मुस्तकिल-मिज़ाज, धुन का पक्का साहित्यकार बहुत कम देखा है। जब अश्क ने लिखना शुरू किया, उस ववत साहित्यकारों के लिए परि-स्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं। आज भी नहीं हैं। लेकिन उन दिनों का संघर्ष अत्यधिक तीव्र था। पर अश्क ने परिस्थितियों की परवाह न करते हुए, उन्हीं में से रास्ता निकालते हुए, न नौकरी की, न वकालत और साहित्य को ही अपना पेशा बना लिया। इसी धुन में उन्हें टी-बी हो गयी। उन दिनों टी-बी का कोई कारगर इलाज मौजूद न था। पर अश्क मैदान से नहीं भागे, न उन्होंने साहित्य-सृजन ही छोड़ा। वेहद कमज़ोरी के बावजूद वे जैसे अपने रोग से दाँत पीस कर कहते थे, 'साले मैं तुम्हें हरा कर दम लूँगा, ब्राह्मन-बच्चा हूँ, चाणक्य की औलाद हूँ—मैं तेरा तिया-पाँचा कर दूँगा, मुझे मारना आसान नहीं।' और दो बरस तक बीमारी से जूझने के वाद वे सफल हो गये और ऊपर से कई किताबें लिख लाये।

१९३४-३५ में लाहौर में हिन्दी के कुछ साहित्यिक आ गये थे। तब शायद किसी ने उन्हें तॉना दिया, आप उर्दू के अच्छे अदीब होंगे, पर हिन्दी की आप को समझ नहीं। बस अश्क को ग़ुस्सा आ गया और हिन्दी की तरफ़ पिल पड़े और इतना लिखा, इतना लिखा कि यारों को आख़िर उनकी हैसियत माननी ही पड़ी। किसी ने अगर कहा कि आप कहानीकार होंगे, नाटक की आप को क्या समझ है ? तो बस नाटक पर नाटक लिखने लगे। उन्होंने पहला नावेल 'सितारों के खेल' लिखा। किसी ने कह दिया कि यह क्या नावेल है, इसमें ज़िन्दगी नहीं, नावेल वो जो ज़ख़ीम हो और ज़िन्दगी से भरपूर हो, बस आपने कसम खा ली कि ऐसा ज़ख़ीम नावेल लिखेंगे जिसे सभी मानें और तब से अब तक उसी ज़ख़ीम नावेल के पीछे पड़े हैं। सुनता हूँ हज़ार पृष्ठ का छप गया है और अभी हज़ार पृष्ठ और लिखने की सोचते हैं। फिर किसी रेडियो के स्टेशन डायरेक्टर ने कहा कि आप सिर्फ़ तवील नावेल ही लिख सकते हैं, छोटा नावेल लिखना आप के बस में नहीं। अश्क ने एक नहीं, दो छोटे नावेल लिखे और रेडियो से ब्रॉडकास्ट कराये। लाहौर ही के दिनो में

पाठ्य-पुस्तक के रूप में एक नाटक लिखा। हिन्दी में नये-नये लिखने लगे थे, पहले से जमे हुए लोगों ने कोशिश की कि उर्दू-अदीब का वह हिन्दी नाटक टेक्स्ट में न हो, लेकिन अश्क ने वह नाटक न सिर्फ़ पंजाब की टेक्स्ट बुक कमेटी में मंज़ूर कराया, बल्कि जिन-जिन सूबों में हिन्दी थी, उनमें मंज़ूर करा के दिखा दिया और उसकी एक लाख से ऊपर प्रतियाँ बिकवा डालीं. . .मेरा ख़याल है कि अश्क केवल विरोध और तानों पर जीते हैं। अगर लोग उन्हें ताने देना या उनका विरोध करना छोड़ दें तो वे ठस-से बैठ जायँ या लिखने ही से इनकार कर दें। अधिकांश लोग अपनी ज़िन्दगी बेहतर बनाने के लिए हर काम करते हैं, अश्क महज़ दूसरों को जलाने के लिए अपनी ज़िन्दगी बेहतर बनाते हैं।

अश्क पर कभी-कभी आजिज़ी और इनकिसारी के दौरे भी पड़ते है, मगर निहायत ख़ास महफ़िल में और कभी-कभी, और सिर्फ़ दो-एक दोस्तों के सामने ! उनका यह रंग भी मैंने देखा है। कहाँ तो यह दावा कि अपने सामने अफ़लातून को भी ख़ातिर में न लायेंगे और कहाँ यह रंग कि 'नहीं कुछ नहीं भाई, ज़िन्दगी काट रहा हूँ, कुछ लिखा-लिखाया नहीं जाता, जो लिखा जाता है वह मज़े का नही होता—एकदम पोच; जी चाहता है सब लिखे-पढ़े को आग लगा दूँ और संन्यास ले कर हिमालय चला जाऊँ; लेकिन यह कौशल्या कमबख़्त साथ ही चलने को तैयार हो जायगी; और बच्चे अभी किसी काबिल हुए नहीं; दोस्त सारे अलग हो चुके हैं मुझ से और सेहत का यह हाल है कि किसी तरह सम्हलने का नाम ही नहीं लेती; कुछ खाया-पिया नहीं जाता; यह ईओसिनोफ़ीलिया साला बेतरह पीछे लगा है; साँस नहीं ली जाती; पसीने-पसीने हो जाता हूँ; मुझे तो इस वक्त भी हरारत-सी महसूस हो रही है। ज़रा नब्ज़ तो देखना मेरी. . .' मगर इस क़िस्म के मूड क्षणिक और अस्थायी होते है और मेरा ख़याल है, शायद मुँह का ज़ायका बदलने के लिए लाये जाते हैं।

अश्क की गाड़ी में यदि इनर्जी दोस्तों के तानों से आती है तो उनकी इंजिन-ड्राइवर उनकी पत्नी कौशल्या हैं। कौशल्या को अश्क की तबीयत के सारे कल-पुर्ज़े मालूम हैं। अधिकांश पत्नियों की यह आदत होती है कि वे उन कल-पुर्ज़ों में तेल देने के बदले रोड़े अटकाती रहती हैं और इस तरह अपने महत्व का अहसास दिलाती रहती हैं। पर कौशल्या ने अश्क के लिए अपने-आप को मिटा डाला है। वे सच्चे अर्थों में उनकी सहायक, साथी, सहयोगी, मित्र, प्रेयसी, प्रशंसक, आलोचक और न जाने क्या-क्या हैं। अश्क अपनी नित्य की बातचीत में इतनी बार कौशल्या

का नाम लेते हैं कि यदि सुनने वाला अपरिचित हो तो वह शायद उस प्रशंसा को अत्युक्ति करार देगा। पर कौशल्या के बारे में अश्क जो भी कहें, उसे प्रायः सत्य ही समझना चाहिए। अश्क अपनी आर्थिक, सामाजिक और साहित्यिक स्थिति में जिस दर्जे पर पहुँचे हैं, उसमें कौशल्या के अथक परिश्रम और प्रयत्नों का भी बहुत बड़ा हाथ है। कौशल्या को अश्क से काम लेना आता है, और ये दोनों अब व्यवसाय में, साहित्य में, सामाजिक जीवन में इतने लाज़िम-ो-मलज़ूम हो चुके हैं, इस क़दर गडमड हो चुके हैं कि अक्सर यह फ़ैसला करना मुश्किल हो जाता है कि कौन अश्क हैं और कौन कौशल्या, कौन पति है और कौन पत्नी ?

अश्क ने अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भिक दिनों में ही प्रकाशकों की ज़्यादतियों पर कुढ़ना शुरू कर दिया था। कई बार उन्होंने मुझे, बेदी को, अब्बास को और दूसरे दोस्तों को मिल कर एक पब्लिशिंग हाउस खोलने की सलाह दी, जिसे हम में से कोई भी अपनी सहलंगारी की वजह से मंज़ूर न कर सका। प्रकाशकों और लेखकों की आपसी समस्याओं को हम लोग ख़ूब जानते थे; प्रकाशक बनने के लिए जिस दिमाग़सोज़ी और शारीरिक श्रम की ज़रूरत है, वह हम सब में अश्क से बेहतर मौजूद था, पर वह कुढ़न हम में न थी। वह जलन, वह सख़्त बेज़ारी, भावना का वह प्रतिशोध-भरा रूप, जो हमारे प्रयत्नों की धारा को प्रकाशन की ओर मोड़ सकता, हमारे यहाँ नदारद था। लेकिन अश्क की ज़िद्दी तबीयत ने उनसे यह काम भी करा लिया। यदि वे अपने देश के प्रधान मन्त्री होते तो अब तक उन्होंने प्रकाशन-व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण कर दिया होता और प्रत्येक भाषा में साहित्यकारों के परस्पर सहयोग से सहकारी संस्थाएँ बना डाली होतीं। लेकिन चूँकि वे इस पोज़ीशन में नहीं थे, इसलिए उन्होंने ख़ुद ही प्रकाशन का काम शुरू कर दिया और आज उनकी गिन्ती हिन्दी के उच्च कोटि के प्रकाशकों में होती है। साहित्यकारों में ऐसे लोग बहुत कम पाये जाते हैं, जो उच्च कोटि के लेखक भी हों और उच्च कोटि के प्रकाशक भी, जो बराबर लिखते रहें, बराबर किताबें छापते भी रहें और उनकी अच्छी निकासी का प्रबन्ध भी करते रहें। लेकिन अश्क हमेशा चौमुखी लड़ाई लड़ने के आदी रहे हैं।

अश्क की सही साहित्यिक स्थिति के बारे में तो कोई साहित्य का इतिहासकार ही लिखेगा, पर मेरा ख़याल है उर्दू-हिन्दी के कथाकारों और नाटककारों में उन्हें हमेशा अगली पंक्ति में स्थान दिया जायगा। यद्यपि वे किसी क्षेत्र में सीमित नहीं

हैं—कहानी, नाटक, उपन्यास, कविता, आलोचना, संस्मरण, हास्य-व्यंग्य—साहित्य की हर विधा में उन्होंने अपनी लेखनी का ज़ोर आज़माया है और पूरी लगन, परिश्रम और अपनी योग्यता के उचित प्रयोग से उसे बनाया और सँवारा है। उपन्यास के क्षेत्र में उन्होंने 'गिरती दीवारें' लिख कर सामाजिक उपन्यासों में एक नये मार्ग का निर्देश किया है और अब वे इसके बाकी दो भाग लिख रहे हैं जो कुल मिला कर दो हज़ार पृष्ठों के होंगे।. . .अश्क मध्य वर्ग के सब से निचले दर्जे के लोगों की ज़िन्दगी पर शदीद गिरफ़्त रखते हैं और उसकी समस्याओं को हमदर्दी से समझने, परखने और लिखने में उन्हें अपूर्व दक्षता प्राप्त है। वे पेचदार लेखन-शैली में विश्वास नहीं रखते, बल्कि प्रेमचन्द की तरह सरल और शगुफ़्ता तर्ज़े-बयान पर ज़ोर देते हैं। जिस तरह वे जीवन के दूसरे क्षेत्रों में श्रमशीलता और निष्ठा से काम लेते हैं, उसी तरह साहित्य-क्षेत्र में भी श्रम और निष्ठा से अपनी क्षमता के सफल प्रयोग की कोशिश करते हैं। अपनी किसी रचना को निस्सन्देह दो-चार से लेकर छै-सात बार लिखना उनके लिए मामूली-सी बात है। यह नहीं कि क़लम उठायी और एक बार जो लिख गये सो लिख गये। मेरे ख़याल में वे अपनी रचना के आधारभूत विचार से भी लड़ाई करते हैं—'अच्छा तू काबू में नहीं आता, मैं देखता हूँ साले, तू कैसे काबू में नहीं आता ! मैं ब्राह्मन-बच्चा हूँ, चाणक्य की औलाद हूँ, जब तक तुझे चारों ख़ाने चित्त न गिरा लूँगा, चैन से न बैठूंगा, समझा क्या है तूने मुझे ?' मेरे ख़याल में वे किसी विषय अथवा विचार को उसकी उपादेयता, प्रभाव या सूक्ष्मता के कारण नहीं चुनते, बल्कि उसे चारों ख़ाने चित्त गिराने के ख़याल से उठाते हैं। एक बार लिखते हैं, दो बार लिखते हैं, दस बार लिखते हैं और उस वक्त तक लिखते रहते हैं, जब तक वे उसके तमाम पहलुओं पर पूरी तरह अधिकार न जमा लें। भला ऐसे में विचार या विषय कहीं भाग सकता है ! वह स्वयं करबद्ध सामने आ हाज़िर होता है और कहता है—'ख़ाकसार हाज़िर है, आप का ग़ुलाम है, हुक्म दीजिए।' अधिकांश साहित्यिकों के पास जो अलादीन का चिराग़ होता है, वे उसे सिर्फ़ एक बार रगड़ कर जिन्न को आदेश दे कर ख़ामोश हो जाते हैं। मगर अश्क के पास जो चिराग़ है, उसे वे बार-बार रगड़ते हैं और जब तक जिन्न को अपनी इच्छा के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म ब्योरों से आगाह न कर लें, चैन से नहीं बैठते। इसीलिए आप उनकी रचनाओं में तफ़सील-निगारी के आश्चर्यजनक नमूने देखेंगे, जो वर्षो के घोर परिश्रम का फल हैं।

अश्क पचास वर्ष के हो गये हैं। इस उम्र में बहुत से साहित्यिक बूढ़े हो जाते

है, लेकिन मेरे ख़याल में अश्क अभी जवान हुए है। मुझे विश्वास है कि अभी वे बरसों, बरसों जियेंगे, अपनी बाग़ो-बहार तबीयत से दोस्तों की महफ़िल में चहकते रहेंगे और अपनी इन्सानियत-परस्त रचनाओं से हिन्दी और उर्दू के साहित्य को मालामाल करते रहेंगे।

राजेन्द्र यादव

●●●

एक डाइनेमिक व्यक्तित्व

हर लेखक या तो दो 'पाप' कर चुका होता है या करने की साध पाले होता है और सु-अवसर की प्रतीक्षा करता है। एक : कि अपनी पुस्तकों का प्रकाशक वह स्वयं हो; दूसरे : उसके हाथ में एक पत्र हो। गुनाह आदमी किस उम्र पर कर गुज़रे, इसका कोई ठीक नहीं। प्रकाशक बनने का गुनाह मैंने लेखकीय जीवन के प्रारम्भिक दिनों में ही कर लिया था और तभी मैं अपने से पुराने और सफल (आदर्श ?) गुनहगारों के सम्पर्क में आया। पर नहीं, सम्पर्क में आने से पहले ही ये लोग मेरे इस 'साहस' के कारण या प्रेरणा भी बन चुके थे। आन्द्रेज़ीद, सॅमरसेट मॉम, टी० एस० इलियट, हावर्ड फ़ॉस्ट[1] की तरह जव अपने देश में भी श्री मैथिली-शरण गुप्त, वृन्दावनलाल वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, दिनकर, यशपाल, मनोज बसु—दिग्गज लेखक होने के साथ सफल प्रकाशक हो सकते हैं, तो मैं क्यों नहीं हो सकता ? इसी सूची में उन दिनों सब से ताज़ा नाम था उपेन्द्रनाथ अश्क का। अश्क जी की प्रकाशकीय सफलता की बहुत-सी किम्वदन्तियाँ उन दिनों सुनायी देती थीं। एक मित्र ने सान पर धरा और बस हम ने 'विश्व-साहित्य प्रकाशन' की घोषणा कर दी। इस से कम प्रकाशन का होना न होना बराबर था।

---

१. मैं जानता हूँ, इन नामों से अश्क जी को आध्यात्मिक कष्ट होगा। वे मज़ाक उड़ाते हुए कहेंगे—इन दयाँ-जुवाँ, गोगाँ और कैमुस (कामू—जिसे वे मुझे चिढ़ाने के लिए कैमुस कहते हैं) के बिना तेरा...इत्यादि...इत्यादि...

प्रकाशन तो ख़ैर क्या चलता, अश्क जी से पत्र-युद्ध ज़रूर हो गया। लेखकीय विशेषाधिकार का वास्ता दे कर हम ने उनसे अतिरिक्त कमीशन चाहा था— और अश्क-दम्पति थे कि हर बार हमें अपनी नियमावली भेज देते थे। मैं समझ नहीं पाता था कि लेखक होते हुए भी एक संघर्षशील लेखक की विशेषाधिकार की माँग को ये लोग कैसे अनसुना कर सकते हैं? 'व्यापारिक नियम' और 'लेखकीय आदर्श' को ले कर हम लोगों में तेज़-तर्रार पत्राचार भी हुआ। शीघ्र ही बात साफ़ भी हो गयी, लेकिन मेरे मन में बैठ गया कि ये लोग 'निहायत ही टर्चा' हैं। 'निहायत टची' और 'व्यापारिक सफलता'—ये दोनों बातें कहाँ सामंजस्य पाती हैं—इसे समझने में मुझे समय लगा।

और तब से इन दस वर्षों में मैंने अश्क जी को अनेक रूपों में, अनेक मनः-स्थितियों में देखा है—लेकिन जो रूप शेष सारे रूपों पर छाया रहा है, वह है एक 'यार-बाश' आदमी का रूप और जो मनःस्थिति मुझे प्रभावित करती है—वह है उनकी अतिशय आत्म-विश्वास की मनःस्थिति! आत्म-विश्वास अदम्य और अपराजेय जिजीविषा की अभिव्यक्ति है। और इस लिहाज़ से अश्क जी जैसा ज़िन्दा आदमी मिलना मुश्किल है। अक्सर मैंने उन्हें, 'मेरी तबीयत ख़राब है,' कहते या लिखते देखा है, मेरे सामने वे दवा भी लेते रहे है, सिर दबवाते रहे हैं और डॉक्टर के यहाँ भी गये हैं—लेकिन 'बीमार' मैंने उन्हें कभी नहीं पाया। लगता है—यह सब कहते और लिखते रहने का उन्हें अभ्यास हो गया है, और यह सिर्फ़ उनका तकियाकलाम है, वरना ऐसा आदमी कभी बीमार हो ही नहीं सकता।

इसी जीवनी-शक्ति का दूसरा रूप है उनकी कार्य-शक्ति और चुलबुलापन! जाने क्यों अश्क जी और गम्भीरता—ये दो शब्द मेरे दिमाग़ में साथ-साथ आते ही नहीं। सामान्य-से-सामान्य बात को निहायत मनहूस मुँह बना कर 'गम्भीरता' प्रदान करने वालों के बीच व्यंग्य और परिहास से मुस्कराते होंठ और आँखो की कुटिल चमक अकारण और अनायास ही कौंध जाती है और अश्क जी का ख़याल आ जाता है। गम्भीरता, बुज़ुर्गी, मनहूसियत, मुर्दनी अश्क जी के जीवन-कोश में नहीं है। महत्वपूर्ण-से-महत्वपूर्ण बात को वे ऐसी आसानी और लापरवाही से कह डालते हैं कि लगता ही नहीं, वे महत्त्वपूर्ण बात कह रहे हैं। ठहाके लगाते, नकलें उतारते, छेड़खानी करते, उन्हें किसी भी पार्टी, गोष्ठी में देखा जा सकता है।

कलकत्ते की सांस्कृतिक संस्था 'अनामिका' को संगीत-नाटक एकादमी का पुरस्कार मिला था और उन्होंने अशोक होटल (नयी-दिल्ली) में लोगों को चाय

पर बुलाया था। तय था कि अश्क जी हमारे यहाँ आयेंगे और हम लोग साथ ही चलेंगे। कपड़ों के बारे में मैं सोच ही रहा था कि रेशमी तहमद और ढीला-ढाला कुर्ता डाटे अश्क जी सीढ़ियों पर नमूदार हुए। हँसी के मारे मेरा बुरा हाल था। लेकिन वे निहायत ही इत्मीनान से चाय पर गये और सारे दिन उसी वेश में रहे। साथ ही यह कह कर मज़ा भी लेते रहे कि 'कौशल्या मुझे इस वेश में देख ले तो गोली मार दे!' कौशल्या जी की नियमबद्धता और अपने फक्कड़पने के अनगिनत किस्से उनके पास हैं और चूँकि उन किस्सों को वे स्वयं अनेक बार लिख चुके हैं, इसलिए उन्हे दोहराऊँगा नहीं। हाँ, सूत्र-रूप में इतना ज़रूर कहूँगा कि वेश और परिवेश दोनों पर छा जाने का उनमें अद्भुत गुण है और अपनी इस विजय का वे शैतान बच्चे की तरह आनन्द लेते हैं। कौन आदमी किस बात से चिढ़ता है, उसे कहाँ कोंच कर क्या प्रभाव पैदा किया जा सकता है, कैसे उसका कैरीकेचर किया जा सकता है—इस बात में उन्हें अपूर्व सिद्धि प्राप्त है!

और शायद अपनी पीढ़ी में वे ही अकेले ऐसे लेखक हैं जो उम्र और अवस्था की सारी दीवारें तोड़ कर नये-से-नये लेखक से उसी धरातल पर मिल सकते है, उसके कन्धे पर हाथ मार कर हँसी-मज़ाक कर सकते हैं और समान मित्र की तरह सलाह दे सकते हैं। इसलिए भय या श्रद्धा के स्थान पर एक अजब आत्मीयता का सम्बन्ध फ़ौरन स्थापित कर लेते हैं। हाथों को उलटने-पलटने की तरह घुमा कर कहते हैं—'और मैंने वो पटख़नी दी कि...' लेकिन उससे भी ज़्यादा मज़ेदार बात यह है कि मित्र और आत्मीय बन जाने की इस कला के बावजूद—नया या पुराना शायद ही कोई लेखक हो जिसे वे 'पटख़नी' न खिला चुके हों... मुझे तो लगता है, वे दोस्ती से अधिक 'दुश्मनी' ही ज़्यादा 'एंजॉय' करते हैं... उनकी मित्रता या आत्मीयता में सब से ज़्यादा दिलचस्प और सजीव क्षण वे होते हैं, जब वे अपने 'भूतपूर्व मित्रों या वर्तमान विरोधियों' की 'खिचाई' कर रहे होते हैं...मन तो यहाँ तक कहने को करता है कि अश्क जी मित्रों के बिना शायद रह लें—लेकिन शत्रुओं के बिना रह ही नही सकते...। हर क्षण उनके सामने कोई-न-कोई होना चाहिए, जिस पर वे अपनी वर्णनशक्ति, 'विट,' परिहास-वृत्ति माँजते रह सकें...उन्हें 'मित्र' बनाने की ही कला नहीं आती, 'शत्रु' बनाने की कला भी आती है...और हमेशा दिल धड़कता रहता है, ख़ुदा जाने इस सूची में अगला नाम किसका होने जा रहा है...। उनके इसी अन्तर्विरोध को लक्ष्य कर के एक मित्र ने कहा था: 'अश्क जी लेखक से अच्छे ऐक्टर, ऐक्टर से अच्छे वकील और वकील से अच्छे व्यापारी हैं...'

सुन कर मन हुआ: जैनेन्द्र जी की अदा में माथे पर तीन बल डाल कर कहूँ,

'वे सब कुछ हैं और कुछ भी नहीं हैं—अर्थात् होने-न-होने के बीच. . .कहिए ख़ुदा हैं।' उनसे तो नहीं, लेकिन एक बार अश्क जी से ही ज़रूर कह दिया था, 'आप से मिल कर ख़ुदा में विश्वास नहीं रहता।' वे बड़ी तन्मयता से अपनी और मण्टो की दुश्मनी का कोई प्रसंग सुना रहे थे। सहसा रुक गये। पूछा, 'क्यों?' 'क्योंकि जैसे-जैसे आप चाहते या सोचते हैं—सब कुछ उसी तरह हो जाता है. . .' कुछ देर सोचने का भाव दिखा कर छतफाड़ ठहाके में बात उड़ गयी। किस तरह उन्होंने 'दुश्मन' को नाच नचाये, या उसका 'नातिक़ा बन्द कर दिया' और किस तरह उनकी एक-एक चाल ठीक उसी तरह काम करती गयी, जैसे सोची गयी थी—और उस सब को कैसी लेखकीय अन्तर्दृष्टि और वकीली सावधानी से सारा-का-सारा वर्षों पहले 'चाक-आउट' कर लिया गया था—इस सब का साभिनय वर्णन करना उनकी प्रिय हॉबी है।

उनके लेखन के प्रकार को ले कर बहुत बहस की जा सकती है, वह अच्छा है या बुरा, इससे भी यहाँ कोई सरोकार नहीं है, लेकिन मुझे लगता है, वे दोस्त-दुश्मन, परिवारी-व्यापारी कुछ भी नहीं हैं——वे सिर्फ़ लेखक हैं—निहायत ही आत्म-केन्द्रित और निहायत ही परिश्रमी! उनके लिए दुश्मनी के पैंतरे और दोस्ती के गर्म हाथ—कौशल्या भाभी का संरक्षण और गुड्डे (नीलाभ) का प्यार—सभी कुछ अनुभव का अंग है, जीवन का नहीं—वे सिर्फ़ उन क्षणों को इसीलिए जीते हैं कि उन क्षणों के अनुभव को एक दिन कहकहों के साथ किस्से में पिरो कर सुना देंगे, उनके जीवन की हर घटना उनकी अनुभव-वृद्धि का एक ऐसा माध्यम हो कर आती है, जिसके नायक वे स्वयं होते है. . .

मैंने अश्क जी को हमेशा विराट, अनेकमुखी अनुभवों और भविष्य के मचलते सपनों के बीच की एक बेचैन कड़ी के रूप में देखा है. . .उनकी स्मरणशक्ति अच्छी है, इसलिए उनके साथ कब-कहाँ क्या गुज़रा—उन्हें सब याद है. . .न जाने कब-कब की पढ़ी हुई कहानियाँ—उपन्यासों के कथानक—सब कुछ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विवरण के साथ वे ज्यों-के-त्यों—शायद ज़्यादा प्रभावशाली तरीके से—सुना सकते हैं। चूँकि गम्भीरता का मुखौटा नही लगाते, इसलिए बिना निकट आये यह जान पाना भी मुश्किल है कि उन्होंने कितना पढ़ा है। नये-पुराने, देशी-विदेशी साहित्य के सम्पर्क में ही नही, वे उर्दू-हिन्दी की प्रायः सभी प्रमुख पत्रिकाओं के पाठक हैं। वे बीमार हैं, फिर भी हज़ारों पन्नों से कम में लिखने की बात नहीं सोचते। निहायत व्यस्त हैं, फिर भी गप-गोष्ठी में क्या मजाल जो उठने में पहल करें। 'भूतपूर्व मित्रों' से घायल हैं, फिर भी हर नये मित्र के लिए उन्मुक्त भाव से, समय, स्वास्थ्य, सामर्थ्य, सम्पर्क सभी से तैयार हैं। अनुभवों ने कड़ुवाहट

ला दी है, लेकिन दिल खोल कर हँस-हँसा सकते हैं—मनहूसी को पास नहीं फटकने देते . . .

अश्क अनेक—कहीं-कहीं अत्यन्त तीव्र—अन्तर्विरोधों की निर्मिति हैं। चूँकि प्रकृति से मस्त-मौला और फक्कड़ हैं, इसलिए किसी भी चीज़ को गम्भीरता से नहीं ले पाते। अपने घर के गम्भीर, शिष्ट और नियमबद्ध वातावरण में वे स्वयं रहते हुए नहीं लगते—टिके हुए लगते हैं। लगता है—कहीं कुछ ऐसा है—उनके भीतर—या बाहर—जो उनके व्यक्तित्व की मौलिक माँग के साथ मेल नहीं खाता—और शायद यह खण्डित व्यक्तित्व का ही अप्रत्यक्ष बोध है कि उनके लेखन और जीवन में एक अजब 'सिनिसिज़्म' झलक मारने लगता है। जो कुछ प्रिय और पवित्र है, उसे एक दुष्ट दिलचस्पी से खुरचने की प्रवृत्ति—अक्सर उनकी कई रचनाओं में दिखायी दी है . . . यह प्रवृत्ति लेखकीय निर्भीकता और तत्वगामी जिज्ञासा नहीं—एक गहरे अविश्वास और प्रतिशोध की सूचना देती है। . . . अन्तर्विरोध हर व्यक्ति मे होते है और कलाकार के भाग्य में तो उत्कट अन्तर्विरोधों का शिकार होना बदा होता है, लेकिन यहाँ उनका रूप दूसरा होता है . . . आन्तरिक रूप से यह उसकी संस्कृत (आदर्श) मनुष्यता और आदिम मानवता का निरन्तर अविश्रान्त युद्ध होता है . . . लेकिन अपनी मौलिक निष्ठा वह प्रिय और पवित्र पर ही रखता है . . . जहाँ-जहाँ और जब-जब यह निष्ठा टूटी है—पराजय के हताश उन्माद में कलाकार ने अविश्वास और प्रतिशोध के पंजों से अपने 'प्रिय और पवित्र' को ही नोचा है . . . मुझे नही मालूम अश्क जी की मानसिक प्रक्रिया में कहाँ, क्या कुछ ग़लत हो गया है, लेकिन इतने सम्पन्न व्यक्ति और परिवेश के बीच भीतर की यह टूटन, चौकाती अवश्य है . . . तब लगता है यह 'खीचना' और 'खेलना' मात्र मन-बहलाव ही नहीं है—किसी गहरी ट्रेजिडी की अनजाने प्रतिक्रियाएँ है . . . (प्रतिशोध ?)

अश्क जी 'आयु-जयी' ज़रूर है—काल-जयी हों-न-हों ! उनका श्रम श्रद्धा उपजाता है और उनके कहकहे उदास-से-उदास मन को चहका देते है। उनकी सलाहें . . . और अनुभव-सूत्र विकट क्षणों में रास्ता दिखाते हैं . . . और उनका पंजाबी खुलापन सारी दूरियाँ समेट लेता है। वे हर स्थिति में अपनापन (ऐट होम) महसूस करने लगते है, साथ ही अपने साथ वालों को घर-बाहर हर जगह यही अहसास करा देते हैं—और हर परिस्थिति का अधिकतम फ़ायदा उठाना जानते हैं—वे सफल लेखक हैं, समर्थ प्रकाशक हैं, सुखी परिवार के स्वामी हैं—लेकिन भीतर कहीं बहुत अकेले अनचीन्हें होने की कचोट—मुझे लगता है—उन्हें ज़रूर है। हो सकता है, यह कचोट उनके जीवन और अनुभवों की प्रौढ़तम कृति

का व्याकुल स्फुरण ही हो—क्योंकि उनकी जीवनी-शक्ति के प्रति मैंने हमेशा आदर-भाव रखा है। शायद इसीलिए जब वे चूना चाटते हुए तमतमा कर कहते हैं: 'मैं दुनिया भर का लफ़ंगा आदमी, मैंने मण्टो और राशिद जैसों को कुछ नहीं गिना—और ये पिद्दी न पिद्दी के शोरबे कहते थे. . .अश्क को. . .से उखाड़ देंगे—एक-एक करके ख़ुद उखड़ गये . . .।' तो कटुता नहीं जागती।

गर्द और कारवाँ

हर इक मुक़ाम से आगे मुक़ाम है तेरा,
हयात ज़ौके-सफ़र के सिवा कुछ और नहीं।

—इक़बाल

भैरवप्रसाद गुप्त

●●●

गर्द और कारवाँ

"अच्छा दोस्त अब चल दिये। ज़िन्दगी गुज़रे जा रही है और हम यहाँ खड़े शेखियाँ बघार रहे हैं। चलें कुछ काम करें! . . .जब मैं अथक काम करता हूँ, तो मेरा दिमाग़ भी ठीक से चलता है और ज़िन्दगी का भी अर्थ कुछ-कुछ मेरी समझ में आता है. . . !"

यह कैसी अजीब बात है कि मेरी नोट बुक में यह इबारत हू-ब-हू दो जगह दर्ज है। दोनों के बीच काफ़ी पन्नों का व्यवधान है, लेकिन इन दोनों इबारतों में एक शब्द का भी अंतर नही। अंतर मालूम होता है इन इबारतों के नीचे लिखे प्रसंगों के संकेतों से। लेकिन मैं इन संकेतों को प्रायः नहीं पढ़ता। किसने? कब? और कहाँ? का महत्व चाहे जो हो, मेरे आगे तो केवल बात का महत्व है। नोट बुक पलटते हुए अचानक ये पंक्तियाँ पढ़ कर सहसा मुझे लगा कि मैंने इन्हें नोट बुक में पहले भी कही पढ़ा है। और मैं एक-एक पृष्ठ पलटने लगा और एक जगह हू-ब-हू यही इबारत लिखी मिल गयी। सन्देह हुआ कि कहीं एक ही उक्ति को दो बार नोट करने की बेवकूफी तो मै नहीं कर गया? लेकिन नहीं, प्रसंग-संकेतों में भेद स्पष्ट था—चेख़ोव का एक पात्र—और—अश्क!

अश्क ने अपने यशस्वी जीवन का पचासवाँ वर्ष १४ दिसम्बर १९६० को पूरा किया है और मैं चेख़ोव के उस पात्र को ढूँढ़ रहा हूँ, जिसने अपने युग में यह बात कही थी, जो अश्क आज कहते हैं और सोचते हैं। क्या अश्क चेख़ोव के युग में

विराजमान थे ? होना तो चाहिए, क्योंकि अश्क-जैसा कोई प्राणी उस युग में न होता तो चेख़ोव का वह पात्र कैसे रूप धरता और क्योंकर वही बात उसके मुँह से हू-ब-हू निकलती, जो अश्क के मुँह से निकली।

मैं उस पात्र को ढूँढ़ रहा हूँ। ढूँढ़ रहा हूँ इसलिए कि वह मिल जाय तो उसे देखूँ और समझूँ कि वह अश्क से कितना मिलता-जुलता है——साफ़ कहूँ तो इसमें मेरा एक स्वार्थ भी है——मैं उस पात्र से कुछ संकेत ले कर अश्क के व्यक्तित्व पर कुछ लिखना चाहता हूँ——एक उस्ताद के चित्रण की रेखाओं के आधार पर एक उस्ताद के चरित्र के रंगों को उभारना चाहता हूँ।

ऐसा करना अपनी असमर्थता का ढोल पीटना है। मै मान लेता हूँ। लेकिन अश्क के बारे में लिखने की तैयारी करते समय चेख़ोव के पात्र में और अश्क में जिस साम्य का पता चला है, इसे मैं आकस्मिक नहीं मानता। लगता है जैसे इन दोनों इबारतों के माध्यम से मेरे मन में बहुत दिनों से बैठी हुई यह धारणा ही आज अचानक ज़बान पा गयी है कि अश्क को चित्रित करने के लिए एक चेख़ोव चाहिए। चेख़ोव——जिसके सामने बर्नार्ड शॉ ने अपने को नौसिखिया कहा है।

अश्क के व्यक्तित्व को एक-आध संस्मरण में उतार देना मुझे कठिन दिखायी देता है। अपनी सारी रोचकता, नाटकीयता, फक्कड़पन, बहुरुपियेपन तथा खुले-पन को लिये हुए भी उनका व्यक्तित्व इतना विषम, इतना गहरा, इतना विरल, इतना गम्भीर तथा इतना ठोस है कि एक-दो नहीं, सौ-पचास संस्मरणों के बल पर भी उनकी एक काम-चलाऊ तस्वीर उतार लेना कठिन है। जहाँ तक संस्मरणों का सम्बन्ध है, वह कौन व्यक्ति है, जिससे थोड़े समय के लिए भी अश्क मिले हों और उसके पास अपना एक संस्मरण न छोड़ आये हों ? अपनी ओर आर्कषित करने और अपना कोई-न-कोई प्रभाव दूसरे के मन पर छोड़ देने में अश्क ख़ूब ताक हैं। लेकिन इन संस्मरणों और प्रभावों के चित्रों की अगर नुमाइश लगायी जाय तो मेरा ख़याल है कि अश्क के परिचित तथा मित्र——अपनी तस्वीर के सिवा शायद दूसरी तस्वीरों को न पहचान सकें। हो सकता है कि मन में वे यह भी कह दें कि शेष तस्वीरें, अश्क की हो ही नहीं सकतीं। अश्क का व्यक्तित्व अपने परिचितों तथा मित्रों के लिए इसी कारण एक बहुत बड़ी समस्या है, जिसे सुलझाने का दम शायद ही कोई भर सकता है। अश्क-जैसा लोकप्रिय, साथ ही विवादग्रस्त व्यक्तित्व आज हमारे लेखकों में दूसरा नहीं है।

यह लोकप्रियता तथा विवादग्रस्तता बहुत हद तक अश्क की स्वयं अर्जित है। मुझे तो ऐसा लगता है कि अश्क ने ऐसा कर के अपने व्यक्तित्व के ऊपर एक

खोल चढ़ा लिया है, जिसे भेद कर उन्हें कोई नहीं देख पाता और वे उस रक्षा-कवच के भीतर बैठे मज़े से ज़माने पर हँसते रहते हैं।

बहुत से लोग तो अश्क की अपनी बातों के ही शिकार हैं। अश्क अपनी बातों से उन्हें उलझा देते हैं और इस खेल में एक आखेटक की तरह मज़ा लेते हैं। अपना असली रूप वे इन गलत बातों में एकदम छुपा लेते है। लोग उनकी बातों को चुभलाते रहते हैं और गर्द को ही कारवाँ समझ बैठते हैं।

इस खोल के भीतर बैठा शिल्पी सर झुकाये रात-दिन ठुक-ठुक करता जा रहा है। इस गर्द के नीचे से एक कारवाँ अपनी मन्द-मन्द गति से मंज़िल-पर-मंज़िल तै करता हुआ आगे बढ़ा जा रहा है।. . .शिल्पी कभी हँसता है तो मेरी आँखों के आगे उदासी बरसती है। कारवाँ की घंटियाँ कभी बजती हैं तो मेरे कानों में थकान की गूँज आती है।

जब भी मै कभी अश्क की बात सोचता हूँ, मेरे सामने थकन को अपने भीतर समेटता और गर्द को बाहर उड़ाता कारवाँ गुज़रनें लगता है और मैं सोचता हूँ—— कारवाँ के व्यक्तित्व को अपनी अकेली हस्ती में समोये इस व्यक्ति का चित्रण करने के लिए एक चेखोव की ज़रूरत है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त

●●●

चिर-तरुण

'अश्क' पचास वर्ष के हो गये, आश्चर्य लगता है! जितना साहित्य वे रच चुके हैं, उसके हिसाब से तो उनकी अवस्था कहीं अधिक होनी चाहिए। किन्तु जितनी ज़िन्दादिली और तरुणाई उनके व्यवहार में है, उसे देखते हुए उनके पचास वर्ष भी बहुत अधिक लगते हैं। वे सीटी बजाते हैं, लाहौर के फेरी वालों की नकल करते हैं, कहकहे लगाते है। ऐसे चिर-तरुण 'अश्क' भी अब अधेड़पन की अवस्था पार कर रहे हैं।

अश्क को बहुत समीप से मैंने पिछले लगभग दस-पन्द्रह वर्ष से ही जाना है, किन्तु उनके साहित्य से मेरा परिचय बहुत पुराना है। सब से पहले मैंने उनकी कहानियाँ 'हंस' में पढ़ी थी और 'गल्प-संसार-माला' की हिन्दी कहानियों में संकलित उनकी कहानी 'डाची' मुझे बहुत पसन्द थी। सन् ३८-३९ के लगभग की बात होगी। मैं सेण्ट जॉन्स कॉलेज आगरा में अध्यापक था। मेरे आलोचनात्मक निबन्ध 'साहित्य संदेश' और 'हंस' में छपने लगे थे। अश्क जी ने मुझे अपना एक कविता-संग्रह भेजा, जिसमें उनकी पहली पत्नी की मृत्यु पर लिखी कविताएँ संकलित थीं। साथ ही बहुत सुन्दर हस्तलिपि में लिखा मुझे एक पत्र भी मिला, जिसमें इन कविताओं पर आलोचना लिखने का मुझ से अनुरोध था। मैं उस समय उन कविताओं पर कुछ लिख न सका और अश्क जी मुझ से बहुत असन्तुष्ट हुए थे।

मैं अश्क जी की बहुमुखी प्रतिभा का बहुत प्रशंसक हूँ। उन्होंने उच्च कोटि

की काव्य-रचना की है, यद्यपि कवि के रूप में पाठक-समुदाय का उनसे कम परिचय है। लगभग एक वर्ष पूर्व 'परिचय' की एक गोष्ठी में उन्होंने अपनी अनेक नयी कविताएँ सुनायी थीं, जिनमें गहरी संवेदनशीलता थी। ये कविताएँ उनके प्रवास-काल में पहाड़ों के सौन्दर्य से प्रभावित हुई रचनाएँ थीं। और हाल ही में 'सड़कों पे ढले साये' शीर्षक से प्रकाशित हुई हैं।

पत्र-व्यवहार के इस प्रथम असन्तोषप्रद परिचय के बाद अश्क जी से मेरी दो बार और भी भेंट हुई। वे दिल्ली के आकाशवाणी केन्द्र में काम कर रहे थे और हिन्दी के कार्यक्रमों का संचालन कर रहे थे। 'आलोचक के सामने' शीर्षक वार्ता-माला में मुझे जैनेन्द्र जी से बातचीत करनी थी। मैंने कुछ प्रश्न और टिप्पणियाँ दिल्ली केन्द्र को भेज दीं। जैनेन्द्र जी के उत्तर मँगा कर अश्क जी ने एक बड़ी रोचक 'स्क्रिप्ट' तैयार कर ली। रिहर्सल मे अश्क जी चाहते थे कि मैं तेज़ी से और उत्तेजित स्वर में जैनेन्द्र जी से बोलूँ, किन्तु मै अपने स्वभाव के कारण असफल रहा। सन्तोष की बात यह थी कि इस विचार-विनिमय में जैनेन्द्र जी की अपेक्षा मुझे ही अश्क जी का समर्थन प्राप्त था।

एक बार और हिन्दी साहित्य-परिषद् के वार्षिक आयोजन के अवसर पर मेरठ में मुझे अश्क जी से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लेखकों के आर्थिक अधिकारों के सम्बन्ध में अश्क जी ने मुझ से बहुत-सी बातें की, जिनसे स्पष्ट था कि वे लेखकों के अधिकारों की रक्षा के सम्बन्ध में काफ़ी चिन्तित थे।

फिर अश्क जी बम्बई चले गये और प्रगतिशील लेखकों के बहुत समीप आ गये। साम्प्रदायिक दंगों के विरोध में उन्होंने एक नाटक 'तूफ़ान से पहले' लिखा, जिसका अभिनय जन-नाट्य-संघ की बम्बई-शाखा ने किया। सिद्धान्त की दृष्टि से अश्क हमारी टोली के ही एक सदस्य थे और मैं अपने को उनके बहुत समीप पाता था।

फिर अश्क क्षय-रोग से पीड़ित हुए और स्वास्थ्य-लाभ करने के बाद इलाहाबाद आ पहुँचे। अब दस-बारह वर्ष से अधिक उन्हे यहाँ रहते हुए हो गये हैं और मैं कह सकता हूँ कि मैं उन्हे अच्छी तरह जान सका हूँ। अश्क स्वभाव से मृदु और विनोदी तो हैं ही, किसी भी गोष्ठी को वे घण्टों हँसा सकते हैं। बातचीत को वे अपने इर्द-गिर्द ही केन्द्रित कर लेते हैं। उनकी कर्मठता का लोहा तो सभी को मानना होगा। उन्होंने और श्रीमती कौशल्या 'अश्क' ने अथक परिश्रम करके 'नीलाभ प्रकाशन' की जड़ें मज़बूती से यहाँ जमा दी हैं। अनेक संघर्षों और कठिनाइयों को पार कर के उन्होंने अपनी किश्ती किनारे लगायी है। किन्तु आराम का जीवन अश्क को शायद पसन्द नहीं है, क्योंकि वे आजकल कुछ उखड़े-उखड़े-से मालूम होते हैं और

कहीं चले जाने की बात करते हैं। उनके रक्त में मानो ख़ानाबदोश क़बीलों के कुछ तत्व हैं, जो उन्हें आराम से कहीं भी नहीं बैठने देते।

'अश्क' से उनके अनेक मित्र असन्तुष्ट हैं। अश्क भी लगभग अपने सभी मित्रों से असन्तुष्ट हैं। मुझे तो अपने प्रति उनके व्यवहार से कोई शिकायत नहीं है। सदा ही उन्होंने मुझे अपने परिवार के एक विशिष्ट सदस्य की तरह माना है और उसी के अनुरूप स्नेह दिया है। अश्क विरोध पसन्द करते हैं और उस पर पनपते हैं। वे कहते हैं कि वे बड़े 'ज़िद्दी' हैं। शायद हैं भी।

सन् १९५२ के उत्तर प्रदेशीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन की एक घटना याद आती है। अश्क को हम लोगों ने अपनी स्वागत-समिति का अध्यक्ष चुना था। कुछ हलकों से इस सम्मेलन का बहुत तीव्र विरोध हुआ और अश्क जी के कुछ मित्रों ने उन पर बहुत दबाव डाला कि वे इस सम्मेलन को सहयोग न दें। किन्तु अश्क दबाव से ढुलमुल होने वाले व्यक्ति नहीं हैं, और वे अपने स्थान पर अटल रहे।

अश्क जी के व्यवहार में कोई कमी नहीं है, यह कहना असम्भव है। किन्तु किस का चरित्र निर्दोष कहा जा सकता है? यदि मनुष्य को समाज में रहना है तो उसे समाज की त्रुटियाँ झेलनी पड़ेंगी। जो कुछ हमें मिलता है, उसे स्वीकार कर के हम आगे बढ़ते हैं। समाज की अग्रगामी शक्तियों के साथ अश्क कन्धा मिला कर खड़े हैं। यह महत्व की बात है। पिछड़ी शक्तियों के विरोध में उन्होंने अपना स्वर सदा उठाया है, यह सोच कर मैं उनको अपना मित्र मानने में गर्व का अनुभव करता हूँ। मैं यह भी सोचता हूँ कि अश्क साहित्यकार कहाँ हैं, दृष्टि इस पर केन्द्रित होनी चाहिए।

अश्क ने नाटक, काव्य, कथा-साहित्य और आलोचना-साहित्य को अपनी सबल लेखनी से समृद्ध किया है। पैंतिस वर्ष में लगभग पैतिस पुस्तकें उन्होंने हिन्दी को दी हैं। उन्होंने हिन्दी नाटक-साहित्य को एक नये और ऊँचे स्तर पर पहुँचाया है, कथा-साहित्य और काव्य को नयी संवेदनशीलता और प्रौढ़ता प्रदान की है, निबन्ध-साहित्य को गम्भीर और चिन्तनशील बनाया है। हिन्दी-साहित्य का हितैषी यही कामना कर सकता है कि अश्क और भी पचास वर्ष जियें और हिन्दी-साहित्य को इससे भी अधिक सम्पन्न और भरा-पूरा बना सकें।

ज़िन्दगी के
हसीन पहलू का प्रतीक

इन आबलों से पाँव के घबरा गया था मैं,
जी ख़ुश हुआ है राह को पुर-ख़ार देख कर।

—ग़ालिब

जगदीशचन्द्र माथुर

●●●

एक दिलचस्प व्यक्तित्व

पचास वर्ष की आयु कुछ ज़्यादा नहीं है, इसलिए अभी अश्क जी के व्यक्तित्व और कृतित्व के विषय में जो कुछ लिखा जायेगा वह एक तरह से अधूरा ही रहेगा। लेकिन जैसे पर्वतारोही अपनी मंज़िल के रास्ते में किसी चौरस स्थल पर खड़ा हो कर अपने पीछे छोड़ी हुई ढलान पर निगाह डाले, उसी तरह अश्क जी के लिए भी यह स्वाभाविक है कि वे इस समय उन साँसों और क़दमों का लेखा करें, जिनके सहारे उन्होंने अर्धशती का रास्ता पूरा किया है।

आत्मावलोकन अश्क जी को नार्सिसस की भाँति थोड़ा-बहुत सुहाता है। इस विषय पर उनकी एक कविता भी है—नवीनतम संग्रह* में। पर एक विशेष अंतर है नार्सिसस और अश्क जी में। पता नहीं और लोगों की निगाह में नार्सिसस कैसा लगता रहा हो, अश्क जी तो औरों की निगाह में भी दिलचस्प व्यक्ति रहे हैं। मैं समझता हूँ कि यह विशेषण 'दिलचस्प' उन्हें बेजा नहीं मालूम होगा। अंग्रेज़ी में दिलचस्प का पर्याय interesting है, लेकिन interesting शब्द का व्यवहार प्रायः तब किया जाता है, जब किसी व्यक्ति के बारे में स्पष्ट राय ज़ाहिर करने में कोई हिचकिचाये, लेकिन हिन्दी शब्द 'दिलचस्प' तटस्थता का द्योतक नहीं है। उसमें तो वही ध्वनि है जो यह कहने में कि 'अश्क जी आदमी ख़ूब हैं।'

किस आशय में अश्क जी को मैं दिलचस्प व्यक्ति समझता हूँ ? अर्से से उनकी

---

*सड़कों पे ढले साये।

रचनाओं से मेरा परिचय रहा है। उनकी प्रतिभा और मानसिक शक्तियों का मैं कायल रहा हूँ। दृष्टि उनकी पैनी है, गूढ़ बातों को समझते उन्हें देर नहीं लगती, हर तरह से तीव्र बुद्धि के आदमी हैं। लेकिन कुशाग्र बुद्धि के साहित्यकार और भी हैं। अश्क जी की एक विशेषता है। हिन्दी का मध्यवर्गीय साहित्यकार प्रायः समाज के प्रति अपने असन्तोष और विद्रोहों की अभिव्यक्ति करता है—रोषपूर्ण वाणी और व्यवहार द्वारा। अश्क इस तरह के सीधे वार में विश्वास नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि इसकी जड़ में एक निरुपाय कुण्ठा है, जो अपने हथियारों को बेकार समझ कर भी, उन्हें इधर-उधर घुमा कर ही थोड़ी-बहुत तृप्त हो जाती है। अश्क पैंतरे जानते हैं, गुरिल्ला पद्धति से परिचित हैं और भुलावे दे कर हँस-खेल कर भीतरी मार देने में कुशल हैं। इस कौशल की प्राप्ति अपनी भावुकता पर हावी हो जाने पर ही होती है, भावुकता ही नहीं—मैं तो कहूँगा—आदर्शों के आग्रह पर भी! व्यंग्यकार आदर्शों को दुतकार कर ही वह कवच धारण कर सकता है जो उसके मर्म को सुरक्षित रख सके, ताकि वार करते समय किसी भी तरह वह द्रवित न हो!

तो अश्क आदर्शवादी नहीं हैं। शायद यह फ़तवा मैं बहुत जल्दी दे रहा हूँ। कौन जाने अगले वर्षों में कोई अनजाना निर्झर फूट पड़े और हम लोग ताकते ही रह जायँ कि अविश्वास और तर्क की घनी पर्तों को तोड़ कर एक उल्लासपूर्ण आमन्त्रण मुखर हो रहा है। लेकिन अभी तक तो नहीं। न रचनाओं में, न लोक-व्यापार में। बहुत देखा है उन्होंने; बहुत भुगता है; बहुत परखा है; बहुत छीना है। छीना अधिक है, बैठे-बैठाये पाया कम है। इसलिए उद्यम और चातुर्य उनकी दृष्टि में जितने सार्थक हैं, उतना आदर्शों के मानदण्ड नहीं, तत्पर और सतर्क रह कर अपने हाथों अपना रास्ता बनाते-बनाते, वे ज़रूरत पड़ने पर ठोकर मारने से नहीं हिचकिचाते।

लेकिन ऐसा करते समय प्रायः वे आवेश और आक्रोश से बचे रहते हैं। एकाध स्थल पर आवेशग्रस्त होते ही उनके व्यंग्य की धार खुट्टल हो गयी है और उसी मात्रा में उनका वार भी ख़ाली गया है। लेकिन साधारणतया अपने पात्रों की कमज़ोरियाँ उन्हें उद्वेलित नहीं करतीं, यद्यपि यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे उन कमज़ोरियों के प्रति उदारहृदय होते हों। जीवन के संघर्ष ने उन्हें छोटी-मोटी बातों में उदार-हृदयता के प्रति सन्देहशील बना दिया है।

तो क्या अश्क जी की पैनी दृष्टि सर्वत्र ही कमज़ोरियाँ देखती है? ऐसा नहीं है। वह सौन्दर्य भी चीन्हती है और उसमें रम भी जाती है, बशर्ते कि वह सौन्दर्य-केन्द्र मानवेतर हो या समाज के उन अंगों से दूर हो, जिनसे अश्क जी का

व्यावहारिक सम्पर्क है। इसीलिए डलहौज़ी के हवा-घर के सामने पीले चाँद या विशाखापट्टनम् में सागर की उर्मियाँ अथवा अखनूर के पर्वत-शृंग—सभी अश्क जी के मानस-दर्पण में संश्लिष्ट सौन्दर्य के साथ प्रतिबिम्बित है। प्रकृति के एकाकी साहचर्य में न सिर्फ़ अश्क जी की तीव्र दृष्टि सजग रहती है, बल्कि उनकी आस्थाएँ सो जाती हैं और चातुर्य, तत्परता तथा व्यावहारिक कौशल के वे सभी बन्धन, जो जीवन-संघर्ष और सामाजिक सम्पर्कों के कारण उन्हें मजबूर-सा कर देते हैं, उस क्षण दो-टूक हो जाते हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य की मौजूदगी में अश्क का व्यक्तित्व निराली आभा से अभिभूत हो उठता है।

मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि उनके संघर्षशील व्यक्तित्व में आकर्षण नहीं है। असल में निजी तौर से मैं प्रभावित हुआ था उनके इसी पहलू से। 'हंस' में उनकी 'दीप जलेगा' नामक कविता पढ़ी। सम्पादकीय टिप्पणी से यह ज्ञात हुआ कि कवि सैनेटोरियम में मृत्यु से जूझ रहा है। और जीत गया। और उसके कई वर्ष बाद अश्क जी पटने आये अपनी किताबों का बैग ले कर। देश-विभाजन के बाद मेहनत और तत्परता से किस तरह उन्होंने अपने प्रकाशन-व्यवसाय को प्रयाग में चमकाया—अनगिनती कठिनाइयों के बावजूद—यह सब मैंने सुना। रास्ता जितना ही बीहड़ होता, अश्क के कदम उतने ही मज़बूत हो जाते, ठोकरें उन्हें और भी प्रगतिशील बना देतीं। और प्रयास एवं प्राप्ति के इस अभियान के दौरान में जान पड़ता है कि बर्गसाँ की जीवन-शक्ति Elan Vitale की बूटी उन्होंने चखी है। यह अपराजित जीवन-शक्ति ही अश्क को वह प्रखरता देती है, जिसके कारण उनका व्यक्तित्व गहरे माने में 'दिलचस्प' हो जाता है।

बलवन्त सिंह

●●●

ज़िन्दगी के हसीन पहलू का प्रतीक

भिन्न-भिन्न लोगों से हमारी सब से पहली मुलाकात भिन्न-भिन्न कारणों से याद रहती है। मुझे अश्क से अपनी पहली मुलाकात पन्द्रह-सोलह बरस गुज़र जाने पर भी नहीं भूली—इसलिए कि वह मुलाकात मेरी हार पर समाप्त हुई थी।

पाकिस्तान बना नहीं था, जून का महीना था। दो-ढाई बजे का समय, मैं लाहौर की एक जलती हुई सड़क पर एक शरबत की दुकान के सामने खड़ा शरबत के गिलास का इन्तज़ार कर रहा था। इतने में अश्क वहाँ आ निकले। मैं उन्हें पहचानता था। फ़ौरन पूछा, "शरबत पियेंगे?" उन्होंने कहा, "पी लेंगे!" पी गये और मुझे बड़े ग़ौर से देखा। मैंने फिर पूछा, "और पियेंगे?"

"पी लेंगे।"

पी गये और फिर मेरी ओर ऐसे देखा जैसे अब यह और क्या पूछेगा। मैंने हिम्मत कर के पूछ ही लिया, "और पीजिएगा?" उत्तर मिला, "पी लूँगा।" —चुनांचे पी गये...अब मैंने और नहीं पूछा। मैं समझ गया कि इनको सुबह ही भविष्यवाणी हो गयी होगी, इसलिए ये पूरी तैयारियों में हैं।...

जहाँ तक अश्क का मेरा सम्बन्ध है, उनके हाथों यह मेरी पहली और अन्तिम हार थी—अन्तिम इसलिए कि बाद में मैंने फिर कभी अश्क को मैदान में ललकारने की जुर्रत ही नहीं की।

सभी लेखकों की तरह अश्क के भी दो रूप हैं। उनका एक रूप तो उनके

साहित्य में उजागर होता है और दूसरा रूप उनके व्यक्तित्व में। पहले रूप के बारे में मैं कुछ नहीं कहूँगा। इसलिए कि मुझ से ज़्यादा काबिल लोग उनके बारे में बहुत-कुछ कह चुके हैं और बहुत-कुछ कहते भी रहते हैं। और फिर मुश्किल यह भी है कि वर्तमान में ज़िन्दगी की कद्रें कुठाली में पड़ी होती हैं, उनके बारे में हुकुम लगाना भले आदमी के लिए ज़रा मुश्किल होता है। अलबत्ता प्रोफ़ेशनल आलोचकों की बात अलग है. . . मगर जहाँ तक दूसरे रूप का ताल्लुक है, उसके बारे में पीठ-पीछे तो बहुत कुछ कहा ही जा सकता है, लेकिन एलानिया भी कुछ बातें कही जा सकती हैं।

इस सिलसिले में सब से बड़ी मुश्किल स्वयं अश्क की पैदा की हुई है. . . सभी जानते हैं कि अश्क का बहुत ही मनपसन्द मशग़ला अपने बारे में ग़लत-फ़हमियाँ फैलाना है। जब ग़लतफ़हमियाँ हद से ज़्यादा बढ़ जाती हैं तो फिर वे अपने बारे में ख़ुशफ़हमियाँ फैलाने लगते हैं। इस thesis और antithesis की रगड़ से एक Synthesis उत्पन्न होता है। थोड़ा ही समय गुज़रने पर यह Synthesis ग़लतफ़हमी मालूम होने लगता है। अब फिर ख़ुशफ़हमियाँ फैलायी जाती हैं. . . ग़रज़ इस तरह 'छेड़ ख़ूबाँ से चली जाय असद' वाली कैफ़ियत जारी रहती है।

इस मुश्किल की चाबी भी अश्क के पास है। वह यह कि चाहे कैसा भी गोरख-धन्धा क्यों न हो, उसकी कोई-न-कोई असलियत निकाल कर ही छोड़नी चाहिए। यह अलग बात है कि यह असलियत भी बाद में ग़लतफ़हमी—या तक़दीर बहुत अच्छी हुई तो—ख़ुशफ़हमी साबित हो। अगर मुझ से पूछिए तो मैं अश्क के सब गुण और दोष अपने सम्मुख रखते हुए भी उन्हें भीम, अर्जुन, राणा प्रताप, रुस्तम वग़ैरह की श्रेणी में रखूँगा। लेकिन उनके मुकाबिले में अश्क की श्रेष्ठता इस बात में है कि अश्क ने बकौल मीर तक़ी 'मीर' ज़िन्दगी भर अपनी नाकामियों से काम लिया है। साहित्य की दुनिया में इतना ही प्यारा और इतना ही बहादुर सम्भवत: एक ही व्यक्ति और पेश किया जा सकता है—वह था—आर० एल० स्टीवेन्सन।

स्टिक डैगरमैन (Stig Dagerman) ने अपनी संक्षिप्त आत्मकथा में लिखा है कि बच्चों के अन्दर बड़ी ही तीव्र रचनात्मक कल्पना होती है। ज्यों-ज्यों वे बड़े होते हैं, वह कल्पना उनके अन्दर मद्धिम पड़ती जाती है, लेकिन अश्क के बारे में तो यह बात बड़े यकीन से कही जा सकती है (आश्चर्य होता है जब हम देखते हैं) कि अश्क ने बेहिसाब मुश्किलो के बावजूद अपने अन्दर इस रचनात्मक कल्पना को मरने नहीं दिया। एक पते की बात और बता दूँ कि अश्क की यह विशेषता केवल साहित्य की रचना तक ही सीमित नहीं है।

बाइबिल में एक बहुत बड़े बहादुर, सैम्सन का ज़िक्र आता है। कहते हैं कि एक बार वह निहत्था दुश्मनों में घिर गया। उस समय एक मरे हुए गधे का जबड़ा उसके हाथ लगा। उसने उसी से बीसियों शत्रुओं का मुँह फेर दिया। यही बात अश्क पर भी लागू होती है। स्वास्थ्य की ख़राबी, बीमारी और ग़रीबी की हालत में अश्क की भी वही हालत थी, जो पहले सैम्सन की। अपनी इस मजबूरी की दशा में जबकि अश्क के पास जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए अच्छे स्वास्थ्य और दौलत के मज़बूत हथियार नहीं थे, उन्होंने सैम्सन का-सा बेढब हथियार उठाया और जीवन के संघर्ष में कूद पड़े। और फिर युद्धस्थल में अपनी जीत के झण्डे गाड़ दिये। थैकरे ने स्विफ़्ट के व्यंग्य करने के बारे में जो कुछ लिखा है, वही मैं अश्क के बारे में भी कहूँगा कि अगर अश्क के पिस्तौल की गोली ख़ाली चली जाय तो वह पिस्तौल की नाली थाम कर उसके बट से ही शत्रु की खोपड़ी खोल देते हैं—उनका शत्रु चाहे कोई व्यक्ति हो या उल्टी-सीधी परिस्थितियाँ।

ख़ुद अश्क की अपने बारे में फैलायी हुई ग़लतफ़हमी और ख़ुशफ़हमी के धुँधलके में से मैंने अक्सर झाँकने की कोशिश की हैं। इस धुँधलके के पीछे बैठे हुए इन्सान को देखा है तो हमेशा ही अश्क की अपूर्व क्रियाशक्ति (एनर्जी) और खरेपन (इंटेग्रिटी) को गर्द-गुबार में पड़े हुए हीरे की तरह दमकते पाया है। शायद यही कारण है कि अगर उनका जानी दुश्मन भी अच्छी चीज़ लिखेगा तो सब से पहले वह अश्क से ही उसकी दाद पायेगा। मेरे ख़याल में अश्क का ऐसा करना हमारे साहित्य के मौजूदा वातावरण में ताज़ा और सेहतमन्द लहू की एक लहर दौड़ा देना है। इसका साहित्य के स्वास्थ्य पर अच्छा ही असर पड़ेगा।

अश्क को देख कर ज़िन्दगी के एक बड़े हसीन पहलू का बहुत ही शदीद एहसास होता है। वह यह कि अगर मौत एक अटल हकीकत है तो ज़िन्दगी भी कम अटल हकीकत नहीं है :

एक टूटे से मक़बरे के क़रीब, इक हसीं जूएबार बहती है
मौत कितना ही एतराज करे, जिन्दगी बेक़रार रहती है।

साधारण शब्दों में इस शेर का मतलब यह हुआ कि एक पुरानी और टूटी हुई समाधि के निकट एक नन्हीं-सी तड़पती हुई नदी बह रही है। चाहे मौत कैसे भी अपनी डरावनी आँख चमकाये, ज़िन्दगी उस नन्हीं नदी की तरह खिलखिलाती, कूल्हे मटकाती और नृत्य करती आगे-ही-आगे बढ़ती जाती है।

अश्क को देख कर मुझे बराबर उस तड़पती हुई नदी की याद आती है।

●

हँसता हुआ आँसू

एक टूटे-से मक़बरे के क़रीब, इक हसीं जूए-बार बहती है,
मौत कितना भी एतराज़ करे, ज़िन्दगी बेक़रार रहती है।

—अज्ञात

फणीश्वरनाथ रेणु

●●●

किस्साख़ाँ

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नाम हमारे गाँव वालों ने पहली बार भिम्मल मामा के मुँह से सुना था—अज़ उपिन्दरनाथ अशक।

उन दिनों हमारे गाँव के पुस्तकालय में उर्दू की कोई पत्रिका नहीं आती थी। और मामा ने उर्दू पढ़ने का व्रत ले रखा था। व्रत तो नहीं, दौरा कहिए—उर्दू दौरा।

भिम्मल मामा ने इसके लिए आन्दोलन छेड़ने का अल्टिमेटम दिया—क्यों नहीं आयेगी उर्दू पत्रिका ? यदि कोई मेम्बर 'अज़ उपिन्दरनाथ अशक' का अफ़साना पढ़ना चाहे तो कहाँ पढ़ेगा ? कैसे पढ़ेगा ? . . . मत कहो इसको सार्वजनिक पुस्तकालय ! यह 'बहू-जनिक' अर्थात् केवल 'विवाहित आनन्द' पढ़ने वालों का पुस्तकालय है अब।

कई दिनों तक गाँव की अली-गली और हाट-घाट-बाट अश्क जी का नाम ले कर पुस्तकालय-अधिकारियों के विरुद्ध प्रचार किया था मामा ने।

किन्तु, जब अश्क जी ने हिन्दी में लिखना और छपाना शुरू किया तो मामा कैथी-लिपि के प्रचार में व्यस्त थे। देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा से चिढ़े हुए थे। एक बार 'कर्म योगी' अथवा किसी दूसरी पत्रिका में प्रकाशित अश्क जी की कहानी, उनकी सेवा में हम ने सूचनार्थ, अवलोकनार्थ भेज दी।

मामा निहाल हो गये—तो अब, उपेन्द्रनाथ अश्क ? पूरे साढ़े सात साल के बाद मामा ने देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा में प्रकाशित रचना का रस ले-ले कर ज़ोर-ज़ोर से पाठ किया था।

फिर, अपनी बृहत् भानुमति-पेटिका, उर्फ़ 'कजकोल' में उस कथा की कुछ पंक्तियाँ नोट करते हुए कहा था—अशक नहीं, अश्क ! 'कजकोल' में दुनिया भर की बातें संकलित हो रही थीं। साहित्य के सम्बन्ध में मामा की कई व्यक्तिगत मान्यताएँ थीं :

(क) चन्द्रकान्ता के बाद भारतीय भाषा में कोई उपन्यास लिखा ही नहीं गया।

(ख) अखिल भारतवर्ष में गुलाबरत्न बाजपेयी ही एकमात्र कथाकार हैं।

किन्तु, किसी सीरीज़ में प्रकाशित उर्दू की श्रेष्ठ कहानियाँ पढ़ने के बाद, बाजपेयी जी के साथ, अश्क जी का नाम नत्थी कर के उन्होंने प्रसन्न-घोषणा की थी—अब दो हुए। कथाकार बाजपेयी और किस्साख्वाँ अश्क ! कोच्छ नहीं, कोच्छ नहीं, ऑल बनस्पतिया।

'किस्साख्वाँ' अश्क को 'किस्साखाँ' होते देर नहीं लगी। आज भिम्मल मामा नहीं रहे, हमारे गाँव के नवीन और प्रवीण, सभी पाठक जानते हैं कि अश्क जी का ही दूसरा नाम किस्साखाँ है।

भिम्मल मामा-जैसा प्रेमी पाठक—अश्क जी या किसी भी लेखक जी का—दूसरा नहीं देखा। कहते—जब मेरा लेखक कविता, कहानी, नाटक, एकांकी, संस्मरण, यात्रा-विवरण, व्यक्तिगत निबन्ध, आलोचना-प्रत्यालोचना सब-कुछ लिखता है तो दूसरे लेखकों की चीज़ क्यों पढ़ें. . .इतना प्यारा नाम है किसी भाषा के लेखक का ?

एक दिन अपना 'कजकोल' खोल कर बोले—कोई बताये कि किस लेखक की पंक्तियाँ हैं. . .'बाश्शाहो ! मैंनूं तो जरलिज़्म-वरलिज़्म दा कोई तजरबा नेईं। . . .बाश्शाहो, कुत्ते दी मौत मरना होंदा तो एथे आवन दी की लोड़ सी ! . . . मैं साब नू आखिया—भई जे मेहरबानी करनी एँ ते हुन कर।. . .मैं कम्म सिक्खन दी पूरी कोशिश कराँगा। जो मैं एथे कामयाब हो गया ते साब ने मेरे नाल वादा कीता है कि मेरे लई तगमे दी सिफारिश करेगा।'. . .बोलो किस लेखक की पंक्तियाँ हैं ?

"गुलेरी की ?"

"नहीं, यशपाल की ?"

"तो, जी० पी० श्रीवास्तव. . ."

"वेढब ब. . ."

"मैं बतलाऊँ—किस्साखाँ की !"

भिम्मल मामा अपने गमछे के नीचे से एक नयी किताब निकाल कर बोले—

" 'एक स्रोत से फूट बह रही कब से यह—दो धारा !'...अश्क मेड ईज़ी... इसको पढ़ने के बाद अश्क-साहित्य को समझना सहज-सरल हो जायेगा।"

मामा ने इस बुझौवल के विजेता बुझक्कड़ को किताब दे कर कहा—"पढ़ो और बूझो कि अश्क क्या है।"

"लेकिन, इस संग्रह की कई कहानियाँ तो पढ़ी हुई हैं। जैसे...यह टेबललैण्ड।"

"बिना पढ़े किसी किताब के बारे में रायज़नी करने की हैसियत तुम्हारी नहीं हुई है अभी।"

देखते-ही-देखते गाँव में अश्क के प्रेमी पाठकों की संख्या एक से ग्यारह हो गयी है। उस दिन भिम्मल मामा की 'अश्क-विवेचन-गोष्ठी' में भिम्मल को जोड़ कर एक दर्जन सदस्य उपस्थित थे।

मामा ने प्रारम्भ किया—"सब से पहले एक ममतामयी महिला की शुद्ध स्वीकारोक्ति सुनिए। तो, महिला क्या लिखती है ? लिखती है—'मैं अभी स्नानादि से भी निवृत्त न हुई थी कि आप का (माने, अश्क जी का) छोटा भाई आ पहुँचा और मालूम हुआ अश्क जी को आये चार-पाँच घण्टे हो गये है। उनकी (माने अश्क जी की) तबीयत ख़राब है, ज्वर है और हॉकी खेलते हुए आँख पर गहरी चोट आ गयी है। मैंने कहा, आप चल कर अश्क जी से कहिए कि मैं आध घण्टे में पहुँच जाऊँगी।'

सक्षिप्त टीका : "यह पहली ही मुलाकात की बात है और अब तक परिचय बस चन्द पत्रों का। आगे चल कर रेखाचित्र-लेखिका लिखती है—'कुछ श्रद्धावश, कुछ इसलिए कि इतनी दूर से चल कर इनसे मिलने आयी थी—मैं चुप बैठी रही। यह जान कर कि शब्दों से खेलने वाले यह कवि महाराज हॉकी भी इस निष्ठा से खेल सकते है कि आँख फुड़वा लें।...इनके इस विचित्र फक्कड़पन के कारण इन्हें जानने की और भी उत्सुकता हो गयी थी।'

पुनः टीका : "मैं समझता हूँ और ठीक ही समझता हूँ कि इस किताब का नाम इस वाक्य के आधार पर पड़ा है—'इतनी दूर से चल कर इनसे मिलने आयी थी।' और, अश्क जी ने भी एक कविता में लिखा है :

और मैं दरिया
चिर का चला...!

तो, यह चिर का चला दरिया, इस नारी के सम्बन्ध में क्या सोचता है, सो सुनिए—'मैंने कौशल्या (रेखाचित्र-लेखिका) को देखने के पहले उसके पत्रों को देखा।... मैंने उसका पहला पत्र पाने के बाद ही उससे विवाह करने का इरादा कर लिया

था। यदि कौशल्या को पत्र लिखने में, और बात सच्ची हो या झूठी, लिखी हुई पंक्तियों में हृदय की समस्त भावना भर देने की अपूर्व दक्षता प्राप्त न होती, तो हमारे जीवन के अतीव उलझे हुए तार कभी न सुलझ पाते।'

"अब, विवाह के प्रारम्भिक दिनों की एक घरेलू तस्वीर, श्रीमती कौशल्या अश्क के शब्दों में, देखिए—'ऐसे ही एक बार जब अचानक कुछ मेहमान ज़्यादा आ गये, मैंने बैठक में इन्हें बुला कर कहा, बाकी तो सब ठीक है, पर बैंगन का भुर्ता कुछ कम है। कोई रह न जाये। कहिए तो जल्दी से दो बैंगन मँगा कर भून लूँ। बोले, तुम चिन्ता न करो। सब ठीक हो जायगा। . . .जब समय पर सब खाने को बैठे, मैंने भुर्ते की प्लेट की ओर संकेत किया। इन्होने भुर्ता उठाया और अपनी प्लेट में पर्याप्त मात्रा में डाल कर बोले—देखो भाई, यह तरकारी इतनी ही है। लेते समय दूसरों का भी ध्यान रखिए।' "

एक सदस्य कुछ बोलने को हुआ तो भिम्मल मामा ने बोलने ही नहीं दिया—"मैं जानता हूँ कि तुम क्या कहना चाहते हो। यही न कि मैं बैंगन नहीं खाता। सचमुच, इस महिला, माने श्रीमती कौशल्या अश्क, को अपनी पंक्तियों में 'हृदय की समस्त भावना' भर देने की अपूर्व दक्षता प्राप्त है।" क्षणिक अन्तराल के बाद मामा ने कहा—"अन्तिम पंक्ति है, 'अब यक्ष्मा से पीड़ित पिछले एक वर्ष से पंचगनी के एकान्त में पड़े हैं।' "

मामा का गला भर आया। आँखों की पुतलियाँ एक-दो बार अस्वाभाविक ढंग से नाचीं। मैंने कहा—"मामा, आज यहीं तक रहे। . . ."

लगा, बारूद की ढेरी में आग की चिनगी पड़ गयी। न जाने कब से मुझ पर सुलग रहे थे—अन्दर-ही-अन्दर। फट पड़े—"मैं जानता हूँ, तुम्हारे दिल में बहुत पुराना पाप समाया हुआ है। तुम लोग अश्क के अमंगल की कामना करते हो, क्योंकि वह 'हंसवादियों' के साथ लिखता-पढ़ता है। 'नया साहित्य' का एक अंक भी पुस्तकालय में रहने दिया है तुम लोगों ने? 'पक्का गाना' किसी ने देखा भी नहीं, सरसरी निगाह से भी नही। . . .क्षुद्रता की भी सीमा होती है। . . .बड़ा भारी रिपोर्टाचार्ज लिखने वाला समझ लिया है अपने को. . .तुम तो पेटी-राइटर भी नहीं। . . .हृदयहीनो। . . .इतिहास साक्षी रहेगा। . . ."

इसके बाद दो-चार ग्राम्यगालियाँ। इससे भी जी नही भरा तो राजनीतिक गालियाँ—मनशेविक्खो! सामाजिक दीमको (सोशल डेमोक्रेट) ट्रेटर आदि-आदि। हम समझ गये, तीन-चार दिनों तक गालियों की वर्षा होती रहेगी, निरन्तर। . . .उनकी गालियों का बुरा नहीं माना हमने, कभी।

तीन-चार दिनो तक अपने दो दर्जन शिष्यों को ले कर अश्क-साहित्य-प्रचार

का काम शुरू किया।...अश्क जी की किताबें ख़रीदने का अर्थ है, एक साहित्यकार की कीमती जान की रक्षा।

एक सप्ताह के बाद आये तो अपेक्षाकृत शान्त थे। बोले—"मैं तुम से ऐकान्तिक बात करने आया हूँ।...प्रार्थना है, तुम शीघ्र पटना जाओ। जाँच करवाओ। तुम्हारी सूरत देख कर मैं डर गया हूँ। 'दो धारा' में छपी अश्क की तस्वीर देखी है न?"

मुझे लगा, मामा ने मेरे सब से कमज़ोर स्थल को छू दिया। मामा ने कहा—"अश्क का नाम लेते ही तुम्हारा चेहरा पीला क्यों पड़ जाता है?"

टटोल कर देखा, गत दो-तीन वर्ष से अश्क की रचनाओं को पढ़ कर भी नहीं पढ़ता था। जब से मालूम हुआ कि अश्क टी० बी० का शिकार हो गया है, तभी से यह उपेक्षा, यह उदासीनता घनी होती गयी।...अश्क का नाम लेते ही मुझे अपने फेफड़ों में फलते-फूलते रोग का ख़याल होता। जेल में थिकेंड-प्लुरा हुआ था। अस्पताल से रिहा होते समय प्रसिद्ध डाक्टर टी० एन० बनर्जी ने चेतावनी दी थी—दौड़-भाग नहीं। आरामकुर्सी में पड़े-पड़े जितना 'राजा वज़ीर' मारो कोई बात नहीं।...वज़न दिन-दिन घटता जा रहा था।

भिम्मल मामा के सदुपदेश को तुरत मन से मिटा दिया, क्योंकि...बहुत बड़ी-बड़ी बातें होने जा रही थीं।...महत्वाकांक्षा के सामने रोग के कीटाणु!

नेपाल में क्रान्ति का बिगुल बजा।

भारतीय स्वतन्त्रता के संग्राम में सैकड़ों नेपाली नौजवानों ने भाग लिया था। आठ साल की उम्र से ही जिस 'नेपाल-माँ' ने अमृत पिला कर—पाल-पोस कर बड़ा किया—उसके लिए मुझे कुछ नहीं करना है?...करना है—ईस्टर्न कमाण्ड के 'सी-इन-सी' ने खुद पत्र लिखा है—यहाँ आ कर देखो, मृत्यु कितनी प्रिय है...कितने पिता, कितने पुत्र एक ही साथ मरने के लिए तैयार हैं। आ जाओ।...

फिर, सब भय दूर हो गया—रोग से घुल-घुल कर मरने से अच्छा है कामरेड कुलदीप की तरह मोर्चे पर मरना।

आवश्यक काम से पटना जाने का आदेश मिला। पटना आ कर चार-पाँच दिन के लिए रुक जाना पड़ा।

बन्धुवर नर्मदेश्वरप्रसाद ने कहा—आज शाम को मेरे डेरे पर आइए। अश्क जी पटना आये हुए हैं। आज शाम को हम लोगों ने चाय पीने के लिए बुलाया है।...विश्वमोहन जी, गोपी जी वग़ैरह रहेंगे।

अश्क जी काली शेरवानी और काली टोपी पहने, छड़ी घुमाते हुए आये। बातचीत शुरू हुई समाजवादी यथार्थवाद से, और समाप्त हुई 'नया साहित्य' में

प्रकाशित 'पक्के गाने' के बोल पर। कहना न होगा कि बात अच्छी तरह जमी पक्के गाने के बोल पर हो।...सजनी-ई-ई...तड़पत हूँ मैं निस-दिन रजनी-ई-ई...ओ सजनी...ओ रजनी।

मैं सिर्फ़ यह पूछना चाहता था कि अब आप पूर्ण स्वस्थ हो गये हैं या नहीं?

ठीक दो महीने बाद एक दिन हठात् खून की कै करने लगा। रक्त थूकते समय मैं कभी टेबललैण्ड, कभी पंचगनी...अश्क...दीनानाथ...कासिम भाई का नाम लेता। उस समय ऊल-जलूल बोलने मे एक अभूतपूर्व आनन्द आता था। न जाने क्यों?

भिम्मल मामा पर पिछले पाँच-सात महीनों से फिर तन्त्र-मन्त्र का भूत सवार हुआ। झाड़-फूँक, टोटके-टोने से ले कर श्मशान तक जगाते फिरते।

पटना आने के समय, एक बार उलट कर अपने गाँव की ओर देखा, सब-कुछ धुँधला! भिम्मल मामा पर नज़र पड़ी। दस-बारह दिन के बाद घर लौट रहे थे। स्टेशन पर कवच बाँध देने के बाद, बटुए से दस-दस रुपये के कई नोट और मुट्ठी-भर रेज़गारी निकाल कर बोले—सोचा था, अपने बीमार लेखक अश्क को भेजूँगा। सात-आठ महीने में झाड़-फूँक में जो 'चिरागी' के पैसे हुए...एक सौ एक। अश्क जी तो अब स्वस्थ हो गये...घबराना मत। तुम भी सेब-जैसे लाल-लाल गाल ले कर लौटोगे। चवन्नी, अठन्नी, दुअन्नी...सिन्दूर में सनी हुई रेज़गारी। एक बार फिर उलट कर गाँव की ओर देखा—अब धुँधला नहीं? सारा गाँव सिन्दूर में सना हुआ।

अस्पताल में जब भी मामा का पत्र मिला, अश्क जी की चर्चा उस में ज़रूर होती—अश्क का नया नाटक प्रकाशित हुआ है...एक कहानी फिर छपी है।

रोग-मुक्त हो कर, पूर्ण स्वस्थ मन-प्राण ले कर गाँव लौटा। स्टेशन पर ही मालूम हुआ, भिम्मल मामा नहीं रहे। किसी लेखक का ऐसा पाठक नहीं देखा, जिस ने अपने कथाकार के पात्र की पात्रता प्रमाणित की हो।

१९५३-५४ में दूसरी बार फिर पटना में ही अश्क जी का दर्शन प्राप्त हुआ। वीरेन्द्र के साथ आये और पाँच मिनट ठहरे, मेरे डेरे पर। किन्तु पाँच ही मिनट में स्वास्थ्य, साहित्य और संसार के सभी प्रश्नों को हँसी-ठहाके में उड़ा कर चले गये।

उसी दिन शाम को दिल्ली से आये हुए उपन्यासकार यज्ञदत्त शर्मा के सम्मान में आयोजित चाय-पार्टी में एक अप्रिय घटना घट गयी। यज्ञदत्त जी अपने शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले उपन्यास में उठायी गयी समस्याओं पर बोलने लगे। बहुत अच्छी तरह बोलते जा रहे थे कि उनकी दृष्टि अश्क जी और छविनाथ पाण्डेय जी

पर पड़ी, जो आपस में 'कानाफूसी' कर रहे थे। यज्ञदत्त जी क्रोध से थर-थर काँपने लगे। बोले—अश्क जी, पहले आप लोग अपनी बातचीत समाप्त कर लीजिए तो मैं बोलूँ। अश्क जी के चेहरे पर एक बार क्रोध की रेखा अंकित हुई। किन्तु तुरत बिला भी गयी। चूना चाटते हुए नम्रतापूर्वक बोले—भई, मैं तो तुम्हारे ही बारे में छविनाथ जी को बतला रहा था।...तुम्हारी तारीफ़ ही कर रहा था।

यज्ञदत्त फिर नहीं उठे, शायद। उस दिन की घटना की जब-जब याद आती है, एक-दो प्रश्न मेरे मन में बार-बार उठते हैं कि श्रद्धेय पाण्डेय जी और अश्क भाई की कुर्सियाँ आसपास संयोगवश ही लगी होंगी।...अश्क जी, अन्त तक यज्ञदत्त जी को समझाने की चेष्टा करते रहे। किन्तु पाण्डेय जी एक शब्द भी नहीं बोले। सो, क्यों?

अश्क-परिवार के साथ दिल्ली जा रहा हूँ और सारी बातें याद आ रही हैं, सिलसिलेवार। कौशल्या भाभी अपने पति-पुत्र को रह-रह कर मीठी झिड़की देती हैं—'नीलाभ बेटे, खिड़कियों को मत खोलो।...अश्क जी, प्लीज़ बी कंसिडरेट.. बेचारे अभी से बिचले बर्थ पर जा कर कैसे लेट सकते हैं?' सहयात्री बेचारा कृतज्ञता-भरी आँखों से कौशल्या भाभी को देखता है और अश्क जी अपनी टेक पकड़ते हैं—'लेकिन रेणु भैरव ने तो कहा'...अश्क जी 'द्वितीय मत' अपने अनुपस्थित मित्र भैरवप्रसाद गुप्त जी के नाम से प्रकट करेंगे—'लेकिन, भैरव ने तो कहा...'

रात्रि-भोजन के बाद हम अपने बर्थ पर जा कर लेट गये। पिता ने सोने के पहले नारा लगाया—'हे-ए चेय गेरेम।'

सब से ऊपर वाले बर्थ पर लेटे हुए पुत्र ने खनखनाती हुई आवाज़ में प्रत्युत्तर दिया—'मोंगफेली हे-ए।'

कौशल्या भाभी ने एक ही साथ दोनों को धमकी दी—'ऐ। क्या हो रहा है यह!' और विश्वास कीजिए, इसके बाद पिता-पुत्र दोनों ने चूँ शब्द भी नहीं किया।

मुझे रात-भर नींद नहीं आयी।...यह सदाबहार लेखक! पटना में उस बार रंगीन तबीयत के एक प्रकाशक मित्र ने कहा था—यह आदमी, अजब-अजब कारबार करता रहता है।...संकलन के लिए लेखकों से रचना उगाहने के लिए, लेडी लिटरेरी-एजेंट रखा है।...एक दुखी लेखक मित्र ने घण्टों बैठ कर यह समझाने की चेष्टा की थी कि अश्क अवसरवादी है।...मैं अपने से पूछता हूँ—क्या मैं अवसरवादी नहीं हूँ? स्वार्थी नहीं हूँ, मैं?...मेरा सौभाग्य कि इतने बड़े लेखक के साथ यात्रा कर रहा हूँ।

प्रथम अधिवेशन के दिन अश्क जी को कहीं चैन से बैठते नहीं देखा। वातावरण में बेचैनी थी। इसको किसी तरह शान्त करना आवश्यक था।. . .प्रयाग के ही एक मित्र ने कहा—'तो आप समझते हैं कि अश्क जी वातावरण शान्त करने के लिए बेचैन हैं। अहमक हैं आप।. . .'

हमारे मेज़बान ने रात्रि-भोजन के लिए यशपाल, अश्क और भगवतशरण उपाध्याय को बुलाया है। यह सुन कर कोई दूसरा प्रोग्राम हम ने नहीं बनाया।

अश्क और यशपाल जी में बातें होने लगीं। उपाध्याय जी बीच-बीच में बोलते थे ? मुझे सुनने के सिवा और कुछ नहीं करना है। किसी पक्ष की बात पर अधिक मुस्कराना या गर्दन हिलाना भी हमारे लिए शोभनीय नही। हिन्दी के दो प्रख्यात कथाकार आपस में बातें कर रहे है। मेरे पूर्व-जन्म का पुण्य है कि मैं उन लोगों के पास बैठ कर यह सब देख-सुन रहा हूँ।. . .यही क्या कम है।

अश्क जी ने उपर्युक्त रात्रि-भोजन के अवसर पर हुई बातचीत की चर्चा अपने किसी वैयक्तिक निबन्ध में की है। यशपाल जी भी लिख सकते हैं। मुझे बहस का विषय याद नहीं।. . .दो बड़े-बुजुर्गों के बतियाने के तौर-तरीके और ढंग को ग़ौर से देखना आसान काम नहीं। रह-रह कर मेरी नज़र कौशल्या जी की कलाई पर बँधी घड़ी पर जाती। फिर, प्रकाशवती जी की घड़ी पर।

भोजन करते समय भी दोनों एक-दूसरे से उलझे रहे। दोनों ही कलाकार, तेज़-कुन्द व्यंग्य का आवश्यकतानुसार उपयोग करना दोनों जानते हैं। मैं शुरू से ही बीच-बीच में यशपाल के चेहरे को अश्क जो के दृष्टिकोण से देख लेता—बिगड़ा हुआ ईसाई अफ़सर।

प्रयाग में ही एक नवोदित कवि के मुँह से अश्क-निन्दा सुन कर मैंने उनसे विनयपूर्वक कहा था—'कल्पना कीजिए अश्क जी प्रयाग छोड़ कर और कहीं जा बसे हैं।'

नवोदित कवि ने मुस्करा कर आँखें मूँद लीं। फिर ठठा कर हँस पड़ा—'बड़ा फीका हो जायेगा यहाँ का साहित्यिक समाज।'

अश्क के बारे में हर तीसरे महीने कोई-न-कोई गुल खिलता है। हर बार, ठहाका मार कर हँसते हुए, किसी मित्र की पीठ पर थाप देते हुए, अश्क जी कहेंगे—'भाई, मुझे तो जो कुछ कहना-करना था, कह दिया, कर दिया। अब बैठ कर आनन्द ले रहा हूँ।. . .लोग परेशान हैं। मुझे तो मज़ा आता है।'

—बादशाहो कुत्ते दी मौत मरना होंदा तो एथे आवन दी की लोड़ सी ? . . .

और मैं दरिया, चिर का चला।...चपरकनाती।...नीला थोथा घोल के या दही में डाल के...इन तकिया-कलामों को अश्क के मुँह से दिन-भर में एक सौ बार सुन कर भी एक बार फिर सुनने का जी करेगा, आपका। और तब अश्क फिर एक कहकहा लगा कर कहेंगे—लेकिन, यार। भैरव ने तो कहा...

ख़्वाजा अहमद अब्बास

●●●

हँसता हुआ आँसू

मानव-सम्बन्धों का सिलसिला आवागमन के चक्कर से कम दिलचस्प और आश्चर्य-जनक नहीं है।

१९३२—अलीगढ़ में मेरे मित्र अंसारुलहक हारवानी ने एक दुबले-से, सूखे-से, पिचके हुए गालों और लम्बे बालों वाले युवक से मेरा परिचय कराया—"अब्बास! इनसे मिलो। ये हैं मेरे भाई असरारुलहक—शायरी करते हैं—तख़ल्लुस है मजाज़।"

१९३८—दिल्ली के रेडियो स्टेशन में (जो उस वक्त अलीपुर रोड के एक बँगले में था) दुबले-पतले असरारुलहक मजाज़ ने एक ठिगने-से, ख़ूबसूरत-से, ऐनक पहने हुए युवक से परिचय कराया—"अब्बास! इनसे मिलो। यही हैं कृष्णचन्द्र एम० ए०। 'साक़ी' और 'अदबी दुनिया' में तुमने इनकी कहानियाँ पढ़ी होंगी।"

१९४६—बम्बई में मेरे फ़्लैट में कृष्णचन्द्र अपने साथ किसी को ले कर आये और कहा—"अब्बास! इनसे मिलो—यह है अपना यार उपिन्दर! उपेन्द्रनाथ अश्क!"

और इससे पहले कि मैं कह पाता—'मुझे आप से मिल कर बड़ी खुशी हुई'—सारा कमरा अश्क के ठहाकों से गूंज उठा, बल्कि हिल गया, जैसे एकदम भूँचाल आ गया हो और मैंने देखा कि कृष्ण का मित्र एक नुकीले नाक-नक़्शे वाला नौजवान है, जिसके चेहरे पर रेखा-गणित की सीधी लकीरें और कोण-ही-कोण हैं (जैसे

क्यूबिस्ट-आर्ट की तस्वीरें होती हैं) कहीं गोलाई नहीं है! शायद इसलिए कि उसकी नाक बहुत तीखी और नुकीली थी या इसलिए कि उसके शरीर पर अतिरिक्त गोश्त का नाम तक नहीं था। ऐसा लगता था कि हड्डियों के ढाँचे पर खाल को खींच कर मँढ़ दिया गया है। केवल ऐनक के फ़्रेम में गोलाई थी, लेकिन उसमें से झाँकती हुई आँखें ऐसे घूर रही थीं जैसे उनको दुनिया में हर तरफ़ रेखाओं और कोणों के सिवा कुछ दिखायी न दे रहा हो और जो इस निरर्थक गोरखधन्धे पर एक कड़वे और तीखे अन्दाज़ में हँस रही हों।

उसका ठहाका भी सुकोमल और मांसल नहीं था, बल्कि टेढ़ा, बैंगा, खुरदरा और नुकीला था, जैसे उसमें चारों तरफ़ तीर चल रहे हों। . . .उस भेंट के बाद जब मैंने अश्क के उपन्यास और कहानियाँ पढ़ीं तो उनमें भी मुझे ज़िन्दगी के ढकोसलों और ढोंगों पर वही तीर चलते हुए दिखायी दिये। अगर हम अपने चन्द-एक अफ़साना-निगारों के फ़न का मुक़ाबिला करें तो यह कहा जा सकता है कि कृष्णचन्द्र ज़िन्दगी की यथार्थताओं को, जो उसे ज़ुल्म की सर्दी में ठिठुरी हुई मिलती हैं, अपनी इन्सान-दोस्ती और रोमानियत की नर्म और गर्म चादर ओढ़ा देता है। इस्मत चग़ताई जब प्रथाओं और रिवाजों के पीछे इन्सानी ज़िन्दगी को भटकती और बिलखती देखती है तो शरारत से पर्दा ज़रा-सा सरका देती है, ताकि समाज के वे छिपे हुए कुकृत्य सामने आ जायँ, लेकिन यह अश्क कमबख़्त तो अपने नुकीले कलम से ज़िन्दगी की खाल खीच लेता है और अपना वही भयानक ठहाका मार कर कहता है, "देखो, देखो, इस गोरी-गोरी रंगत और इन गुलाबी-गुलाबी गालों और इन सुकोमल और मांसल बाहों के अन्दर सिर्फ़ यह हड्डियों का पंजर है।"

लेकिन यहाँ मेरा उद्देश्य अश्क के आर्ट के बारे में कुछ लिखना नहीं है, उसने इतना कुछ लिखा है कि उसे परखने और जाँचने के लिए कम-से-कम एक किताब चाहिए। यहाँ तो मैं सिर्फ़ यह कहना चाहता था कि उसकी कला और उसके व्यक्तित्व में एक विशेष सम्बन्ध है। उसकी रचनाओं में उसका व्यक्तित्व झलकता है आर उसके व्यक्तित्व में उसकी कला छलकती है और उसका वह तीखा, नुकीला, बेदर्द ठहाका, उसके अधिकांश उपन्यासों, अफ़सानों, ड्रामों में गूँजता है।

मैंने अश्क को बहुत निकट से नहीं देखा, लेकिन उसका व्यक्तित्व उस लाइट-हाउस, उस ज्योति-स्तम्भ की तरह है, जो रात के अँधेरे में बहुत दूर से भी देखा जा सकता है। फिर वह इलाहाबाद में हो तो उसके ठहाकों की गूँज बम्बई में भी सुनायी देती रहती है।

हाँ, तो बम्बई में उस पहली भेंट के बाद उससे कई बार मुलाकातें हुई—फ़िल्म के स्टूडियो में, प्रगतिशील लेखकों की सभाओं में, पीपल्ज़ थियेटर के नाटकों

में। एक बार मैंने उससे कहा—'भई अश्क तुम्हारा नाटक मोजज़े (चमत्कार) स्टेज किया जाय।' कहने लगा—'हो जाय!' मैंने कहा, 'पर सारे नाटक में घण्टी वाला ही बोलता रहता है, इतना लम्बा सम्वाद कौन याद करेगा?' बोला, 'लिखने वाले को याद है और वह ऐक्टर भी बुरा नहीं, बीच में भूल गया तो नये वाक्य गढ़ लेगा।'

और हम ने अश्क को अभिनेता के रूप में देखा। उसके अभिनय में भी वही तीखापन था, जो उसकी लेखनी में है। बाद मे जिस फ़िल्म के डायलॉग अश्क लिख रहा था, उसमे भी उसने एक रोल किया।

लेकिन हम लोगों को पहले ही सन्देह था कि फ़िल्मी दुनिया मे अश्क का गुज़ारा ज़्यादा देर तक नहीं होगा... फिर वह बीमार हो गया। किसी ने कहा, 'टी० बी० हो गयी है, पंचगनी के सेनेटोरियम में दाख़िल हो गया है।' इस मनहूस बीमारी से कम ही लोगों को बचते देखा था, इसलिए दिल-ही-दिल में हम 'अश्क मरहूम' पर फ़ातिहा पढ़ कर रह गये।

और फिर हिन्दुस्तान आज़ाद हो गया। विभाजन हुआ। पंजाब का हत्या-काण्ड हुआ और मैंने एक कहानी लिखी—सरदार जी! जो हिन्दी की मासिक-पत्रिका—माया—(इलाहाबाद) मे छपी। उस पर उत्तर प्रदेश की सरकार ने मुझ पर मामला चलाया और मेरे खिलाफ़ सम्मन जारी हो गये। अभी मामले की तारीख़ में देर थी। इलाहाबाद से कई हमदर्दो के पत्र आये कि इस मामले में यू० पी० के सब हिन्दी-उर्दू साहित्यिक तुम्हारे साथ हैं और इस सिलसिले में एक डिफ़ेंस कमेटी कायम हुई है, जिसके सेक्रेटरी उपेन्द्रनाथ अश्क है।

अश्क?...मैंने दिल-ही-दिल में सोचा। मैं तो समझता था, वह बीमार रह कर कब का अल्लाह को प्यारा हो गया।

फिर अश्क का पत्र आया। काफ़ी लम्बा। लिखा था—सेनेटोरियम से आ गया हूँ। मगर अभी तक ए-पी (आर्टिफ़िशियल नीमोथोरिक्स) के इंजेक्शन लेता हूँ, ज़्यादा वक्त पलँग पर लेटा रहता हूँ। यह पत्र भी लेटे-लेटे लिख रहा हूँ। तुम इलाहाबाद आओ। जी चाहे मेरे यहाँ ठहरो। डिफ़ेंस कमेटी बन गयी है। वकील कर लिये गये हैं, चन्दा जमा हो रहा है। पन्त जी को मैंने वहुत लम्बा पत्र लिखा है...

जब मैं इलाहाबाद पहुँच कर अश्क के यहाँ गया तो देखा कि गर्मी के बावजूद स्वेटर और मफ़लर लपेटे है। वह नुकीला नक़्शा और भी नुकीला हो गया है, मगर आँखों में ज़िन्दगी की, शोख़ी की, शरारत की, वही पुरानी चमक है और ठहाकों की गूँज में यदि मुहल्ले भर में नहीं तो कमरे में तो भूँचाल लाने की ताकत अब भी शेष है।

जितने दिन मैं इलाहाबाद में रहा (एक महीने से भी ज़्यादा) अश्क ज़्यादा वक़्त पलॅंग पर लेटा रहा। मगर यह बिस्तर मृत्यु-शय्या नहीं था, रोग-शय्या भी नहीं था, यह पलँग एक रणक्षेत्र था, जहाँ एक दुबला-पतला तन मौत से और मर्ज़ से हँस-हँस कर लोहा ले रहा था। उस पलॅंग पर लेटे-लेटे अश्क ने कहानियाँ लिखीं, मेरे मामले के बारे में मिनिस्ट्री को चिट्ठियाँ, प्रेस के लिए लेख और बयान लिखवाये, मुझे अपने प्रकाशन-गृह की योजना बतायी——उस कमरे में, उस पलँग के गिर्द साहित्यिक गोष्ठियाँ हुईं, मुशायरे और कवि-सम्मेलन हुए, छायावाद और मार्क्सवाद पर गर्मागर्म वाद-विवाद हुए और टी० बी० से छलनी फेफड़ों के बावजूद अश्क की आवाज़ उतनी ही करारी रही, उसकी आँखें ज़िन्दगी और ज़हानत और शरारत से चमकती रहीं और उसके ठहाके उसी तरह गूँजते रहे।

अश्क को उन दिनों यू० पी० सरकार से बीमारी के कारण दो सौ रुपया महीना मिलता था। मेरे मामले में उसने पै-दर-पै चिट्ठियाँ लिखीं तो सरकार ने वह अनुदान बन्द कर दिया। अश्क को अभी आठ सौ रुपया और मिलना था, किसी ने कहा——"पन्त जी से मिलो। फिर शुरू हो जायगा।" अश्क हॅंसा, "यह आठ सौ रुपया क्या मेरी ज़िन्दगी की समस्या हल कर देगा कि मैं उनसे मिलने जाऊँ। मैंने अनुदान माँगा नही। सरकार ने खुद ही दिया, खुद ही बन्द कर दिया। मैं इतना रुपया रेडियो से कमा लूँगा।" और वह उसी बीमारी में रेडियो के लिए और पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखने लगा।

एक दिन मैंने अश्क से पूछा, "तुम ने अपने लिए यह तख़ल्लुस क्यो पसन्द किया। अश्क तो आँसू को कहते हैं जो मैंने कभी तुम्हें बहाते नहीं देखा। तुम्हारा तखल्लुस तो 'ठहाका' होना चाहिए।

केवल एक क्षण के लिए, उस हॅंसते हुए चेहरे पर, उन शरारत-भरी आँखों में मैंने दुख की एक हल्की-सी परछाई पड़ती देखी। फिर वह हँसा, "यह जवानी का ठहाका है यार, जो आँसू ही का दूसरा नाम है। जवानी में मेरे-जैसे मध्यवर्गीय निराशावादी होते हैं। तुम मेरे नावेल का मसौदा पढ़ो। इसका बहुत-सा हिस्सा आपबीती है। मेरे इस तख़ल्लुस के राज़ का भी तुम्हें पता चल जायगा।"

तीन दिन और तीन रात में मैंने 'गिरती दीवारें' का मसौदा पढ़ डाला। (यद्यपि हिन्दी में वह उपन्यास छप चुका था, पर उर्दू में देश के विभाजन के कारण नहीं छप पाया। मैंने वह मसौदा उर्दू में पढ़ा) और मुझे लगा कि अश्क से मेरा परिचय पहली बार हुआ है।

अब मुझे पता चला कि उस गूँजदार ठहाके में कितनी आहें छिपी हुई हैं। उन चमकीली, शोख़ और शरारत-भरी आँखों की गहराई में ज़िन्दगी की कितनी

ट्रेजिडीज़ डूबी हुई हैं। बातचीत करने के उस व्यंग्य-विनोद-भरे स्वर ने जीवन के कितने अभावों पर पर्दा डाल रखा है। अब मुझे पता चला कि पंजाब के एक कस्बे के निम्न-मध्यवर्गीय, कमज़ोर और बीमार ग़रीब युवक को प्रख्यात साहित्य-कार बनने के लिए कितने पापड़ बेलने पड़े होंगे। समाज की जर्जर गिरती दीवारों से निकल, बुद्धि और विवेक तथा मानवता की नींवों पर अपनी ख़ुशी का घरौंदा बनाने के लिए, कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी होंगी। अब मुझे पता चला कि वह पतला-दुबला, टेढ़ा-बैंगा शरीर अपनी रूह के घावों को छिपाने के लिए फक्कड़पने और विनोद की तिलस्मी चादर ओढ़े हुए था। एक ग़रीब ने अपने स्वाभिमान को छिपाये रखने के लिए अहं का कवच पहन रखा था। इससे पहले कि दुनिया की ठोकरें उसकी ज़िन्दगी और उसके स्वाभिमान को मसल और कुचल डालें, उसने अपने-आप को दुनिया को ठोकर मारना सिखा लिया था और एक ऐसे समाज में, जहाँ ग़रीब और कमज़ोर और गुमनाम की बात भी कोई सुनने के लिए तैयार नहीं, उसने अपने गले में ढोल लटका लिया था और उसे अपने कलम से पीट रहा था और अब दुनिया उसकी डौंडी सुनने पर मजबूर थी।

सरकार ने अपनी ग़लती मान कर मेरे ख़िलाफ़ मामला वापस ले लिया और इलाहाबाद से रवाना होने से पहले मैं अश्क से विदा लेने गया। वह अब भी पलँग पर लेटा था। कहने लगा, "मैंने पब्लिशिंग-हाउस की स्कीम बना ली है। सरकार से रुपया उधार ले रहा हूँ, छै प्रतिशत ब्याज पर। हिन्दी में तुम्हारी पुस्तकें मैं ही छापूंगा। मैंने कहा, "ज़रूर छापना।" और फिर मैं हाथ मिला कर चला आया। मगर दिल में यह ज़रूर सोचता रहा कि यह टी० बी० का बीमार पब्लिशिंग-हाउस क्या चलायेगा। जो थोड़ी-बहुत सेहत सेनेटोरियम से बना कर आया है, उसे भी चौपट कर बैठेगा।

और फिर बरस-पर-बरस गुज़रते गये।

अश्क का पब्लिशिंग-हाउस चल निकला। उसने लड़-झगड़ कर सारे प्रकाशकों से अपनी किताबें वापस ले लीं और एक के बाद एक—सब स्वयं प्रकाशित कर डालीं।

उसने नये उपन्यास लिखे, कहानियाँ लिखीं, नाटक लिखे, कविताएँ लिखीं और अश्क, जो पहले केवल उर्दू का अदीब था, अब हिन्दी का भी प्रख्यात साहित्यिक बन गया।

मैंने उसे अपनी एक पुस्तक दी। वह उसने बड़े सलीके से छापी। फिर दूसरी। फिर तीसरी—अब तक पाँच पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और छठी प्रेस में है।

इस बीच में उसने सरकार से जो कर्ज़ लिया था, वह ब्याज-समेत पाई-पाई चुका दिया।

इस बीच में उसने टी० बी० जैसे भयानक रोग को पछाड़ दिया। अब वह पलँग पर नहीं लेटा रहता। दस-दस बारह-बारह घण्टे कुर्सी पर जम कर बैठता है—प्रूफ़ पढ़ता है, हिसाब-किताब देखता है, लिखता है।

इस बीच में वह एक एजेण्ट की तरह किताबों का बैग हाथ में लिये-लिये लगभग सारे मुल्क का दौरा कर आया है। वह भाषण देता है, गोष्ठियों की रौनक बढ़ाता है, मुशायरों और कवि-सम्मेलनों में शामिल होता है, नाटक खेलता है, ज़िन्दगी से चौमुखी लड़ता है। उसकी नयी किताब जब निकलती है तो साहित्यिक क्षेत्रों में हलचल मच जाती है, प्रशंसकों और आलोचकों में जंग छिड़ जाती है।

और मैं प्रायः सोचता हूँ— यह आदमी है या काम करने की मशीन। कमबख़्त थकता ही नहीं—

काम करता ही रहता है, लिखता ही रहता है।

हँसता ही रहता है, हँसाता ही रहता है।

नाम अश्क़ है और काम हँसना और हँसाना।

अब लोग कहते हैं कि वह पचास वर्ष का हो गया है। इस सिलसिले में जलसे हो रहे हैं, लोग उसे अभिनन्दन-पत्र दे रहे हैं। उसके वतन पंजाब की सरकार ने उसके अपने जन्मस्थान जालन्धर में हज़ारों रुपया खर्च कर उसका अभिनन्दन किया है। अपनी पत्रिकाओं के अश्क स्वर्ण-जयन्ती अंक निकाले हैं।

मैं नहीं जानता उपेन्द्रनाथ अश्क की उम्र पचास वर्ष की है। उस-जैसे लोगों की ज़िन्दगी कैलेण्डर की पाबन्द नहीं होती। वे तो थर्मामीटर और कार्डियोग्राम, एक्स-रे और ए-पी के इंजेक्शनों और डाक्टरों, हकीमों और वैद्यों के बावजूद जीते हैं और काम करते हैं, हँसते रहते हैं और हँसाते रहते हैं।

आख़िर इस अजीब और अनथक ज़िन्दगी का राज़ क्या है?

मेरे ख़्याल में राज़ एक नहीं, दो हैं।

एक का नाम है उपेन्द्रनाथ अश्क (जिसे लोग अश्क जी भी कहते हैं और 'अरे यार अश्क' भी कहते हैं) यह जालन्धर का एक ग़रीब लड़का है जो बचपन से अब तक ग़रीबी से, किस्मत से, समाज से लड़ने में इतना व्यस्त रहा है कि उसे बूढ़ा होने या बुज़ुर्ग बनने का अवकाश ही नहीं मिला। यह एक नवयुवक है जो कवि और साहित्यिक बनना चाहता था और दुनिया उस पर हँसती थी, सो उसने स्वयं दुनिया पर हँसना शुरू कर दिया और एक ऐसा नुकीला ठहाका ईजाद किया, जो

कमज़ोर फेफड़ों के बावजूद समाज के स्तम्भों को अब भी हिला देता है। यह एक ऐसा सेहतमन्द मरीज़ है जो प्राणघातक रोग में ग्रसित होने के बावजूद इतना व्यस्त रहा है कि उसे सचमुच मरने का अवकाश नहीं मिला और न मुद्दत तक मिलेगा।

और इस ज़िन्दगी के दूसरे राज़ का नाम है––कौशल्या––(जिसे लोग कौशल्या अश्क भी कहते हैं, भाभी भी कहते हैं, बहन जी भी कहते हैं) जो अश्क की पत्नी है, मित्र है, संगिनी है, सलाहकार है, नर्स है, डॉक्टर है, मैनेजर है, प्रकाशक है––कहूँ कि उसकी दासी है, उसकी मालिक है। वह स्वयं भी बहुत अच्छा लिख सकती थी, लेकिन उसने अपने साहित्यिक शौक को अपने पति की महत्वाकांक्षाओं के लिए होम कर दिया। अश्क ने उपन्यास, कहानियाँ, नाटक सृजे; कौशल्या ने अश्क की ज़िन्दगी सृजी। अश्क निरन्तर अपनी रचनाओं की नोक-पलक सँवारता है, कौशल्या उसकी ज़िन्दगी की नोक-पलक दुरुस्त करती है। लोग कहते हैं अश्क यूसुफ़ है और कौशल्या उसकी जुलैखा है, अश्क मजनूँ है और कौशल्या उसकी लैला है; लेकिन सच्ची बात यह है कि वह सावित्री है, जो अपने सत्यवान को यमराज के चंगुल से छुड़ा लायी है।

यह सत्यवान अपने-आप को अश्क कहता है––आँसू––लेकिन हकीकत यह है कि जिन्दगी के अनथक संघर्ष में आज तक उसे रोने की फ़ुर्सत नहीं मिली।

शेखर जोशी

●●●

दरिया : चिर का चला

कई वर्ष पहले 'दीप जलेगा' की कविताएँ पढ़ी थीं। उन कविताओं, विशेषकर 'दीप जलेगा' और 'देवि मैं पूछ रहा हूँ तुम से' को पढ़ कर अश्क जी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो कल्पना मन में हुई थी, वह उनकी पंक्तियों :

और मैं दरिया—
चिर का चला,
थका औ' हारा,
मंथर गति से मैदानों में बहने वाला।
मौन और गम्भीर, शान्त
औ' श्रान्त,
यौवन की सब याद भुला कर,
लूट, लुटा कर,
बहता हूँ उद्भ्रान्त !

के अनुरूप ही थी, लेकिन मेरा यह भ्रम वर्ष भर से अधिक नहीं टिका। दिल्ली में जैनेन्द्र जी के निवासस्थान पर 'शनिवार समाज' की एक गोष्ठी में अश्क जी को पहली बार देखा। मैं 'शनिवार समाज' में दो-तीन बार पहले भी जा चुका था, लेकिन उस दिन की गोष्ठी का वातावरण पहले की अपेक्षा कहीं अधिक उन्मुक्त रहा और यह निस्सन्देह अश्क जी की उपस्थिति के कारण ही सम्भव हुआ था।

तभी मन में यह विचार उठा था कि अपने उपनाम की तरह, यहाँ थके-हारे मंथर गति से मैदानों में उद्भ्रान्त वहने वाले दरिया का तो कोई साम्य नहीं। सम्भवतः कविताओं के रचनाकाल में रोगशय्या पर पड़े हुए कवि की मनःस्थिति इसका कारण रही हो।

आज भी जबकि अश्क जी अपने जीवन के इकावनवें वर्ष में चल रहे हैं, उनसे मिल कर ऐसा नहीं प्रतीत होता कि वे थके-हारे हों। वही मुस्कान, वही मुक्त हास्य, वही विनोद और नयापन तथा जीवन के प्रति वैसी ही तीव्र उत्सुकता, जो आज से वर्षों पहले उनमें रही होगी।

'सुविधा-असुविधा से कुछ नहीं होता भाई ! अन्दर से एक तड़प होनी चाहिए लिखने के लिए। तभी लेखक ज़िन्दा रह सकता है---मैंने तो ऐसी-ऐसी परिस्थितियों में लिखा है कि तुम लोग कल्पना भी नहीं कर सकते---ट्यूशन, अख़बार की नौकरी---दिन को भी ड्यूटी और रात को भी ड्यूटी---तब भी लिखने को वक़्त निकाल ही लेता था।'

और यही अन्दर की तड़प अश्क जी के व्यक्तित्व को एक अनोखापन दे जाती है, जहाँ साहित्यिक स्तर पर छोटे-बड़े के प्रति उनमें कोई भेद-भाव नहीं रहता। नयी पीढ़ी के अनेकों अकाल-वृद्ध साहित्यकारों की तुलना में नव-लेखन के प्रति उनकी निष्ठा और उत्साह किसी को भी प्रभावित कर सकते हैं। अश्क जी के स्तर के प्रतिष्ठित साहित्यकारों में इने-गिने ही लोग होंगे, जो नयी-से-नयी रचना को पढ़ने के लिए समय निकाल पाते हैं (हिन्दी का यह दुर्भाग्य केवल इस पीढ़ी का ही नहीं) और ऐसे उदारमना लेखकों की संख्या तो और भी कम होगी जो किसी अपरिचित, अप्रचारित लेखक को उसकी कोई सन्तोषजनक रचना पढ़ कर दो शब्द लिख सकें। परन्तु अश्क जी के साथ भेंट होने पर अवसर सुनने को मिलता है :

'भई. . . (लेखक) की रचना पढ़ी तुमने ? . . . (पत्रिका) में निकली है। मुझे तो बहुत अच्छी लगी। तुम उसे पत्र लिखो तो मेरी दाद पहुँचा देना।'

साधारण-सी लगने पर भी यह इतनी साधारण बात नही है। लेकिन इस व्यवहार के लिए निश्चय ही सरल व्यक्तित्व की अपेक्षा होती है।

और इस सरलता के प्रति अश्क जी का अतिरिक्त मोह है---"यार ! यह 'गम्भीरता का कनटोप' मुझ से नहीं लगाया जाता। जो बात कहनी है, साफ़ कहो, अच्छी हो या बुरी।" और खिलखिला कर अश्क जी पास बैठे साथी के हाथ पर ज़ोरों से अपना हाथ मार देंगे। और फिर कोई-न-कोई घटना उन्हें याद आ जायगी---जब 'गाम्भीर्य का कनटोप' पहने हुए लोगों की महफ़िल में उन्होंने अपनी स्पष्टवादिता से सब को चौंका दिया हो।

किसी भी व्यक्ति के जीवन में छोटी-बड़ी अनगिनत घटनाएँ घटती हैं, लेकिन स्मृति पर छा जाने वाली घटनाएँ केवल वही होती हैं, जिन्हें हम हार्दिक रूप से स्वीकारते हैं। वर्षों पूर्व की घटनाओं को अश्क जी सुनाते हैं, आँखों में एक चमक भर कर—कोई एक घटना, जब रिज़र्व रहने वाले जैनेन्द्र जी या वात्स्यायन जी के मुख पर क्षण भर के लिए शिशु का-सा सारल्य फैल गया था और अश्क जी की आँखों की चमक देख कर लगता है कि सरलता के प्रति इस व्यक्ति में कितना मोह है।

कभी-कभी लगता है जैसे अपनी वय के लोगों के बीच वे स्वयं को अकेला अनुभव करने लगे हों—

'भई! यह कौशल्या कहती है, अब आप के घर में बहू आ गयी है, अब तो ज़रा बुज़ुर्गों की तरह व्यवहार करो'—लेकिन तभी अश्क जी गम्भीरता के कनटोप को ताक पर रख कर सरल, मुक्त हँसी हँस देते है—मन्थर गति से मैदानों में बहने वाली हँसी नहीं, वरन् 'पहाड़ी नदी-सी चंचल' हँसी! तब इस हँसी को देख कर लगता है कि काश! हमारे यहाँ लोग बुज़ुर्ग बनने में इतनी जल्दी न करते! और मैं सोचता हूँ, अश्क दरिया ज़रूर हैं, चिर के चले भी हैं, पर न श्रान्त-क्लान्त हैं और न उद्भ्रान्त।

द्वारकाप्रसाद

●●●

सेहतमन्द मरीज़

मई १९५३ में, जब अश्क जी मसूरी में थे, एक शाम वे हमारे कुछ पड़ोसी युवकों के साथ सैर को गये—पूरी बाहों वाला बन्द गले का पुलओवर, मैच करता हुआ मफ़लर, पैंट और स्पोर्ट्स-कैप पहने और हाथ में छड़ी लिये—हिमालय-क्लब के पास पहुँच कर साथी-युवकों ने निकट के एक बँगले में जाने की इच्छा प्रकट की। वहाँ उनके वकील मामा जगाधरी से आये हुए थे। हम एक-आध बार उनसे मिले थे, पर अश्क जी का उन वकील साहब से कोई परिचय न था। लेकिन जैसा कि फक्कड़पने की उनकी आदत है, वे किसी तरह के परस्पर परिचय के बिना चले गये। उनका स्वागत एक बड़े ही मोटे दम्पति ने किया। पड़ोसी युवकों ने बड़े गर्व से अश्क जी का परिचय दिया, पर जगाधरी के उस मोटे दम्पति ने एक बार दाँत निपोरने के बाद, फिर उनकी ओर ध्यान नहीं दिया और अपने भानजे भानजियों के साथ जगाधरी की मुहल्ला-राजनीति में लवलीन हो गये।

अश्क जी बैठे-बैठे ऊब गये। चंचल उनकी प्रकृति, निश्चल बैठे रहना उनके लिए कठिन, वे होंठों में बायीं ओर हवा भर कर सीटी बजाने लगे। इस तरह वे लाल मुनिये-जैसी सुरीली सीटी की आवाज़ निकाल लेते हैं और जाने-अनजाने वे ऐसी सीटी बजाते रहते हैं। फिर उठ कर उन्होंने कमरे में एक-आध चक्कर लगाया, कुछ अजीब तरह से खाँसे भी और उनके उस तरह खाँसने पर हम में से कुछ हँसे भी। वहाँ एक गूँगा-बहरा पण्डित बैठा था। वह वकील साहब के तुफ़ैलियों में था। बड़ी देर से वह अश्क जी की ओर देख रहा था। आख़िर उसने

स्लेट निकाल कर उस पर लिखा—नाटक—और अश्क जी की ओर इशारा किया। इस पर वकील साहब ने बड़े गर्व से बताया कि वे पण्डित जी ज्योतिषी हैं और उनके ज्योतिष की बड़ी प्रशंसा की और यह भी बताया कि वे उनसे पूछे बिना चार पग भी नहीं उठाते, वे मामला जीतेंगे या हारेंगे, पण्डित जी सदा बता देते हैं। जब अश्क जी चलने लगे तो ज्योतिषी ने स्लेट पर लिखा—'फ़िल्म में जाओ।'

अश्क जी ने चलते हुए मुस्करा कर उन पण्डित जी से स्लेट ले ली और उस पर लिख दिया—'मैं फ़िल्म में हो आया हूँ'—और वैसे ही होंठों की बायी ओर हवा भर कर, सीटी बजाते हुए बाहर आ गये।

उस रात 'लक्समांट' में, जहाँ मसूरी-प्रवास में हम और अश्क जी ठहरे थे, उस गूँगे-बहरे ज्योतिषी की विद्वत्ता की चर्चा होती रही।

लेकिन अश्क नाटककार हैं, यह जानने के लिए किसी तरह के ज्योतिष की आवश्यकता नहीं। नाटकीयता उनके व्यक्तित्व में कूट-कूट कर भरी है और कई बार, जब वे मूड में होते हैं तो पहली ही भेंट में इसका पता चल जाता है। किसी की चाल, किसी की हँसी, किसी की बोली की नकल वे लगा देते हैं। बात करते हैं तो ऐसे नाटकीय ढंग से कि तत्काल मालूम हो जाता है, यह आदमी अभिनेता है या नर्तक या नाटककार।

कौशल्या जी ने 'दो धारा' में अश्क जी की बेतकल्लुफ़ी तथा लोकाचार की ओर से उनकी बेपरवाही की एक-दो मनोरंजक घटनाएँ दी हैं। मसूरी में हमें प्रत्यक्ष वह सब देखने को मिला। अश्क जी जब आये थे तो पैंट और बन्द गले का स्वेटर कसे थे। उसके बाद चन्द दिन हम ने उन्हें सफ़ेद बुश्शर्ट, काले पैंट और स्वेड के सफ़ेद जूतों में भी देखा। फिर कुछ दिन बाद सहसा एक दिन पाया कि बड़े चौड़े किनारे की रेशमी रंगीन साड़ी को दोहरा कर, उसकी तहमद लगाये, छड़ी घुमाते हुए माल पर घूम रहे हैं।

मसूरी की माल पर शाम को बड़ी रौनक हो जाती है, सुबह भी काफ़ी लोग लाइब्रेरी या शार्लेविले तक सैर को जाते है। जब तक कौशल्या जी ने इलाहाबाद से लट्ठे की तहमदें नहीं भेजीं, अश्क वही साड़ी पहने माल पर घूमते रहे। एक दिन सुबह जब हम अश्क जी के साथ सैर से वापस आ रहे थे, मेरे एक मित्र मिल गये। परस्पर अभिवादन के बाद उन्होंने ज़रा-सा मुझे रोक लिया। अश्क जी ज़रा आगे बढ़ गये तो उन्होंने पूछा, "ये साहब कौन हैं?" जब मैंने बताया तो बोले, "खूब हैं!"

अश्क सिनेमा नहीं देखते। देशी फ़िल्मों में अधिकांश जैसी हैं, उन्हें देखना वे समय को बरबाद करना समझते हैं। लेकिन मसूरी में हम उन्हें कई बार सिनेमा देखने ले गये। तब देखा कि अश्क जी दसन्नी वालों की तरह फ़िल्म देखते हैं—आवाज़ें कसते और सीटियाँ बजाते हैं। उधर हीरोइन ने लम्बी साँस भरी, इधर अश्क जी ने कहा, 'हो जाय अब एक गाना।' हीरोइन विरह का गीत गाने लगी तो आप 'हाय हाय!' करने लगे।

एक बार तो देखा कि सामने बैठे युवक भी उन्हीं की तरह हँसने और फबतियाँ कसने लगे। हम तो ख़ूब हँसे, पर कुछ लोग ख़ासे परेशान हुए।

बाहर निकलने पर हम ने पूछा तो बोले, आम हिन्दुस्तानी फ़िल्में मुझे 'बोर' करती हैं। तबीयत को बहलाने के लिए यह सब करना पड़ता है। फ़िल्म अच्छी हो तो आवाज़ें कसने की सुध ही किसे रहती है?"

और हम ने देखा कि 'ब्लड ऐंड सैंड' (Blood and sand) को देख कर अश्क जी ऐसे चुप हुए कि न केवल रास्ते भर नहीं बोले, बल्कि दूसरे दिन भी चुप बने रहे।

कौशल्या जी ने अपने संस्मरण में लिखा है कि अश्क को पराकाष्ठाएँ पसन्द हैं—कभी पहाड़ के शिखर और कभी गहरी घाटियाँ, कभी जन-संकुल नगर और कभी निर्जन वीराने—वे कभी जी खोल कर हँसते हैं तो कभी घण्टों उदास बैठे रहते हैं।

लेकिन अश्क जी की उदासी को उनके मित्र बहुत कम जानते हैं। इस बात का प्रथम अनुभव हमें उन्हीं दिनों हुआ। अश्क जी हमारे बगल वाले फ़्लैट में रहते थे। एक दिन हम ने उनसे अनुरोध किया कि वे हमारी गोष्ठी में अपनी कोई कविता या कहानी सुनायें।

'कविता-कहानी तो नहीं,' उन्होंने कहा, 'मैं आप को अपना एक एकांकी सुना दूँगा।'

'एकांकी?' हम ने हैरत से पूछा।

'हाँ, एकांकी! कविता-कहानी से कहीं ज़्यादा रस आप को उसमें मिलेगा।'

'एकांकी ही सही,' हम ने सोचा। हमारे मित्र और स्नेही तो उनसे कुछ भी सुनने का अनुरोध कर रहे थे। अश्क जी से वचन ले कर हम ने समय तय कर दिया और मित्रों को निमन्त्रण दे दिया। निमन्त्रित व्यक्तियों में सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार और उनकी धर्म-पत्नी श्रीमती सुशीला केतु तथा अन्य कई मित्र भी थे।

प्रोग्राम के दिन हम ने सुबह ही पाया कि अश्क जी कुछ उखड़े-उखड़े-से हैं। फिर भी उनके हँसने-हँसाने में कोई ख़ास फ़र्क न था। हम ने सोचा, शायद हमारा ख़याल ग़लत हो। फिर भी सन्देह दूर करने को हम ने शाम से कुछ पहले उनसे पूछ ही लिया, 'आप की तबीयत ठीक तो है ?' उन्होंने जवाब दिया, 'पता नहीं आज क्या हो गया है, तबीयत बेहद उदास है।' मुझे एक साथ दो चिन्ताएँ हुई, एक तो उनकी उदासी के सम्बन्ध में, दूसरी यह कि ऐसी हालत में क्या प्रोग्राम को चलाना उचित है। लेकिन अश्क जी शायद मेरे मन की बात समझ गये, इसलिए हँस दिये और बोले, 'मेरी उदासी की फ़िक्र न करो। जब मैं भीतर से उदास होता हूँ तो बाहरी दुनिया में अधिक ख़ुश दीखता हूँ। मैं सफलतापूर्वक नाटक सुनाऊँगा और इतना हँसा दूँगा कि लोगों के पेट में बल न पड़ जायँ तो मेरा नाम अश्क नहीं।"

और हुआ भी वही। अश्क जी ने अपना नाटक 'पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ' सुनाया। सुनाया कहना उस 'सुनाने' को पूरी तरह व्यक्त नहीं करता। वास्तव में उन्होंने अकेले तेरह-चौदह भूमिकाओं में, आवाज़ बदल कर, भाव-भंगियों सहित वह नाटक कुछ ऐसे ऐक्ट कर के दिखाया कि हँसते-हँसते हमारे पेट में बल पड़ गये। दर्शकों में कोई कल्पना भी न कर सकता था कि जो व्यक्ति औरों को इतना हँसा रहा है, उसके अन्दर एक घोर उदासी का आलम छाया है। सच पूछिए तो मैं भी भूल गया।

उनके इस गुण से मैं कुछ ऐसा प्रभावित हुआ कि अपना उपन्यास 'सुनील—एक असफल आदमी' अश्क जी को समर्पित करते हुए यह लिखने को मजबूर हुआ :

> **'भाई उपेन्द्रनाथ अश्क को—**
> **मसूरी-प्रवास की याद में—**
> **जो बगल के फ़्लैट में रहते हुए, जब**
> **उन की तबीयत नहीं लगती थी तो**
> **हमारी बहला जाते थे'**

और अश्क जी के पड़ोसी और मित्र जानते हैं कि वे बच्चों से ले कर बूढ़ों तक, सब को समान रूप से घण्टों हँसा सकते हैं। अश्क जी के अधिकांश मित्रों ने उनका यही रूप देखा है। पर कौशल्या जी उनके दूसरे रूप को भी जानती हैं और 'दो धारा' के अपने संस्मरण में उन्होंने इस ओर संकेत भी किया है। यह और बात है कि जब अश्क स्वयं उदास होते हैं तो मित्रों को खूब हँसाते हैं।

अश्क के व्यक्तित्व की इस दोरुख़ी का रहस्य, जिसने हिन्दी-साहित्य को एक ओर गहन-गम्भीर नाटक और दूसरी ओर बेहद हल्के-फुल्के प्रहसन दिये हैं, उनके बचपन में खोजा जा सकता है।

अश्क जी बचपन में वैसे फक्कड़ नहीं थे। एक जगह उन्होंने स्वयं लिखा है : 'बचपन में मैं बेहद रोना, चिड़चिड़ा और घुन्ना था। ज़रा-सी बात पर रो देता था और लड़ पड़ता था। भाई मुझे बड़ा परेशान करते थे और पिता सख़्त असन्तुष्ट रहते थे।' फिर किस तरह यह रोना, चिड़चिड़ा और उदास रहने वाला बालक फक्कड़ और गगन-भेदी ठहाके लगाने वाला हो गया, यह भी कम दिलचस्प नहीं।

इस परिवर्तन का आरम्भ आठवीं कक्षा की उस लम्बी बीमारी से होता है, जिसने उन्हें नाटक का शौक दिया। तब वे दस महीने बीमार रहे। जूड़ी दे कर अतरा बुख़ार आता रहा, फिर रोज़ ज्वर रहने लगा। अश्क जी बेहद कमज़ोर हो गये। उनके पिता ने नया-नया मकान बनवाया था। ऊपर की बैठक खुली थी। अपनी बीमारी के उन दिनों वे उसी खुली बैठक में टाँगें लटकाये, निश्चेष्ट बैठे रहते और नीचे मुहल्ले में होने वाले सारे कार्य-व्यापार को चुपचाप देखा करते। मन तो उनका भावप्रवण था ही। हर बात का नक्श उनके दिमाग मे अंकित होता रहता। तभी उन्होंने बैठे-बैठे ख़ोमचे वालों की आवाज़ों तथा औरतों, बच्चों और बूढ़ों के हँसी-रुदन और चाल-ढाल को अपने दिमाग़ में उतार लिया—ऐसे कि जब वे चाहते अपनी माँ और भाइयों को उनकी नकल कर के दिखाते। भाई खूब हँसते और अश्क जी का भी मनोरंजन होता। माँ भी हँसतीं, पर उन्हें ऐसा करने से सदा रोकती, क्योंकि किसी की नकल करना उनके ख़याल से अच्छा नहीं था। लेकिन अश्क जी सदा ऐसा करते रहे और अपने उदास, बीमार क्षणों में हँसने-हँसाने की सामग्री जुटाते रहे—यहाँ तक कि यह उनके स्वभाव का एक अंग बन गया।

अपनी इसी आदत के बारे में उन्होंने हमें अपने प्रीत नगर के प्रवास-काल का एक बड़ा ही दिलचस्प किस्सा सुनाया :

प्रीत नगर प्रगतिशील विचारों के उदार सिखों की कॉलोनी थी, जो जाति-पाँति से दूर, प्रीति के तार में बँधे हुए लोगों का एक नगर बसाना चाहते थे। अश्क जी १९३९ में वहाँ हिन्दी-उर्दू 'प्रीत लड़ी' के सम्पादक हो कर गये थे। उस समय केवल वहाँ अठारह-बीस कोठियाँ बनी थीं और लोग मिल-जुल कर रहते थे। कुछ अपनी मानसिक स्थिति के कारण और कुछ इसलिए कि वे नये-नये वहाँ गये थे, अश्क जी उनके साथ घुल-मिल न पाते थे। फिर अपने और प्रीत नगर वासियों

के मेल-जोल का कोई साझा-क्षेत्र उन्हें दिखायी न देता था और इसी कारण अश्क जी खासे परेशान थे।

उन्हीं दिनों लोढ़ी (यू० पी० में खिचड़ी) का त्योहार आ गया। प्रीत नगर वासी त्योहार कुछ अतिरिक्त उत्साह से मनाते थे। अश्क जी का मन त्योहार में जाने को न था, लेकिन प्रीत नगर के सेक्रेटरी उन्हें खींच ले गये। वहाँ लकड़ी का एक बहुत बड़ा अम्बार जल रहा था और प्रीत नगर वासी उसके इर्द-गिर्द नाच-गा रहे थे। किसी ने अश्क जी से कुछ सुनाने को कहा। वे हैरान कि क्या सुनायें। कविताएँ वे बड़ी उदास लिखते थे। 'प्रात-प्रदीप' और 'ऊर्म्मियाँ' की आरम्भिक कविताएँ उसी समय की हैं। कोई उदास कविता सुना कर उनका मूड ख़राब करना उन्हें पसन्द न आया। यों भी हिन्दी-कविता वे लोग कम ही समझते थे। जब अनुरोध बढ़ने लगा और उसके साथ अश्क जी की परेशानी बढ़ी तो अचानक उनके दिमाग़ में आठवीं कक्षा में अपना वह नकलें करना बिजली-सा कौंध गया और सहसा अपने बायें होंठों पर उल्टा हाथ रख कर उन्होंने नव-जात पिल्लों के रुदन की नकल सुनायी। सुन कर लोग ठहाके मार उठे। तभी जब वे नकल सुना रहे थे, जाने कैसे और क्यों, प्रीत नगर के एक कर्मचारी की बड़े-बड़े बालों वाली पालतू कुतिया भीड़ में से आ कर अश्क जी के पास खड़ी हो गयी। इस पर प्रीत नगर वासियों में जैसे ठहाके पड़े होंगे, इस की कल्पना की जा सकती है।

पहली नकल की सफलता के बाद अश्क जी ने आठवी क्लास में एकत्रित अपना वह सारा ख़ज़ाना वहाँ लुटा दिया। उसी शाम उन्हें अपने और प्रीत नगर वासियों के मध्य मेल-जोल का साझा-क्षेत्र मिल गया और वे अकस्मात लोकप्रिय हो गये। दूसरे ही दिन से उन्हें चाय के निमन्त्रण मिलने लगे। लोग चाय-वाय पी कर उनकी कविता या कहानी सुनने की अपेक्षा उनसे अनुरोध करते—'अशक जी ज़रा ओ कुत्ते दी बोली ताँ सुनाओ!' अथवा 'अशक जी ज़रा ओह कनारी वाले दी आवाज़ ताँ लगाओ!' और मन बुझा होने के बावजूद अश्क जी उनका अनुरोध पूरा कर देते।

वह दिन सो आज का दिन, अश्क जी निरन्तर ऐसा कर रहे हैं! उनमें विनोद-वृत्ति (Sense of humour) कुछ अतिरिक्त मात्रा में है और वे एकदम अपने साहित्यकार को भूल कर, आम लोगों के स्तर पर उतर, उनका मनोरंजन करने लगते हैं।

आम जनता की रुचि के इस पक्ष ने जहाँ अश्क जी के साहित्यकार का मन दुखाया होगा, वहाँ उसे लाभ भी कम नहीं पहुँचाया। इसी की बदौलत उन्हें

बिलकुल अजनबियों से घुल-मिल जाने का अवसर मिला है, जिसने न केवल उनकी अनुभूतियों में वृद्धि की है, बल्कि उनके व्यंग्य की धार को भी तेज़ किया है।

अपनी उदासी के क्षणों में अश्क जी अपनी बातों, चुटकुलों अथवा अभिनय से लोगों का मन ही नहीं बहलाते, वरन् हास्यरस के नाटक भी उन्हीं क्षणों में लिखते हैं। यह अजीब बात है कि जब वे चिन्तित और परेशान होते हैं, उन्हें सदा हास्यरस की चीज़ें लिखने की सूझती है। अपनी हास्य-रस की कहानियों के संग्रह 'छींटे' में उन्होंने यह बात लिखी भी है। 'पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ' के हास्य-भरे नाटक भी प्रायः ऐसी ही अवस्था में लिखे गये हैं। हो सकता है उनका चिन्तित मन हास्य की सामग्री जुटा कर कुछ बहल जाता है। यह भी हो सकता है कि उस चिन्तित, उदास मानसिक स्थिति मे उनकी दृष्टि बड़ी तीव्र हो जाती है और वे अपनी और अपने इर्द-गिर्द रहने वाले लोगों की कमज़ोरियों को और भी स्पष्ट रूप से देखने लगते हैं। जो भी हो, हिन्दी-साहित्य को उनके उदास क्षणों की देन बड़ी महत्वपूर्ण है, क्योंकि हिन्दी में हास्य-रस—वह भी शिष्ट हास्य-रस—का नितान्त अभाव रहा है।

चंचल, सरल, फक्कड़, लेकिन सब के ऊपर घोर परिश्रमी—मसूरी-प्रवास में अश्क जी को हम ने ऐसा ही पाया। पिछले कई वर्षों से वे कुछ महीनों को पहाड़ आते हैं। हमारा ख़याल था, पहाड़ पर वे सेहत बनाने आते हैं और सेहत बनाने वालों की तरह खूब घूमते और सैर करते हैं, लेकिन हम ने पाया कि प्रायः जब सारा मसूरी माल पर सैर को निकला होता, अश्क जी अपना कमरा बन्द किये, नाटक या लेख लिखने में तल्लीन होते। हम ने कई बार उनसे कहा कि भाई शाम के समय कोई भलामानस काम नहीं करता। चलिए घुमा लायें।

"पहले तो मैं भलामानस नहीं," वे हँसते, "फिर शाम ही को मुझ पर 'वही नाज़िल'[1] होती है। तभी मैं कुछ लिख पाता हूँ।"

पहले-पहल तो हम उन्हें ज़ोर-ज़बरदस्ती अपने साथ ले जाते रहे, लेकिन जब हम ने देखा कि उनका हर्ज होता है, वे उदास हो जाते हैं और आ कर आधी-आधी रात तक काम करते हैं तो हम ने उन्हें उनके हाल पर छोड़ दिया।

अश्क जी चार-पाँच बजे शाम के बाद काम पर बैठते तो नौ-साढ़े-नौ उठते। तब खाना खा कर वे माल पर सैर को निकल जाते। माल रात के नौ-साढ़े-नौ बजे लगभग सूनी हो जाती है। सिनेमा-शो से वापस आने वालों तथा अन्तिम

---

१. वही नाज़िल होना = (सव्यंग्य) इलहाम होना = दैवी प्रेरणा होना।

शो में जाने वालों के सिवा वहाँ कोई न होता। अश्क अकेले कभी लाइब्रेरी तक और कभी उससे आगे घूम आते। कभी-कभी मैं सोचा करता—क्या वे सचमुच अकेले होते हैं? मेरा ख़याल था कि वे अकेले महसूस करें तो यों अकेले कभी सैर को न जायँ। लगता कि वे अपनी तन्हाई में भी तन्हा नहीं होते। उनकी भावी रचनाओं के पात्र उन अकेली सैरों में सदा उनके साथ रहते हैं। अश्क जी ने माना भी कि उनकी कहानियों, नाटकों या नावेलों के उलझे कथानक सदा उन सैरों में सुलझ जाते हैं। लेकिन इसके विपरीत, उन्होंने स्वयं बताया कि प्रायः जब वे भीड़ का अंग बन कर हँसते-हँसाते हैं, अन्तर में कहीं निपट अकेले महसूस करते हैं। शायद इसी कारण मसूरी की भीड़ का अंग वे तभी बने, जब मित्रों या रिश्तेदारों के कारण मजबूर हुए, नहीं सुबह-शाम ऐसे वक्त अकेले सैर को जाते रहे, जब माल प्रायः सूनी रहती। दोपहर को जब लोग ब्रिज या शतरंज खेलते या गप लगाते, अश्क जी सोते और शाम को जब लोग सैर करते, वे कमरा बन्द कर लिखने में रत रहते।

अश्क जी बड़े भावप्रवण हैं, छोटी-सी बात का बुरा मान जाते हैं, इतना तीन महीने साथ रहने पर हम भली-भाँति जान गये, लेकिन यह जान कर हमें हैरत भी कम न हुई कि वे कुछ ऐसी बातों का बुरा नही मानते, जिनका प्रायः सभी बुरा मान लेते है। यदि कोई सम्पादक उनकी चीज़ लौटा दे तो वे गुस्सा नहीं होते, बल्कि दूसरी चीज़ भेज देते हैं। १९३८ की बात है, 'हंस' बनारस ने एकांकी-नाटक-अंक निकालने की घोषणा की तो अश्क जी को भी नाटक लिखने के लिए कहा। अश्क जी ने सात-आठ दिन की लगातार मेहनत से 'अधिकार का रक्षक' लिख कर भेजा। हंस-सम्पादक ने, जो अश्क जी के परम मित्रों में से हैं, इस उलाहने के साथ नाटक लौटा दिया कि उन्हें थर्ड-रेट चीज़ भेज दी गयी है।

अपनी चीज़ को थर्ड-रेट कहने वाले सम्पादक से (वह मित्र ही क्यों न हो) कितने लेखक सद्व्यवहार रख सकते हैं? लेकिन अश्क जी ने तत्काल वह नाटक 'सरस्वती' को भेज दिया और एक दिन ही में 'लक्ष्मी का स्वागत' लिख कर हंस-सम्पादक को भेज दिया। दोनों नाटक एक ही महीने में दोनों पत्रिकाओं में छपे और चाहे 'हंस'-सम्पादक ने 'अधिकार का रक्षक' थर्ड-रेट घोषित कर ठुकरा दिया था, पर लोकप्रियता की दृष्टि से वह 'लक्ष्मी का स्वागत' से ज़रा भी कम सिद्ध नहीं हुआ। और रंगमंच पर 'लक्ष्मी का स्वागत' से ज्यादा बार ही खेला गया।

अश्क जी की यह आदत अब भी है। इस मामले में वे ज़रा भी सेंस्टिव नहीं हैं। सम्पादक यदि उनकी कृति लौटा देता है तो वे कभी बुरा नहीं मानते। वे प्रायः

पारिश्रमिक पहले मँगा लेते हैं। जो सम्पादक उनकी कृति के पैसे पेशगी देता है, अश्क जी समझते हैं, यह उसका हक है कि नापसन्द होने पर वह रचना वापस कर दे। एक चीज़ वापस आने पर वे उसे नयी चीज़ भेज देते है। यदि वह भी उसे पसन्द न आये तो रुपये वापस कर देते हैं। यों ऐसा कम ही हुआ है। प्रायः दूसरी रचना सम्पादक को पसन्द आ जाती है। लेकिन ऐसा प्रायः हुआ है कि एक सम्पादक द्वारा लौटायी गयी रचना दूसरे द्वारा पसन्द की गयी और खूब लोकप्रिय हुई।

क्या समायेगी वहाँ सूरत कोई ?
जिस की आँखों में तेरी छब बस गयी।

नाटक से अश्क जी के इश्क का भी यही हाल रहा। जिस प्रकार ऑल इण्डिया रेडियो में काम करते हुए, वे उससे अलग बने रहे, उसी तरह फ़िल्मी दुनिया में बड़ी सफलता से काम करते हुए भी वे उसकी दलदल मे नही फँसे। अश्क जी चाहते तो अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल पर (वे कहानी, सिनारियो, सम्वाद, गाने सभी कुछ लिखते और अभिनय भी करते रहे) फ़िल्म में दोनों हाथों रुपया बटोरते, लेकिन जैसा कि उन्होंने स्वयं बताया—न उस दुनिया में एक दिन को उनका मन लगा, न उस काम में। न उन्हें फ़िल्म का नाटक रुचा, न अभिनय और वे फ़िल्मी दुनिया में रह कर भी रंगमंच के अध्ययन और उत्थान की कोशिश करते रहे। बम्बई में न केवल उन्हें आधुनिक नाटक देखने का अवसर मिला, बल्कि उन्होंने जन-नाट्य-संघ के लिए अपना नाटक—'तूफ़ान से पहले'—लिखा और उसका निर्देशन किया।

जिन दिनों अश्क जी 'तूफ़ान से पहले' का निर्देशन कर रहे थे, हैदराबाद का एक युवक 'सईद रज़ी' उनसे मिलने आया हुआ था। अपने संस्मरण में उसने बम्बई के उन दिनों का ज़िक्र किया है। अश्क जी ने उसे 'तूफ़ान से पहले' पढ़ कर सुनाया तो उसे ज़रा भी अच्छा न लगा, लेकिन जब एक दिन उसने अश्क जी को उसका निर्देशन करते देखा तो उसने लिखा है कि वही बेजान शब्द कुछ ऐसा रूप बदल कर सामने आये कि मेरे रोंगटे खड़े हो गये।

फेफड़े के रोग के कारण अश्क ने रंगमंच पर उतरना अथवा निर्देशन करना छोड़ दिया है तो भी देश के एमेचर रंगमंच को उनका पूरा योग मिला है। न केवल वे लगातार उसके लिए नाटक लिखते हैं, बल्कि परामर्श भी देते हैं। इलाहाबाद में नीटा (नार्थ इण्डिया थीएट्रीकल एसोसिएशन) तथा इपटा (इण्डियन पीपुल्स थीएटर्स एसोसिएशन) के वे प्रधान रहे हैं और उनके संरक्षण में 'नीटा'

और 'इपटा' ने दूसरी संस्थाओं से मिल कर दो-तीन बड़े और कई छोटे-छोटे नाटक खेले। स्वयं अश्क जी का बड़ा नाटक 'अलग-अलग रास्ते' उन्हीं दिनों 'पैलेस थीएटर' इलाहाबाद में हुआ और इतना पसन्द किया गया कि उसे कुछ ही दिन बाद दूसरी बार खेलना पड़ा। दिल्ली में ग्वालियर के 'आर्टिस्ट कम्बाइन' ने अश्क जी का नाटक 'छठा बेटा' खेला, जिसकी प्रशंसा 'स्टेट्समैन' और 'टाइम्ज़ ऑफ़ इण्डिया' आदि पत्रों ने की।

जहाँ तक साहित्यिक अश्क का सम्बन्ध है, हम ने उन्हें अपनी नियति और अपने कृतित्व के बारे में एकदम आश्वस्त पाया। 'बहुत पहले,' उन्होंने एक बार कहा, 'अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के वाद मैंने जान लिया था कि मेरे भाग्य में लेखक बनना बदा है, सो मैंने सदा नियति को अपनी इच्छा पूर्ण करने में मदद दी है।' अश्क भाग्यवादी नहीं। उनकी इस बात का हम ने यही अर्थ लिया कि सब कुछ कर देखने पर उन्होंने पाया कि लिखने में उन्हें सबसे ज़्यादा सुख मिलता है और वे समझते हैं जीवन को उपादेय ढंग से जी रहे हैं और इसीलिए वे लगातार लिखते है।

अपनी लेखनी में उनके विश्वास का पता इससे चलता है कि आज से पन्द्रह वर्ष पहले, जब हंस के एकांकी-नाटक-अंक में श्री जैनेन्द्र और श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने लिखा था कि हिन्दी-साहित्य में एकांकी का कोई स्थान नहीं तो अश्क जी ने इसका विरोध किया था। उनका ख़याल था कि जब देश आज़ाद होगा, देश का रंगमंच अपनी नींद से जागेगा तो एकांकियों और आधुनिक नाटकों की ज़रूरत पड़ेगी। अपने इस विश्वास को लेकर अश्क जी ने निरन्तर सामाजिक नाटक लिखे और आज जब देश का रंगमंच अपनी नींद से जागा है तो अश्क जी के नाटक जगह-जगह खेले जा रहे हैं।

लेकिन अश्क जी ने केवल नाटक लिखने और उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ देने ही पर बस नही की। बम्बई से जहाँ वे नाटक की और भी भूख लाये, वहाँ उसके प्रचार का साधन भी ढूँढ़ लाये। पृथ्वीराज कपूर ने अपने अतुल स्वास्थ्य और धन दोनों के ज़ोर से एक थिएटर-कम्पनी खोली और देश का दौरा कर के व्यावसायिक रंगमंच की स्थापना की। अश्क जी का स्वास्थ्य यक्ष्मा के बाद कभी अच्छा नहीं रहा। हर साल तीन-चार महीनों के लिए वे पड़ जाते हैं, लेकिन इस पर भी उन्होंने गत दो-तीन वर्षो में देश के लम्बे-लम्बे दौरे किये है और अपने एकांकियों का प्रदर्शन कर, न केवल सहस्रों लोगों का मनोरंजन किया है, बल्कि एमेचर आन्दोलन में नयी रूह फूँकी है। अभी कुछ ही वर्ष पहले उन्होंने एक ही दौरे में मद्रास, विजयवाडा, वर्धा, नागपुर, इन्दौर, उज्जैन, भोपाल, बड़ौदा और ग्वालियर

में अपने एकांकियों का प्रदर्शन किया। उज्जैन में तो अश्क जी के प्रवास-काल ही में वहाँ के छात्रों ने उनका नाटक उन्हें खेल कर दिखाया।

अश्क जी के व्यक्तित्व का परिचय देते हुए श्रीमती कौशल्या अश्क ने 'दो धारा' में लिखा है :

> 'अश्क जी का स्वभाव ऐसे शान्तिप्रिय व्यक्ति का-सा नहीं, जो पहाड़ की चोटी पर पहुँच कर उस पर डेरा डाल दे, बल्कि ऐसे चंचल राही-सा है, जिसको कभी पहाड़ के शिखर पसन्द हैं, कभी गहरी घाटियाँ; जो कभी जन-संकुल नगरों को पसन्द करता है और कभी निर्जन वीरानों में जा रमता है। पराकाष्ठाएँ उसे पसन्द हैं, कोई एक सीमा-रेखा और मध्य का मार्ग उसे रुचिकर नहीं।'

लेकिन आम मिलने वाले को अश्क जी की पहली झलक एक सख्त फक्कड़ आदमी की लगती है। ऐसे युवक, जो उनके बेटे के बराबर हैं, उनसे अनायास खुल जाते हैं। अश्क अपने हृदय के अन्तःपुर को कृत्रिम शिष्टता की चहारदीवारी में कैद नहीं रखते। गोपनीयता उनके लिए गुनाह है और उनकी स्पष्टता इतनी मुखर है कि लोगों को उनकी सरलता और निष्कपटता पर भी सन्देह होने लगता है। उनका मन पर्दानशीन नहीं है, इसलिए वे मध्य-मार्ग के तंग रास्ते पर नहीं चलते। या तो उन्हें खुले मैदान में रेंगने वाली पगडण्डी भली लगती है या राजमार्ग। और शायद दोनों को छोड़ कर जब मजबूरन उन्हें मध्य-मार्ग के तंग रास्ते पर चलना पड़ता है तभी उनका आत्म-संघर्ष तीव्र हो जाता है, उनके व्यंग्य की धार तेज़ हो जाती है और हास्य का कल-कल निनाद गूँजने लगता है।

अश्क जी अस्वस्थ रहते हैं, पर सेहतमन्दों से ज़्यादा काम करते हैं। ख्वाज़ा अहमद अब्बास ने अपना उर्दू कहानी-संग्रह 'मैं कौन हूँ' उनके नाम समर्पित करते हुए दो पंक्तियो में उनके व्यक्तित्व को उजागर कर दिया है :

"उपेन्द्रनाथ अश्क—एक सेहतमंद मरीज़ के नाम,
जिसका फेफड़ा कमज़ोर और दिल मज़बूत है।"

उदास पीले पत्तों पर लम्बी धूप

बला-ए-जां है ग़ालिब उसकी हर बात—
इबारत क्या, इशारत क्या, अदा क्या!

—ग़ालिब

गिरिजाकुमार माथुर

●●●

एक रंगीन व्यक्तित्व

अप्रैल की एक ठण्डी चाँदनी रात। साढ़े दस बजे होंगे। मेयो-हॉल के पास सुनसान सड़क पर बिछी खिलखिलाती चाँदनी और पेड़ों के जालीदार हल्के साये। मैं अकेला विचारों में खोया रिक्शे पर जा रहा हूँ। सहसा सामने से पास आते एक मुक्त कहकहे ने चौंका दिया। जैसे चाँदनी का अपार ख़ामोश उजियाला ही अचानक चारों तरफ़ से हँस पड़ा हो। कहकहा फिर उठा, अब की बार कुछ ज़्यादा पास। दो व्यक्ति कुछ तेज़ चाल से चाँदनी का रस लेते चले आ रहे हैं। फिर एक लहराती हुई हँसी। मैंने रिक्शा रोका। दोनों व्यक्ति भी तेज़ी से निकलते-निकलते रुक गये। हँसी अधूरी रह गयी। देखा, नरेश मेहता के साथ अश्क हैं। लम्बा सफ़ेद सिल्क का कुर्ता; बाल, जो हल्की सफ़ेदी पा कर और भी रेशमी हो गये हैं, माथे पर बिखरे हुए; हाथ में छड़ी; पैरों में घर पर पहने जाने वाले स्लीपर; धोती को तहमद की तरह बाँधे हुए। एक मस्त अक्खड़पन। मैंने पूछा, "इस वक्त कहाँ से?" बोले "घर में बैठे थे। चाँदनी रात इतनी अच्छी लग रही थी। चाँदनी का आनन्द लेने निकल पड़े।" मैंने छड़ी की तरफ़ इशारा किया। उत्तर मिला, "भई, उम्र पचास की हो गयी, अब गम्भीर बन रहा हूँ। दुनिया फ़ानी है।" और फिर होंठों के कोने से एक नटखट सीटी और ठहाका। मैंने सोचा क्या सचमुच यह ज़िन्दादिल, तेज़-तर्रार, जीवट का व्यक्ति पचास का हो गया है। पचास तक पहुँचते-पहुँचते तो लोग अनुभव का भूरा लवादा ओढ़ कर गहन-गम्भीर दिखने लगते हैं। कुछ तो सचमुच दुनिया के थपेड़े खा-खा कर ठोस हो ही जाते हैं। पर अधिकांश तो जान-बूझ कर

गम्भीरता की मोटी मिर्ज़ई पहन लेते हैं। क्या आयु का यह चरण जीवन के एक अध्याय की सीमान्त-रेखा है ? मैं यह सोच रहा हूँ और बराबर अश्क जी की सूरत सामने आ कर खड़ी हो जाती है। अनकुम्हलाया चेहरा, संघर्षों से मिली सख़्ती, भंगिमाओं मे विभ्रम और पतले होंठों के कोनों में वह एक अजीब-सी भेद-भरी तीखी मुस्कराहट। मुस्कराहट में व्यंग्य और व्यंग्य में ठहाके—जैसे वे चुनौती दे रहे हों आयु के इस चरण पर परम्परा से आने वाले इस तीसरे पहर को। ज़िन्दगी-भर इस प्रकार की चुनौतियाँ देते और स्वीकार करते हुए उनकी आत्मा में संघर्षजयी इस्पाती जिजीविषा विकसित हो चुकी है।

और मुझे सहसा याद आ जाते है वे लाल रोशनाई वाले ख़त, जिन पर पंचगनी सेनेटोरियम का नाम ऊपर दाहिने कोने पर लिखा रहता था। और उसके भी बहुत पहले दिल्ली में अलीपुर रोड की शामें, जब अश्क जी से मेरा पहला परिचय हुआ था। स्मृति-पट पर एक ऊँचा-नीचा ग्राफ़-सा बनता चला जाता है। कितने गहरे संकट के गर्तों मे उतर कर भी वे फिर उठ कर ऊपर आये हैं। मैं यह बराबर सोचता रहता हूँ कि जीवट का यह अकुण्ठित स्रोत उनमें कहाँ से आया है। शायद वे ज़िन्दगी को शतरंज का एक खेल समझते हैं और जी भर कर उसे खेलते है। एक चुटकुले की तरह उसमें रस लेते हैं और हँस कर चुटकियाँ ले कर, आगे बढ़ जाते हैं। दुनिया को इतने उन्मुक्त और निश्चिन्त ढंग से भोगते हुए बहुत कम लोगों को देखा गया है। वे बने-बनाये सिद्धान्तों, मर्यादाओं के निकष में विश्वास नही करते। अपनी कसौटियाँ ख़ुद बनाते है। उनके व्यक्तित्व की पीठिका जिन रंगों से निर्मित हुई है और जहाँ से उसे शक्ति प्राप्त होती रहती है, उसकी रचना के पीछे कौशल्या जी की लगन की एक अमिट छाया है। उनकी उन्मुक्तता बिलकुल आधारभूत है। इस चीज़ से लोगों को ग़लतफ़हमी भी होती है। यह ख़याल होने लगता है कि अश्क बड़े अगम्भीर—नान-सीरियस—किस्म के व्यक्ति है, जो बड़ी-से-बड़ी बात को सतही स्तर पर ला कर उसकी खिल्ली उड़ा देते हैं। पर इस बात का विश्लेषण करने पर एक दूसरी ही चीज़ मिलती है। वह यह कि जिसे हर कदम पर चीज़ो से जूझना पड़ा हो कि अगले क्षण का पता न हो, और भारी अनिश्चय के बीच से जिसने अपना रास्ता बनाया हो, उस पर दो ही तरह की प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। या तो वह मन में संघर्षों की गम्भीर छाया पैठ जाने दे या यह कि वह इन सब का मज़ाक उड़ा दे। अश्क जी ने दूसरा रास्ता अपनाया है, इसीलिए सब कुछ समझ-बूझ कर वे एक व्यंग्य से उसे ग्रहण करते हैं। लगता है जैसे वे हर समस्या के आने पर उसे यह स्वीकार कर चलते हैं कि ज़िन्दगी उनसे बदला ले रही है। अतः उन चीज़ों से बदला लेने का अधिकार भी उन्हें है। किसी भी तरह के अभिमान या दम्भ के वे

जन्मजात शत्रु हैं—ज़रा-सा भी यदि वह कहीं मिलता है तो फ़ौरन उसका पर्दाफ़ाश करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं। शायद यही कारण है कि वे जान-बूझ कर छेड़खानी भी करते चलते हैं कि देखें कौन कितने पानी में है। एक बार उन्होंने कहा था कि जब तक लड़ाई न हो तब तक आदमी का पता नहीं चल सकता। यों तो सभी मित्र होने का दम भर सकते हैं, पर असलियत तभी मालूम होती है, जब उनसे लड़ाई हो, तब आन्तरिक भावनाओं की कलई खुलती है। दूसरे आदमी का चरित्र भी तभी उद्घाटित होता है कि वह कितने नीचे तक उतर सकता है या कितना ऊँचा रह सकता है और कितनी गम्भीरता या भोंड़ेपन का परिचय वह देता है। मतलब यह है कि आदमी को 'क्राइसिस' में डाल कर ही परखा जा सकता है। यह निष्कर्ष ठीक तो है, पर है ज़रा टेढ़ा—उलझन-भरा भी और दुखदायी भी! और मैने पाया है कि अश्क जी के इस निकष पर से जो सही-सलामत निकल आते हैं, उनका सम्मान भी वे करते हैं। कहते है कि लड़-झगड़ कर जो दोस्ती होती है, उसका मजा ही कुछ और है। ऐसी दोस्ती ही स्थायी होती है। अनेक रंग-बिरंगे पहलू हैं उनके व्यक्तित्व के। एक तरफ़ इतने बेपरवाह, दूसरी तरफ़ तीखा निजत्व-बोध; एक तरफ़ तमाम थपेड़ों को सह कर जनमी निर्मम निर्भीकता, दूसरी तरफ़ छोटी-से-छोटी बात से भी आन्दोलित हो जाना; बड़ी-बड़ी समस्याओं और प्रश्नों को हँस कर उड़ा देने की क्षमता और अपनी आत्मसिद्धि पर दूर से भी आँच आने पर उसे कभी भूल न सकने की आदत—दोस्ती का निर्वाह और दोस्तों से ही छेड़खानी; मनमौजी प्रवृत्ति और चीज़ों की सूक्ष्म पकड़! दुनिया का बहुत ही विविध अनुभव है उन्हें। ज़िन्दगी ने घटनाओं, पात्रों, स्थितियों, प्रवृत्तियों का एक बड़ा ज़खीरा उन्हें दिया है। इसी कारण उनके जीवन और कृतित्व में विविधता और रोचकता है। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि अश्क जी की बहुमुखी प्रतिभा नाटकों में ही सर्वाधिक प्रस्फुटित हुई है। यदि साहित्य की अन्य विधाओं को छोड़ कर अश्क जी सिर्फ़ नाटक ही लिखते तथा जीवन की जितनी समस्याओं का उन्हें ज्ञान है, उसे अधिक गम्भीरता से लेते तो हिन्दी को एक बहुत बड़ा नाटककार प्राप्त हुआ होता। आज भी उनके नाटकों ने हिन्दी में जो स्तर निर्मित किया है, वह बहुमूल्य है। केवल एक घनीभूत केन्द्रीकरण की आवश्यकता है उसे। ज़िन्दगी के तरह-तरह के दबावों के कारण उनकी चेतना अनेक दिशाओं में प्रवाहित हुई है। शायद इसीलिए उसमें एक बिखराव है, यद्यपि वह रोचक अवश्य है, क्योंकि इस सब पर उनके व्यक्तित्व और यथार्थपरक दृष्टि की छाप पड़ी है। बड़े रंगों के शेड्स हैं इस व्यक्तित्व में—कुछ बहुत तेज़ और तीखे, कुछ मुलायम और वज़ादार और कुछ इतने अजब परिमाण से मिल कर बने, जिनमें एक अपराजित व्यक्तित्व का ऋजु-वक्र प्रसार झाँकता रहता है।

नरेश मेहता

उदास पीले पत्तों पर लम्बी धूप

उतरता फाल्गुन, झरते पात। आवारा हवा पीले पत्तों के साथ। यहाँ-वहाँ, दूर-दूर तक हवा, पागुल फगुआ। सड़कों के दोनों ओर करीने से पीले पत्तों की गझिन कतारें दूर तक चली गयी हैं, जैसे विदेशी अतिथियों के सम्मान में दिल्ली-वासियों की निरर्थक भीड़ खड़ी हो। अजीब सन्नाटे वाली फाल्गुनी भोर एकान्त में हो रही होती है, जैसे पानी में धूप नहा रही हो। इस कुँआरेपन को कभी कोई ट्रक अनायास तोड़ जाता है या फिर हमारी पदाहटें। पीपल के शेष पत्ते आकाश की पीठिका को हौले-हौले हिल कर जगाते प्रयासते होते हैं। मिलिट्री लाइन्स की बैरकें, अहाते, खाकी लारियाँ, कँटीले तार, पुते फाटक, बासी सन्तरी, बाकी सब ख़ाली-ख़ाली-सा, और...

"अपनी प्रतिभा से आक्रान्त हे मित्र! आजकल हिन्दी को क्या दे रहे हो?" और ठहाका।

वक्ता हैं श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, और श्रोता हूँ मैं। सवेरे-सवेरे टहलने जाने का यह 'संयुक्त-मोर्चा' शारीरिक स्वास्थ्य के स्थान पर मानसिक ही अधिक है, क्योंकि धूप कभी की निकल चुकी होती है। दूध वालों के लौटने की बेला होती है। जी० टी० रोड वाला रेलवे क्रासिंग पार करते कानपुर रोड पर मुड़ने को होते हैं तो अश्क जी शग़ल के ख़याल से ही,

"—आओ, मित्र! दुनिया में 'कोच्छ' नहीं रखा है, चलो पान ही खाया जाय!" और जैसे ही हम कानपुर रोड पर होते हैं तब 'अपनी ज़्यादा:

परायी कम' होने लगती है। ज़ाहिर है कि उनके अनुभव भी काफ़ी हैं, अभिव्यक्ति है और साहस भी, कि वे अपने तथा दूसरों के खोखलेपन की धज्जियाँ उड़ा कर 'कुमाल ही कर दिया' वाली हँसी मे हँस पड़ें।

अपने बारे में भ्रामक प्रचार करने में अश्क सिद्धहस्त हैं। उनके बारे में लोग अक्सर बातें कहते पाये जाते हैं कि वे ऐसे है, वे वैसे है। आश्चर्य होता है कि उनमें की अधिकांश बातें लोगों की अपनी न हो कर अश्क जी के प्रचार-विभाग की रेडीमेड सामग्री होती हैं, जिसे कि अश्क जी 'मित्रों को सुख' देने के ख़याल से वितरित करते रहते हैं।

"—अरे साव! आपको नहीं मालूम, अश्क एक नम्बर के फ्रॉड हैं।"

"—अच्छा!! आपके साथ क्या फ़्रॉड किया उन्होंने?"

"—अरे वाह, हमारे साथ न भी सही, वे ख़ुद कहते हैं।"

कोई स्वयं अपने को फ़्रॉड कहता है, इसलिए वह फ़्रॉड है और आप मनवाना चाहते है कि सब यही मानें। क्या एकादशी सादगी है आपकी!! तभी तो अश्क कहते है कि जब दुनिया में इतना 'जायका-तत्व' हो तो क्यों इस 'परम-सुख' से वंचित रहा जाय?

लेकिन अश्क जी स्वयं भी कहीं-न-कही 'जायका-तत्व' हैं, जैसे यह उनकी दुखती रग है कि नये कवि उन्हें नया कवि नही मानते। सम्भवतः यही एक बात है, जहाँ वे दूसरों को 'परम-सुख' दे सकते हैं। अब यह बात दूसरी है कि आप को वे यह रस या सुख लेने देते हैं कि नहीं।

"—मित्र! तुम लोगों की तरह मैं तो जीनियस नहीं हूँ, इसलिए बकौल तुम्हारे झख ही मारता हूँ, लेकिन बच्चू! याद रखना कि एक दिन अपने को मैं नया कवि मनवा कर ही छोड़ूँगा। तुम लोग अपने को क्या समझते हो? वो गत बनाऊँगा तुम्हारी कि, बस!! . . . . यार यह डाइलन टामस कैसा लगता है तुम्हें?"

जिस विश्वास, उन्मेष तथा तेज़ी से अश्क साहित्यिक स्पर्धा की बातें करते हैं, वह स्पृहणीय होती है। लगता है कि यह व्यक्ति जिस तरह आपकी बातें सुन रहा है उससे साफ़ लगता है कि आप को आद्यन्त बाँच रहा है, पी रहा है और अनुभव-सम्पन्न हो रहा है। जब तक जिज्ञासा नही मिटेगी, अश्क छोड़ने वाले व्यक्ति नहीं हैं।

असल में हिन्दी की तबीयत और रंग अश्क से बिलकुल भिन्न प्रकार का है। बात दरअसल यह है कि हिन्दी-साहित्य की बड़ी प्राचीन परम्परा रही है, इसलिए हम लोगों को दिन-रात गम्भीर रहना पड़ता है। सांस्कृतिक दायित्व का बराबर अनुभव बना रहता है, जबकि जनाब अश्क हैं कि टेढ़ी टोपी लगाये, मफ़लर उड़ाते

जब हमारे बीच होते हैं तो कई बार तो उन्हें स्वीकारने में ही कठिनाई होती है हमें। वे अपनी आँख और मुँह का भरसक उपयोग करते हैं और हिन्दी का साहित्यकार अपनी गम्भीरता के लिए कोई चुनौती नहीं स्वीकार सकता। लेकिन क्या बात है कि बड़ी गम्भीर चर्चा के बीच अश्क सहसा कोई ऐसी 'टुच्ची' बात कह देंगे और ज़ोरों से हँस देंगे कि बस!! मज़ा यह कि उनके झेंपने की बजाय बाकी सब झेंप रहे होते हैं। असल मे अश्क जी आज की, आज के लेखकों की कमज़ोरियों से, विषमताओं से, विविधताओं से एवम् न्यूनताओ से पूर्ण परिचित हैं। वे तो सिर्फ़ एक शैतान बच्चे की तरह आप के मुखोष्ठ की झिल्ली फाड़ देते हैं अपनी झिल्ली फाड़ कर, और ठहाका लगा देते है। वे जानते हैं कि आदर्श या सिद्धान्त मात्र सुविधाएँ हैं, प्रहार और रक्षा के लिए, जिसे वे एक व्यंग्यकार की भाँति पर्दा उठा कर उस पर पुनः पर्दा नहीं डालते और फलस्वरूप औचक में पर्दा उठने के कारण हमारे 'राम और सीता' बीड़ी पीते दिख जाते हैं और सब एक स्वर से चीख़ पड़ते हैं...

"—अश्क हिन्दी का सबसे बड़ा फ़ॉड है!!"

"—पर्दा गिराओ, पर्दा गिराओ!!"

यह तो ठीक है कि अश्क जी हमारी सब की कमज़ोरियों की हँसती-बोलती, नाचती-गाती तस्वीर है, लेकिन इस सब के बाद भी उनमें इतना कुछ छूट जाता है कि उसमें का एक अंश भी हम में नहीं होता। हम ईर्ष्या करते हैं उनकी साधन-सम्पन्नता से, जिसे कि उन्होंने दिन-रात की मेहनत से अर्जित किया है। और साधन-सम्पन्नता ईर्ष्या करने की चीज़ तो नहीं है। हमें तो उनकी निष्ठा, लगन, जिज्ञासा एवम् पाठकवृत्ति से ईर्ष्या करनी चाहिए। काफ़ी-हाउस में बैठ कर जिसे खेंचा जा रहा है, वह नहीं जानता कि उस की सद्यः प्रकाशित कहानी या कविता का सब से बड़ा प्रशंसक यही व्यक्ति है, जो उसकी लू-लू बोल रहा है। वे व्यक्ति नहीं कृति पढ़ते हैं। जबकि हम-आप कृति नहीं, व्यक्ति पढ़ते हैं। इसीलिए अश्क चिर-युवा हैं। वे आप की अच्छी कृति पढ़ कर आप से ईर्ष्या नहीं करेंगे, बल्कि चुनौती मानेंगे। अश्क जी की संग्राहक-शक्ति अद्भुत है, वरना प्रेमचन्द-काल का लेखक आज के नये-से-नये कथा-शिल्प को इतने सहृदय हो कर नहीं देख सकता था।

मूलतः एवम् स्पष्टतः अश्क दो सीमाओं के व्यक्ति हैं। आप के दर्प और अहं को किसी तरह जगा कर मज़ा लेते हुए सिद्ध कर देंगे कि जनाब! यह है आप की नब्ज़!! और आप को पता ही नहीं चलेगा कि आप की किस शक्ति को वे अनजाने ही आप से सीख कर चले गये हैं। क्योंकि अश्क तो हर बात में नाटक करते हैं, इसलिए पंचम से षड़ज पर कब और कितनी आसानी से आ गये हैं, आप को पता ही

नहीं चला। जबकि या तो आप आश्चर्य कर रहे होते हैं या आप उनसे चिढ़ रहे होते हैं। मज़ा यह कि अश्क इस 'परम-सुख' के लिए गाँठ का पैसा खर्च कर धूप में, आँधी में, सर्दी में 'परम जायका-तत्वों' के फ़िराक में चले जा रहे हैं।

"—हे मित्र! आजकल मन बड़ा उदास रहता है। कोई रस नहीं रह गया है ज़िन्दगी में। दुनिया फ़ानी है दोस्त! आओ एक-एक सिगरेट ही पिया जाये!"

कुल मिला कर अश्क, अपनी शोख़ी और शैतानी से कम ही बाज़ आते हैं, लेकिन जीवन की लम्बी संघर्ष-भरी यात्रा ने उन्हें सिखा दिया है कि भावुकता, ईमानदारी, सीधापन काफ़ी-हाउसों के लिए नहीं है और न इस तरह की सार्वजनिकता, मैत्री होती है। रसूलाबाद से खुल्दाबाद की तेरह वर्ष की कशमकश ने उन्हें जीवन में व्यंग्यकार बना दिया है।

"—लाओ मित्र! तुम्हारे ही झण्डे गाड़े जायँ, कुछ चकल्लस ही रहे। जहाँ ग़रीब अश्क का इतना माल पानी हो रहा है, वहाँ कुछ और सही। मित्रों को कुछ 'सुख' ही दिया जाये। यार, अब दो-चार दिनों के लिए दिल्ली ही जाना चाहिए।" और तब तक लीडर प्रेस के सामने का क्रासिंग आ जाता है। प्रायः उस समय दिल्ली की ओर से जनता एक्सप्रेस आ रही होती है। जाने क्या देख कर अश्क जी कह उठते हैं, "—यार! यह शहर है बड़ा ख़ूबसूरत। अच्छा, आओ मित्र! ज़रा पाठक जी से ही मिल लें।"

उदास पीले पत्तों के जलते ढेर से धुआँ ऊपर उठता हुआ छितराता होता है। धूप, लम्बी धूप में अश्क की लम्बी-लम्बी छाया, जिसमें अश्क की घूमती छड़ी प्रलम्बित सड़क पर बिछी होती है। टेढ़ी कश्मीरी टोपी, चश्मे के पीछे से आँख मारते अश्क की वह सारी मुद्रा, ख़ास ढंग की होठ दबा कर बजायी जाने वाली आवाज़, सब कह रही होती हैं—

"—अपनी प्रतिभा से आक्रान्त हे मित्र! तुम भी मुझे फ़्रॉड समझते हो न? कोई बात नहीं, तुम कितना ही डण्ड पेलो, देखना एक दिन तुम सब का 'नातिका' न बन्द किया तो मेरा नाम अश्क नहीं।"

और फिर हिन्दी में जायका-तत्ववाद पर वर्गीकरण अगले दिन के टहलने के लिए स्थगित कर दिया गया होता है।

○

समर्पित रचनाकार

मेरी सुराही से क़तरा-क़तरा नये हवादस टपक रहे हैं,
मैं अपनी तस्बीहे-रोज़-ओ-शब का शुमार करता हूँ दाना-दाना।

——इक़बाल
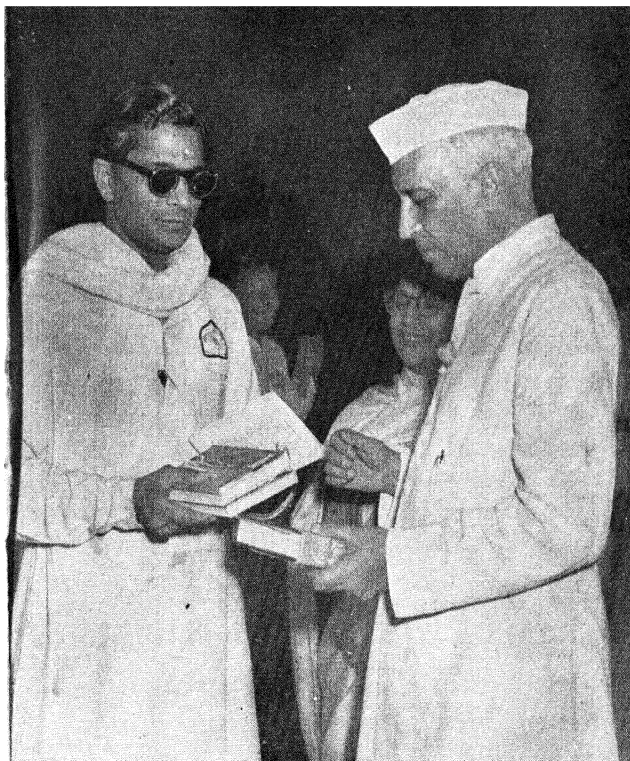
एशियाई
लेखक-सम्मेलन
के अवसर पर
पं० नेहरू के साथ

जैनेन्द्र
फ़ैज़
अश्क

अश्क रूस में
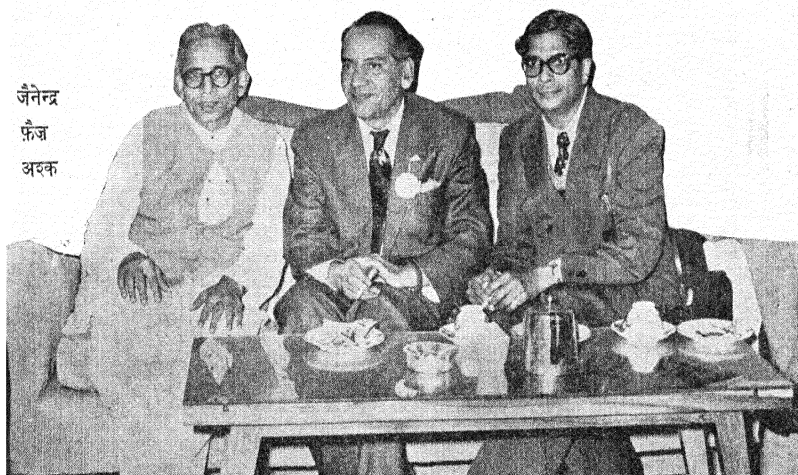
अश्क के घर चाय पर
जगदीश गुप्त, अमृतराय, राजेश्वरप्रसाद सिंह, गिरिजाकुमार माथुर
अश्क, मार्कण्डेय, राजेन्द्रसिंह बेदी, सुरेन्द्रपाल, भैरव आदि

मार्कण्डेय

●●●

समर्पित रचनाकार

अभी कुछ ही एक दिन गुज़रे है, एक दिन अश्क जी सिविल लाइन्ज़ में मिले तो मुझे थके-थके-से लगे। हाथ में फ़ाइल और दो-तीन किताबें, अचकन में बटन नीचे से ऊपर तक खुले, गले में मफ़लर और सर पर काली टोपी के अगल-बगल खिचड़ी बालों के उदास, मुरझाये हुए गुच्छे। मैंने उन्हें देखा और पल-भर देखता रह गया। शायद वे कोई बात सोच रहे हों, मैं कह नही सकता, पर जैसे ही हमने एक-दूसरे को देखा, मैंने पूछ दिया, "अश्क जी बहुत थके हुए नज़र आते हैं।"

"सुबह का निकला हूँ दोस्त। सारा दिन प्रेस में लग गया।" उन्होंने मुस्कराते हुए और अपने होंठों को सटा कर दो बार चिड़िया की तरह 'चूँ-चूँ' आवाज़ निकाली और हँस कर कहने लगे, "और सुनाओ, क्या तीर मार रहे हो?"

मैंने कहा, "अब आप को काम में थोड़ी कमी करके, ठीक ढंग से आराम करना चाहिए!" स्पष्टतः मेरा जवाब उनके सवाल का नही था और मैं वहीं था जहाँ से चला था।

अश्क जी फिर हँसे और कहने लगे, बस दुनिया फ़ानी है यार...इस पर भी अभी रात बैठूँगा काम करने तो हर तीसरे मिनट के बाद एक बार उमेश कमरे मे आयेगा, 'पापा यह बात'...फिर कौशल्या...फिर गुड्डा—यानी कि जब तक सब सो नहीं जायेंगे, यह क्रम चलता ही रहेगा। लेकिन चाहे जैसे भी हो... एक पेज तो हर हालत में करूँगा ही...और मार्कण्डेय, तुम विश्वास नही करोगे... मेरा एक दोस्त है...आई० सी० एस० का आदमी है...लम्बी तनखाह, बड़ा

भारी ओहदा...क्या कहानियाँ लिखता था, पर खा गयी नौकरी। भई चुनना होगा...देखो, दोनों साथ नहीं चल सकते। मैं उसकी जगह होता तो पटा लेता...किसी नीचे के अफ़सर को सारा काम दे कर बीच-बीच में छुट्टियाँ लेता और चुपचाप लिखता। जानते हो जब मैं शुरू में लिखने लगा था तो बारह घण्टे अख़बार में काम करता था, सिर्फ़ इतवार को मुझे छुट्टी मिलती थी। बस उस दिन सुबह उठ कर कमरा साफ़ करता, मेज़ ठीक करता और सात पेज, आठ पेज लिख कर तब उठता। इस तरह महीने-भर में दो कहानी कर लेता। भाई देखो, बिना लगन के नहीं हो सकता। संगत तो बैठानी ही पड़ेगी...."

इतनी देर में मैंने कुछ बातें सोचीं और ये सोचने की बातें आप से कह रहा हूँ तो इसका यह मतलब नहीं है कि अश्क जी ने बोलना बन्द कर दिया था। ज़ाहिर तौर पर मैं उनकी ओर मुख़ातिब ज़रूर रहा, पर आँखों में उदास बालों के टेढ़े गुच्छे और मन में कई तस्वीरें बड़ी तेज़ी से आयी, गयीं...कुछ अपने से ही कहा-सुनी भी हुई, मसलन...अश्क जी अब मुझे न समझाइए, मैं जानता हूँ कि काम कैसे किया जाता है।...अश्क जी ठीक ही कहते हैं...आप ख़ामख़ाह बेकार मत बनिए... आप एक नम्बर के आलसी और कामचोर हैं, ऊपर से बनते ऐसे हैं, जैसे बस दुनिया में सब आप ही जानते हैं...कोई सुन ले आप से लच्छेदार बातें...

लेकिन तब तक अश्क जी की आँखों में दूनी चमक आ गयी थी और चेहरे की अलसायी झुर्रियाँ अँगडाई ले कर बल खाने लगी थीं। काम की बातें करते-करते चेहरे पर उत्साह छलक आया था। मैं सोच रहा था, वे बोल रहे थे। उनकी आदत है, वे डीटेल में बोलते हैं; मेरी आदत है मैं डीटेल में सोचता हूँ, इसलिए जब वे बोलते हैं तो मेरा अन्तर्संघर्ष और भी प्रखर हो उठता है।—बात उनकी... टूट...टूट कर मेरे पास आती रही..."भाई देखो, ख़ूबसूरत बीवी, बहुत आराम की व्यवस्था और अतीव प्रतिभा—ये सब दुश्मन हैं काम के।...आत्म-विश्वास की बात नहीं कहता, लेकिन सन्तोष कहाँ है ज़िन्दगी में? बस मन में यही रहता है कि एक बहुत अच्छी किताब और"...फिर अश्क जी मैदान में उतर आते हैं... "भाई, यह तो बस मैदान मार ले जाने की बात है। तुम जम कर कहानियाँ लिखो, मैं भी लिखता हूँ"...और नये लोगों से होड़ लेने की बात करते-करते वे नयी-से नयी पढ़ी कहानी की चर्चा पर उतर आते हैं। "बहुत अच्छी बनी है वह कहानी—मुझ से तो उनसे मुलाकात नहीं, या भाई वे तो मुझ से नाराज़ हैं, लेकिन जानते हो, मैंने कल कहानी पढ़ी और तुरन्त उन्हें एक पत्र लिखा।"....

इस तरह वे छलाँग मारते बढ़ते चले जाते हैं।

और मैं अक्सर ख़ामोश और पस्त बना रहता हूँ। अक्सर यही होता है और

ताल-मेल की बात मैं कभी समझ ही नहीं पाता। लेखक है ही क्या ? सद्भावनाओं की रूखी-सूखी के आगे उसे कोई शक्ति मानने की कल्पना करना मैं छोड़ चुका हूँ। इसीलिए बहुत बार मन में आता है कि गौरव और प्रतिष्ठा उसे उसकी लीक से ढकेल कर ऐसी लीक पर खड़ा कर देती है, जहाँ वह लेखक रह कर नहीं चल पाता। इसलिए जब कुछ लोगों के क्रान्तिकारी मन्सूबे सुनता हूँ तो बस सुनता ही रह जाता हूँ। क्रान्ति लेखक नहीं ला सकता, राज्य-व्यवस्थाएँ लेखक नहीं बदल सकता, इसलिए कि उसका रोज़गार सत्ता का नही है। वह बेकार ही अपने को भ्रम में डाल लेता है, जबकि उसका काम ही दूसरों के भ्रम का निराकरण है। कभी-कभी सदियाँ लेखक को नहीं समझ पातीं और वे ठीक ही करती हैं। मैं समझता हूँ, जितनी देर उसे न समझा जाय उतना ही अच्छा है। लेखक को समझने का मतलब है ख़ुद अपने को समझना और आज का नया आदमी अपने को समझ कर कितना उदास और हताश हो जायगा, यह मैं सोच कर घबराता हूँ और अश्क जी बोलते चले जाते हैं...

"ज़िन्दगी बस लगे रहने का नाम है...ऐसा नाम"...मैं बात को अपने सोचने की क्रिया में पकड़ लेता हूँ...."जिससे बढ़ कर भुलावा दूसरा नही।"

मैं जानता हूँ अश्क वेदान्ती नहीं हैं, लेकिन सहज व्यक्ति की सारी मान्यताओं का न्याय वे स्वतः अनुभव से करते जाते हैं। यही कारण है कि अपनी रचनाओं के परिवेश में हमेशा समाज-सम्मत बने रहने के साथ ही वे संघर्ष की लीक से भूल कर भी नहीं हटते। शायद वे उन कुछ-एक हिन्दी के पुराने लेखकों में से हैं, जो नयी-से-नयी रचना को पढ़ कर उच्छ्वसित होते हैं और अपने पीछे आने वाली पीढ़ी को अपने से आगे कर के चलने में सुख का अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं, कोई चीज़ लिखने या छपने पर वे बड़े ध्यान से अपने सहयोगी लेखकों की राय जानते हैं और अपनी रचना को उसके अनुसार आँकते हैं। अश्क का रचनाकार व्यक्ति इतना सहज और अहमन्यताओं से निर्लिप्त है कि उसे देखते ही बनता है। अश्क से बात करने पर जो खुलापन और एकदम सरलता का आभास होता है, वह इसी कारण कि सम्भवतः वे सच्चाइयों को व्यक्तिगत व्यवहार में निरावरण रखना चाहते हैं। अपने चारों ओर एक रहस्य और बनावटी आवरण बनाये रखने वाला आदमी ख़ुद-ब-ख़ुद अन्य लोगों पर वही आवरण आरोपित कर देता है। और यह वही करता है जो लीक से हट गया है या वह जो थक कर बैठ रहना चाहता है और अपनी पिछली शानदार यात्रा की बड़ाई करवाने या अपनी बैठकी को छिपाने के लिए बहाने रचता है। बहाना आज की नयी कला का सब से बड़ा शत्रु है। सच्चाइयों

की निरन्तर खोज में भ्रम का कोई स्थान नहीं। इसलिए अपने चारों ओर भ्रम रखने वाला सन्देह का पात्र है।

यह सब लिखते हुए मैं अश्क को रचना-प्रक्रिया की ओर नहीं ले आ रहा हूँ। कई बार बातों-बातों में उन्हें विचारों के स्तर पर ले आ कर भी हताश होना पड़ता है। वे बिछल कर अनुभवों की नदी में तैरने लगते है और सब कुछ देखते-देखते सरल कर देते हैं। कठिन और दुरूह बात को सरल कर देना अश्क के बायें हाथ का काम है।

अश्क अपना प्रोग्राम सुनाने लगते हैं. . ."बस अन्त में एक महाकाव्य. . . मैं समाज से कोई साधारण नायक चुनूँगा". . .मैं हँस कर कह पड़ता हूँ––"बस यही एक बाकी रह गया है अश्क जी।"

". . .नहीं जी, कुछ बाकी क्यों रह जाय। भाई देखो, मैंने जीवन में जो भी चाहा, कर लिया।" और वे किस्से सुनाने लगते है। "उसे यों बताया, उसे इस तरह समझाया. . .और भाई उनकी बात दूसरी है, रास्ता भी दूसरा है. . .अब चुन लेने की बात है". . .और फिर वे आन्तरिक अनुशासन और रचनात्मक निर्माण पर आ जाते है। भैरव जी की मेज़ से एक सिगरेट उठा कर होंठों में दबा कर कई बार कड़े शब्द फक-फक ऐसे बोलते हैं, जैसे सिर्फ़ बारूद भर कर बन्दूक दागी गयी हो। और फिर सिगरेट जला एक-दो कश खीच कर होंठों को टेढ़ा-सीधा कर के किसी व्यक्तिगत बात के दायरे में घुसने लगते हैं। झुर्रियाँ फिर करवटें बदलने लगती है। बालों पर सफ़ेदी बढ़ने लगती है और मैं सोचता हूँ शायद कलाकार की निस्पृह सत्ताहीनता ही युग की सब से बड़ी सच्चाई और सब से बड़ी शक्तिहीन शक्ति है। शायद उसी ओर हम चले भी जायें––सारा समाज ही चला जाय और अगर ऐसा नही हुआ तो रचना उपयोगिता की सामग्री से अधिक कुछ भी नही रहेगी और कलाकार हाउस-डेकोरेटर की तरह राज्य-सत्ताओं की कृपा का गुलाम बना रहेगा। अश्क जी रात-दिन खटते जायँगे, रचना के अतिरिक्त उन्हें प्रूफ़ देखना ही पड़ेगा, प्रेस को ताकीद करना और किताब को समय पर निकालने की चिन्ता के बीच विचारों के कितने मासूम टुकड़े और अनुभवों के लच्छे उनके बालों की तरह काग़ज़ पर आये बिना भूरे पड़ जायँगे। साथ ही सहजिया अश्क पल भर को भी आराम किये बग़ैर 'एक अच्छी किताब और' की कल्पना को पकड़े ही रहेंगे। ज़माना अपनी जगह नहीं छोड़ेगा और अश्क अपनी।

असल में जो कहना है उसे कह पाना उतना आसान नहीं, जितना लोग समझते हैं। कहते-कहते वह हाथ से बिछल जाता है। कई बार बहुत दूर, और कई बार

जब वह सच्चाइयों के पास रहता भी है तो पढ़ने वाला उसे वह नही समझता जो वह है, कुछ और ही आनन्द वह उसमें ले लेता है और फिर जाने कितने तरह के अर्थ बन जाते हैं और अन्त में आलोचकों और विश्वविद्यालयों के अध्यापकों तक पहुँच कर रचना सूखी कुंजियों और नोट्स के रूप में बदल जाती है।

अश्क कभी-कभी इसकी चिन्ता करते है और कभी-कभी प्रतिवाद पर भी उतर आते हैं, क्योंकि वे संघर्षो और आदर्शो की देन हैं। वे वहाँ से चले है, जहाँ पूंजीवाद आदर्शो के घूँघट ओढ़ कर खड़ा था। आज वह नंगा हो उठा है। हमारे लिए पश्चात्ताप का समय है। हर ऐसे समाज का यह रुख़ कलाकार के लिए पश्चात्ताप का होता है। अगर आज हम रास्ता भूल कर सही माने में यह सोचने लगें कि अब क्या करें, क्या न करें, तभी हम ईमानदार रचनाकार बने रह सकते है। वरना इस अँधेरी काल-कोठरी में केवल दो दरवाजे है—एक चारणों का है, जो सुख और आराम के साथ ही सत्ता की प्रशंसा, पद्म-विभूषण की उपाधि की ओर ले जायगा और अंतिम रूप से कलाकार को सत्ता की गुलामी स्वीकार करा देगा।

दूसरा नेतागिरी और गिलगिले संवेगों की ओर ले जायगा, जहाँ भ्रमों का एक ऐसा घटाटोप छाया है, जहाँ लेखक भ्रम से अपने को क्रान्तिकारी समझ कर स्वतः उस ज़मीन से उखड़ जाता है, जो रचना की है। सत्ताप्रियता और सत्ता का समादर आज के लेखक के लिए जहर है. . . किसी और मकसद के लिए नही, सिर्फ़ उसे मार डालने के लिए !

लेकिन अश्क एक तीसरे रास्ते की खोज में है। मुझे विश्वास है वे इन दोनों रास्तों से कभी नही जायँगे। और हमारी तरह अँधेरे में शीशा दिखाने का काम भी नहीं करेंगे। वे हो सकता है, दीवारों की ईंटे खिसकायें और कोई नया रास्ता खोले या कोई ऐसा द्वार खोज निकालें, जो हमें न सूझता हो, लेकिन वे जायँगे, यह निश्चय है। क्योंकि वे हमेशा लिखेंगे . . .

बाल सफ़ेद होंगे . . . झुर्रियाँ गहराती जायेंगी और तीखे नाक-नक्शे पर उम्र की और भी पकी सुन्दरता उतरती आयेगी और वे लिखते रहेंगे। अँधेरे की एक-एक ईंट काटते रहेंगे। . . . "और भाई देखो, यह तो लगे रहने की बात है।" . .

उदयन वर्मा

●●●

अटकलें और हकीकत

चाहे धन की दृष्टि से हो या यश की दृष्टि से, जब कोई अपने क्षेत्र में विशेष सफलता प्राप्त कर लेता है तो दूसरे लोग उसकी सफलता के कारणों के बारे में तरह-तरह की अटकलें लगाने लगते हैं—लेकिन अटकलें अटकलें ही होती हैं, हकीकत से उनका विशेष सम्बन्ध नहीं होता। यह ज़रूर है कि कभी-कभी अटकलों में कुछ सच्चाई का अंश भी होता है, लेकिन अधूरी सच्चाई नीम हकीम के दावों की सच्चाई-सी होती है और विश्वास करने वालों को संकट में डाल देती है। अश्क जी की सफलता से सम्बन्धित अटकलें लोगों में बहुत प्रचलित हैं और एक से दूसरी इतने विरोधी प्रकार की हैं कि जो सचमुच वास्तविकता जानना चाहता है, वह चक्कर में पड़ जाता है। जैसाकि अश्क जी को निकट से देखने वाले सभी लोग जानते है कि भ्रामक अटकलों में से अधिकांश अश्क जी के ही चुहलबाज़ मस्तिष्क की उपज हैं। एक समय था कि स्वयं अश्क जी को और उन्हें निकट और दूर से जानने वाले बहुत से दूसरे लोगों को, इन अटकलों का प्रचार करने में रस मिलता था। लेकिन आज जब अश्क जी पचास वर्ष के हो गये हैं, उनके सामने जन्मी एक नयी पीढ़ी उनके कन्धे-से-कन्धा मिला कर आ खड़ी हुई है और इसके बाद की पीढ़ी परवान चढ़ने की तैयारी में है तो अश्क जी की सफलता के रहस्य को भ्रमों के आवरण में लपेटते जाना अगली पीढ़ी के साथ अन्याय करना है। अश्क जी को कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि साहित्य की सभी विधाओं के सृजन में समान रूप से सिद्धि प्राप्त है और आज किसी को भी

यह मानने में इनकार नहीं कि हिन्दी-साहित्य को उनकी देन काफ़ी महत्वपूर्ण है। उनके यश की सुगन्धि देश और भाषाओं की सीमा पार कर चुकी है और उनके पाठकों तथा प्रशंसकों की संख्या भारत के अतिरिक्त रूस, अमेरिका, जापान और इंग्लिस्तान आदि में भी बढ़ती जा रही है। अतः उनके व्यक्तित्व में लोगों की रुचि बढ़ना स्वाभाविक ही है---विशेषकर उस वक़्त जब यश की दृष्टि ही से नहीं, लोग उन्हें धन की दृष्टि से भी असफल नहीं मानते।

अश्क एक अत्यन्त साधारण जगह, अत्यन्त साधारण परिवार में पैदा हुए और बहुत ही मामूली परिस्थितियों में उन्होंने बचपन के दिन काटे। तब कौन जानता था कि जालन्धर के कल्लोवानी मुहल्ले के पण्डित माधोराम स्टेशन मास्टर का लड़का आगे चल कर इतना बड़ा साहित्यकार होगा। पं० माधोराम में जीवन-दृष्टि के अतिरिक्त और कोई भी ऐसा गुण न था, जिससे वे अपनी सन्तान को किसी योग्य बना पाते। खाने-पीने वाले, मनमौजी, बे-परवाह, फक्कड़, क्रोधी और क्रूर स्वभाव के पण्डित जी अपने इस मरियल और रोने-से बच्चे को (जैसा कि अभी पिछले दिनों अश्क जी ने जालन्धर के एक समारोह में कहा था) बिलकुल पसन्द न करते थे---उन्हें तो अपने-जैसी हट्टी-कट्टी और लड़ाकू सन्तान पसन्द थी। ख़ैर सन्तान तो सन्तान, पल ही गयी, लेकिन जब उनका यह बच्चा कुछ बड़ा हो गया और उन्हें पता चला कि वह कुछ कविता-अविता लिखने लगा है (और जैसा कि कच्ची उमर में स्वाभाविक है, कविताएँ अवश्य प्रेम-सम्बन्धी रही होंगी) तो दूसरे पिताओं की तरह कान उमेठने की जगह उन्होंने उसकी पीठ ठोंकी और अपने मूलमन्त्र की दीक्षा देते हुए कहा कि देखो बेटा एक बात गाँठ बाँध लो कि जीवन में जो बनो चोटी के बनो। अश्क जी के पास पिता की कड़ुवी यादे ही अधिक है। लेकिन सच्चाई यह है कि अश्क को अश्क बनाने में पिता द्वारा दी गयी जीवन-दृष्टि ही ने हमेशा उनका पथ-प्रदर्शन किया है और वहाँ पहुँचा दिया है, जहाँ वे आज खड़े हैं।

जो आदमी अपना जीवन किसी विशेष ध्येय की प्राप्ति के लिए समर्पित कर देता है, उसके सामने बड़ी-बड़ी बाधाएँ आती हैं, बड़े-बड़े प्रलोभन मिलते हैं, जिनसे बच पाना बड़ा कठिन है। आवश्यकताओं के वशीभूत हो कर अश्क जी ने वे सभी काम किये, जो किसी साहित्यिक को भटकने के सारे साधन प्रस्तुत कर देते हैं, लेकिन उन्होंने कमल के पत्ते की तरह हमेशा अपने साहित्यकार को उस सारे कीच-काँदो से बचाये रखा। उन्होंने अख़बारों के दफ़्तरों में काम किया; दूसरों के नाम से उनके लिए मनचाहे विषयों पर पुस्तकें लिखीं; घटिया किस्म के अख़बारों के लिए एक रुपये की दर से एक लम्बे अरसे तक प्रति सप्ताह एक कहानी

लिखते रहे; व्यापारिक कम्पनियों की सूचियाँ तैयार कीं और दवाइयों के विज्ञापन लिखे; काफ़ी दिन तक रेडियो की नौकरी की; कुछ दिन फ़ौजी अख़बार में रहे और फिर काजल की कोठरी समझी जाने वाली फ़िल्मी दुनिया में भी वे गये और हर जगह सफल भी रहे, लेकिन एक रेख काजल की लग ही गयी, वह यह कि अपनी आत्मा को भले ही वे बचा लाये, लेकिन शरीर हमेशा के लिए रुग्ण हो गया।

जैसा कि मैंने कहा, अश्क जी जहाँ भी और जिस भी परिस्थिति में रहे, अपने ध्येय को उन्होंने निगाहों से ओझल नहीं होने दिया और हर कीमत पर लिखना जारी रखा। सरकारी नौकरी को लोग साहित्यिक प्रतिभा के लिए मार्फ़िया-जैसी सुला देने वाली चीज समझते हैं, लेकिन किसे यह जान कर आश्चर्य न होगा कि अश्क जी ने अपने सर्वश्रेष्ठ नाटक और एकांकी तभी लिखे, जब वे रेडियो की सरकारी नौकरी में थे। फ़िल्म की दुनिया तो इस मामले में और भी ख़तरनाक समझी जाती है, लेकिन अश्क जी फ़िल्म की सभी सरगर्मियों——सिनारियो, सम्वाद और गीत-लेखन से ले कर अभिनय तक——में दिलचस्पी लेने के साथ-साथ अपना वृहत् उपन्यास 'गिरती दीवारें' भी लिखते रहे, जो बाद में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साहित्यिक कृति मानी गयी। अपने लक्ष्य के मार्ग में बीमारी तक को बाधा की बजाय सुविधा के रूप में ग्रहण करने वाले अश्क अकेले ही व्यक्ति हैं। अश्क जी की अधिकांश अच्छी कविताएँ या तो उनकी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद की उस घोर निराशा के क्षणों में लिखी गयीं या फिर यक्ष्मा-जैसे मूजी रोग से जूझने की उस लम्बी अवधि में, जब कोई दूसरा आदमी अपने लक्ष्य क्या, जीवन के प्रति भी निराश हो उठता है।

यों अश्क जी से कोई उनकी साहित्यिक सफलता का कारण पूछे तो वे झट कोई ऐसी-वैसी वजह बता कर बात को टाल जायेंगे——उदाहरण के लिए कहेंगे, 'भाई मैंने तो शुरू में ही कुछ सम्पादकों और आलोचकों को साध लिया था' या यह कि 'मैं अपनी पुस्तकों के रैपरों पर परिचयात्मक टिप्पणियाँ बड़ी जोरदार देता हूँ' या 'मैं यह विज्ञापित करता हूँ कि अश्क-साहित्य ख़रीदना और पढ़ना ही हिन्दी की सब से बड़ी सेवा करना है' आदि-आदि। लेकिन अश्क जी की चुहलबाज तबीयत और ईर्ष्यालुओं की द्वेष-भावना ने भ्रमों का जो पर्दा ताना है, उसे हटा दिया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि उनकी साहित्यिक सफलता के पीछे उनकी वह अनवरत साधना है, जो बीमारी में भी रुकना नहीं जानती। लिखना उनके लिए एक व्यसन बन चुका है। लेखन के लिए उनका जीवन पूर्णतः समर्पित है। ऊपर से देखने में अश्क जी एक बेहद दुनियावी आदमी हैं, सांसारिक मामलों में इतने व्यावहारिक कि रोज़मर्रा की ज़िन्दगी की छोटी-से-छोटी बात में पूरे जोश से हिस्सा

लेंगे और बारीक-से-बारीक बात में मीन-मेख निकालेगे। लेकिन कोई रचनात्मक चीज़ न लिखें तो उन्हें कुछ भी अच्छा नही लगता। चेहरा उदास और स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। और अगर कोई अच्छी चीज़ लिख लें तो उसकी खुशी उन्हें कई-कई दिन पुलकित किये रखती है—वे हँसते-चहकते और बेफ़िक्री से घूमते हैं। लेकिन यह खुशी दो-चार दिन ही रहती है। इसके बाद फिर कोई नयी चीज़ न लिख सकने की बेचैनी उन्हें परेशान करने लगती है।

अश्क की साहित्यिक सफलता के लिए यह बात भी ज़िम्मेदार है कि उन्होंने कभी अपने-आप को जीनियस नहीं समझा। यही कारण है कि एक वार कलम से जो कुछ लिख दिया, वह 'न भूतो न भविष्यति' जैसी बात उनके साथ नहीं। एक छोटा-सा लेख भी लिखना होगा तो उसे तीन-तीन, चार-चार बार नये सिरे से लिखेंगे और उसकी नोक-पलक दुरुस्त करने में हफ़्तों लगा देगे। और तो और महत्वपूर्ण पत्र भी वे दो-तीन बार लिख कर सँवार-सुधार कर भेजते है।

छपाने के बारे में जल्दी करने की बजाय अश्क जी प्रायः बड़ी लापरवाही बरतते हैं। आज की लिखी हुई चीज़ चार साल बाद छपे तो कोई आश्चर्य न होगा। फिर एक लम्बे अर्से तक रखी रहने के बाद कोई रचना छपने के लिए देने लगते हैं तो वे एक बार फिर उसमें परिवर्तन-परिवर्द्धन करते हैं और अगर वह चीज़ पुस्तक-रूप में छप रही हो तो अन्तिम प्रूफ़ तक यही क्रम चलता है। उनके यहाँ माँजने-सँवारने के काम का कहीं अन्त नही। किसी पुस्तक का नया संस्करण छपने को होता है तो वे फिर उसे ले कर काट-छाँट करने बैठ जाते हैं और कभी-कभी तो इस काम में इतना समय लग जाता है, जितने मे कोई दूसरा लेखक उतनी ही बड़ी एक नयी चीज़ लिख दे। अश्क जी की इसी आदत को लक्ष्य कर के एक आलोचक ने व्यंग्य करते हुए उन्हे 'संशोधनवादी' की संज्ञा दी है और मै समझता हूँ अश्क जी की साहित्यिक सफलता में उनके इस 'संशोधनवाद' का वहुत बड़ा हाथ है।

इसके अतिरिक्त एक वात और है कि अश्क जी जो कुछ लिखते हैं, वह उनका अनुभूत होता है। ख़याली घोड़े वे नही दौड़ाते। और सब से बड़ी बात है अनुभूति की सच्चाई। अपने लेखन के प्रति वे इतने ईमानदार हैं कि उनकी ईमानदारी कभी-कभी निर्ममता की हदों को छू लेती है। अपने निकट-से-निकट सम्बन्धी या खुद अपनी किसी कमज़ोरी को लेखन का विषय बनायेंगे (ऐसा वे प्रायः करते हैं) तो कोई लगी-लिपटी नहीं रखेंगे।

यह बात ज़रूर है कि इतने श्रम और साधना से जब कोई चीज़ प्रकाशित हो कर उनके सामने आती है तो उसके उचित प्रचार-प्रसार का उद्योग भी अश्क

जी अवश्य करते हैं, लेकिन उनके लिए इसका महत्व गौण है। चूँकि मुख्य बात अत्यन्त श्रम-साध्य है, इसलिए कुछ ईर्ष्यालु बन्धु इस गौण बात को ही उनकी सफलता का कारण मान कर अपने को भ्रम में डाल लेते हैं और फिर इस भ्रम को सत्य के रूप में ग्रहण कर के अपने-आप को ही धोखा देने का प्रयास करते हैं।

अश्क जी ने इधर जो थोड़ी-सी आर्थिक निश्चिन्तता प्राप्त की है, उसके पीछे भी उनका अथक श्रम और अध्यवसाय ही है। यह अवश्य है कि साहित्यिक-सुलभ अव्यावहारिकता का उनमें अभाव है। बहुत पहले ही सफल साहित्यिक-जीवन के विरोधाभास से वे सचेत हो चुके थे——सम्भवतः प्रेमचन्द का उदाहरण उनके सामने था। इसीलिए आरम्भ से ही साहित्यिक सफलता के लिए प्रयास करने के साथ-साथ आर्थिक सुरक्षा के लिए भी वे सचेष्ट रहे। उन्होंने देखा कि लेखक की नियति प्रकाशक की कृपा के साथ बँधी हुई है और जैसी स्थिति भारतीय प्रकाशकों और लेखकों के सम्बन्ध की है, उसमें किसी भी साहित्यकार के लिए मात्र अपने लेखन के बल पर सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करना बिलकुल असम्भव है। यह संयोग मात्र नहीं है कि अश्क जी बड़े लेखक होने के साथ-साथ आज एक बड़े प्रकाशक भी हैं, बल्कि प्रकाशक बनने की योजना शायद उन्होंने लेखक बनने की योजना के साथ ही बनायी थी, क्योंकि वे भारत-जैसी स्थिति वाले देश के लिए लेखन और प्रकाशन दोनों को परस्पर-सम्बद्ध कार्य मानते हैं। यही कारण था कि अपनी आरम्भिक पुस्तकों——उर्दू की 'शोला-ए-तूर' तथा हिन्दी की 'प्रात-प्रदीप' और 'ऊर्म्मियाँ'——के वे स्वयं ही प्रकाशक थे, लेकिन परिस्थितियों के चक्र में पड़ कर यह सिलसिला आगे न चल सका। फिर भी प्रकाशक बनने के इरादे को अश्क जी ने हमेशा अपनी दृष्टि में रखा और फ़िल्म की नौकरी के ज़माने में प्रकाशन का काम शुरू करने के लिए उन्होंने पन्द्रह हज़ार रुपये जोड़ भी लिये थे, लेकिन इस बार भी अपने उद्देश्य की पूर्ति में वे सफल न हो सके और यक्ष्मा-जैसे रोग के चंगुल में जा फँसे और उनकी सारी पूँजी सेनेटोरियम और डॉक्टरों की भेंट चढ़ गयी। बीमारी से मुक्त होने के बाद अपनी पत्नी कौशल्या जी के सहयोग से अश्क जी ने फिर प्रकाशक बनने का प्रयास किया और इस बार वे सफल रहे। चूँकि प्रकाशन का काम उन्होंने सरकार से कर्ज़ लेकर शुरू किया था, इसलिए उनके सामने दोहरी कठिनाई थी——एक तो प्रकाशन को सफल बनाने की और दूसरी सरकारी कर्जे की किस्त ब्याज सहित देने की। लेकिन अश्क जी तथा उनकी पत्नी कौशल्या जी ने अपने अदम्य उत्साह तथा अथक श्रम से इन दोनों कामों को बड़ी सफलता से पूरा किया। प्रकाशन के आरम्भिक दिनों में पति-पत्नी ने इस

व्यवसाय से सम्बन्धित छोटे-से-छोटे काम को खुद अपने हाथों से किया और बण्डल बाँधने से ले कर दूर-दूर के शहरों तक दौरा करने में उन्होंने रात-दिन एक कर दिया।

उन दिनों अश्क जी को हाथ में पुस्तकों का बैग लिये छोटे-छोटे पुस्तक-विक्रेताओं के यहाँ घूमते देख कर हिन्दी के एक बड़े प्रकाशक महोदय ने कहा था--"अश्क जी, आप-जैसे बड़े साहित्यकार को एजेण्टों की तरह मारे-मारे घूमना क्या शोभा देता है।" इस पर अश्क जी ने जो उत्तर दिया वह बड़े मार्के का है। वे बोले--"भाई मैं चोरी नहीं करता, किसी तरह की धोखा-धड़ी नहीं करता, आनेस्ट लेबर करता हूँ, इसे मैं शर्म की बात नहीं समझता। यह तो कहिए मेरी पत्नी ने प्रकाशन का काम शुरू कर रखा है, नहीं तो यह काम मुझे आता है, इसलिए आवश्यकता पड़ती तो लेखक होते हुए भी, हो सकता है मैं आप ही के यहाँ एजेण्टी करता।" अश्क जी ने जो आर्थिक सफलता प्राप्त की है, उसके पीछे उनकी इस किसी भी काम को छोटा न समझने की भावना ही का हाथ है।

कुछ लोग समझते हैं अश्क जी ने प्रकाशन का काम रुपया कमाने के लिए अपना रखा है, लेकिन बात ऐसी नहीं है। रुपया ही कमाना होता तो फ़िल्म में वे अधिक सफल रहते। जैसा कि मैंने उल्लेख किया है, प्रकाशन को उन्होंने अपने लेखन की सुविधा के लिए अपनाया है और इसे व्यवसाय के अतिरिक्त कला का रूप दे रखा है। अब उनके प्रकाशन का काम बढ़ गया है, खुद हाथ से काम करने की आवश्यकता नहीं रह गयी है, फिर भी अश्क जी की कोई अपनी या उनके किसी लेखक-मित्र की नयी पुस्तक छपने लगती है तो वे दिन-दिन भर प्रेसों में मारे-मारे घूमते हैं, गयी रात तक प्रूफ़ पढ़ते रहते हैं और जब तक पुस्तक छप कर तैयार नहीं हो जाती, छोटे-से-छोटे ब्योरे के पीछे परेशान रहते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि प्रकाशन को उन्होंने अपना ओढ़ना-बिछौना बना लिया है और अपने लेखक को प्रकाशक पर कुर्बान कर दिया है। वे चाहें तो अपने प्रकाशन के काम को बढ़ा कर लाखों रुपया कमा सकते हैं, लेकिन उस सीमा से आगे वे उसे बढ़ने देना नहीं चाहते, जिसके बाद प्रकाशन उनके लेखन के लिए साधन न हो कर साध्य बन जाय। कभी उन्हें लगे कि उनके लेखन के लिए प्रकाशन बाधा-स्वरूप है तो उसे बन्द कर देने या अपने-आप को उससे अलग कर लेने में भी उन्हें संकोच न होगा, क्योंकि अपने लक्ष्य के सामने उन्होंने कभी किसी चीज़ को प्रिय नहीं माना।

महत्वाकांक्षा, दूरदर्शिता, लगन और अध्यवसाय--अश्क जी की सफलता के बस यही मुख्य कारण हैं, शेष सब तो गौण हैं, नितान्त गौण !

दूर और नज़दीक से

सादगी कहिए इसे या होशियारी जानिए,
'अश्क' कह देते हैं उनसे जो कि उनके दिल में है।

—अश्क

देवेन्द्र सत्यार्थी

●●●

डाची का लेखक

अब तो उस बात को कई वर्ष हो गये। पर उसकी याद अभी तक मन पर अंकित है—'अंकित' तो बल्कि हल्का शब्द है और यदि मैं कहूँ कि वह बात मन पर खुदी हुई है तो पूरा चित्र सामने आ सकता है।

बात लाहौर की है, अनारकली की। अनारकली के उस हिस्से की, जहाँ नयी अनारकली की सीमा समीप है और माल रोड के उस पार पुरानी अनारकली शुरू हो जाती है। जी हाँ, वहीं सहसा एक व्यक्ति से भेंट हो गयी। शक्ल-सूरत से तो यह व्यक्ति साहित्यकार मालूम नहीं होता था, पर ख़ैर छूटते ही उसने बता दिया कि वह कहानी-लेखक है। वह उर्दू पत्र-पत्रिकाओं के नाम गिनाता चला गया, जिनमें उसकी कहानियाँ छपी थीं। फिर उसने 'विशाल भारत' का नाम लिया, जिसमें उसकी 'डाची' छपी थी। एकदम उसकी आँखें चमक उठीं।...मेरे सम्मुख डाची का लेखक खड़ा था।

'डाची' का मुझ पर रौब था। ऐसी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि मुझे बहुत कम देखने को मिली थी। सच कहता हूँ, उस समय मुझे यों लगा, जैसे मेरे सामने हत-बुद्धि-सा खड़ा बाकर आ गया, जिसके हाथ से हमेशा के लिए डाची (साँड़नी) की रस्सी लेते हुए नूरे ने नख से शिख तक नज़र डालते हुए कहा था—'ख़ूब जानवर है!' मेरी आँखों में वह सारा दृश्य घूम गया। नूरा डाची की मुहार थामे भूसे के कोठे की ओर चला जा रहा है और मशीर माल, जो बाकर की डाची खरीदने में सफल हो गया है, अंटी से साठ रुपये के नोट निकाल कर बाकर के हाथ

में देते हुए कहता है—'अभी एक राहक दे कर गया है, शायद तुम्हारी ही किस्मत के थे। अभी यह रखो, बाकी भी एक-दो महीने तक पहुँचा दूँगा। हो सकता है तुम्हारी किस्मत के पहले ही आ जायँ।' और फिर कहानी की अन्तिम झाँकी भी मेरी आँखो में फिर गयी, जिसमें लेखक ने दिखाया था कि बाकर फोग की एक झाड़ी की ओट मे बैठा है, क्योंकि वह जानता है कि अभी घर में उसकी बेटी रज़िया जागती होगी और वह चाहता है कि अभी कुछ देर और यहीं बैठा रहे और चुपचाप घर में दाख़िल हो, जब दिया बुझ चुका हो और रज़िया भी निद्राधारा में बह चुकी हो. . . हाँ तो मेरे सामने 'डाची' का कलाकार खड़ा था और मुझे उसका आलिंगन करते देर न लगी।

यह कुछ अजीब बात है कि अनारकली की वह शाम मुझे कभी नही भूलती। मुझे याद है कि जहाँ मैंने 'डाची' की जी भर कर प्रशंसा की थी, वहाँ उसके लेखक के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करने में कोई कसर न उठा रखी थी। मज़ा तो यह था कि जितना उत्सुक मै उसके बारे में जानने के लिए था, उससे भी कहीं उत्सुक था वह स्वयं कि बस लगे हाथ मेरे सम्मुख अपने जीवन का पूरा इतिहास उँडेल कर रख दे। बातों-बातों में पता चला कि उसके पास शिमला के कुछ पहाड़ी लोकगीत भी हैं। मैंने लाख चाहा कि उसका संग्रह देख सकूँ, पर मेरे लाख यत्न करने के बावजूद उसने एक-आध गीत को भी हवा लगाना स्वीकार न किया। बस साहब, अब वह टाल-मटोल शुरू हुई कि रहे राम का नाम! मैं भी न जाने क्यों इतना ललचा उठा था। ख़ैर इस मामले में मेरी पहली हार थी। क्योंकि इससे पहले लोकगीत-संग्रहै में मुझे कभी यों मुँह की नहीं खानी पड़ी थी।

फिर 'डाची' के लेखक से कई वर्षो तक भेंट न हो सकी। मैं कई बार सोचता कि भला आदमी शिमले के गीतों का किस मर्तबान में अचार डालेगा। कई बार इस याद से जैसे मेरे मुँह का ज़ायका ही कड़वा हो जाता और मैं सोचता कि अब यदि उससे भेंट हो जाय और वह स्वयं अपनी इच्छा प्रकट करे कि उसके मुँह से एक-आध पहाड़ी गीत मैं अवश्य सुनूँ और वह अच्छा लगे तो वह और भी सुना सकता है तो मैं साफ़ इनकार कर दूँगा। पर साहब, बड़ा मज़ा रहा। एक दिन 'हंस' में अचानक मुझे शिमला के पहाड़ी गीतों पर उसका एक लेख नज़र आ गया। वाह-वाह, इतना मज़ेदार लेख कम ही मेरी नज़रों से गुज़रा था। जी में तो आया कि यदि इसी समय कहीं 'डाची' का लेखक मिल जाय तो उससे कहूँ—मान गये, साहब तुम भी 'हरफ़नमौला' हो।

फिर सन् १९४० में लंका से लौटने पर मैं लाहौर में रहने लगा तो कई मित्रों के मुख से 'डाची' के लेखक की कहानियों की प्रशंसा सुनी। कृष्णचन्द्र की तो ख़ैर
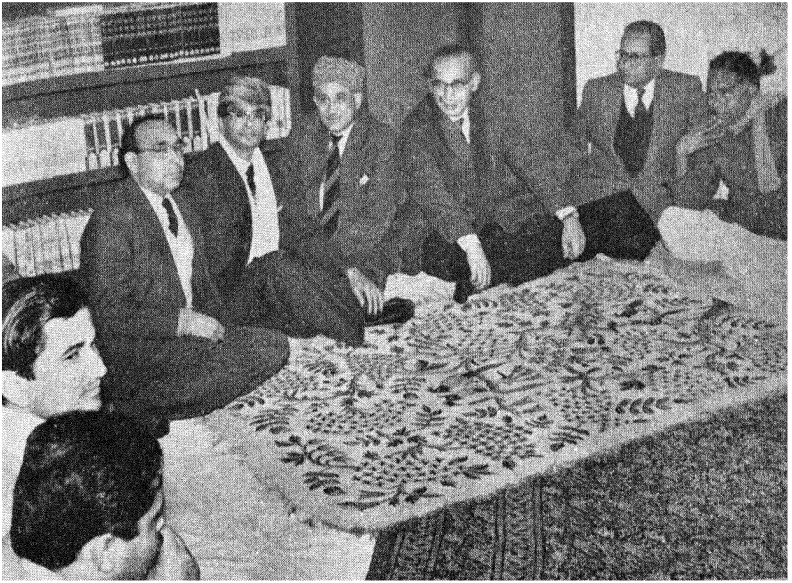
१५ दिसम्बर '६० : मार्कण्डेय, कृष्ण, अश्क, अब्बास, बन्ने भाई, प्रकाशचन्द्र, भैरवप्रसाद

अश्क की बैठक में––
भैरव, उनके बच्चे, कुलभूषण, राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय, पाठक जी तथा मोहन राकेश

आकाशवाणी की हास्य गोष्ठी में अश्क जी

रूस से वापसी पर अश्क
'लीडर' के जनरल मैनेजर श्री ठाकुर
रेणु तथा जितेन्द्र सिंह के साथ
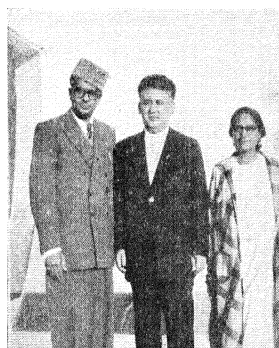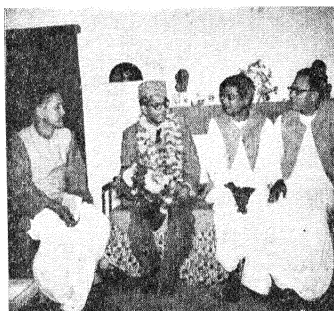
मिर्ज़ा तुरसन ज़ादे के साथ
अश्क दम्पति

अश्क जी के
बग़ीचे में
अज्ञेय, पाठक जी,
ओंमप्रकाश, अश्क,
फ़ादर बुल्के,
कपिला वात्स्यायन,
कौशल्या तथा
ताराशंकर
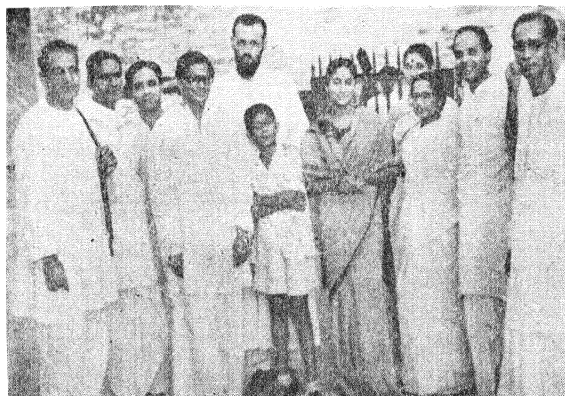
सब से ज़्यादा धाक जमती जा रही थी। मण्टो और बेदी का ढोल भी खूब बज रहा था। इस्मत चग़ताई और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' भी आधुनिक उर्दू कहानी के मैदान में बढ़-बढ़ कर हाथ मार रहे थे।

उन दिनों 'अश्क' प्रीत नगर में था। लाहौर और प्रीत नगर में बीसियों बार मैं उससे मिला। एक बात, जिसने मुझे सब से अधिक प्रभावित किया, वह थी जम कर काम करने की उसकी आदत। वह स्वय बताता कि कहानी की 'टेकनीक' पर वह इतनी मेहनत करता है कि कुछ कहानियाँ उसने दस-दस बार लिखने के बाद प्रकाशित करायी है।

एक बार पंजाबी के एक नये कहानी-लेखक मेरे साथ थे और हम प्रीत नगर किसी उत्सव के सिलसिले में पहुँचे थे। हम 'अश्क' से मिलने गये। याद नहीं आ रहा कि बात कैसे शुरू हुई, पर तान कुछ यों टूटी––'बस, बस, तुम अभी मेरे सामने बच्चे हो। मैं दस वर्ष तक तुम्हें कहानी लिखने पर लेक्चर दे सकता हूँ।' मेरे मित्र ने कहा––'दस बरस में मैं तुम्हे कही पीछे छोड़ जाऊँगा।'

डाची का लेखक बोला––'मै इस बीच क्या अफीम खा कर सो रहूँगा? तुम मुझ से इतना ही पीछे रहोगे, जितना कि अब हो।'

सच कहता हूँ, मुझे यह बात बहुत अजीब मालूम हुई, क्योंकि मेरे मित्र का साफ़ अपमान नज़र आ रहा था। मेरा मित्र प्रकट हँसता रहा, पर अन्दर-ही-अन्दर कट गया। जी में तो आया कि साफ़-साफ कह दूँ––अरे भाई तुम ज़रूर हमारे इस मित्र को कहानी लिखने की नयी राहे दिखा सकते हो; पर इनसे यह आशा मत रखना कि एक कहानी को लिखने के लिए ये दस-दस बार कलम घिसायेंगे। पर अगले ही क्षण 'अश्क' ने मेरे मित्र के हाथ पर हाथ मारते हुए कहा––'मेरा तो बस एक ही उपदेश है––लिखे-ए-ए-ए-ए-जा!' जी हाँ, 'लिखे' का उच्चारण करते समय अश्क ने इस शब्द को बेहद लम्बा कर दिया था, जैसे वह बता देना चाहता हो कि लिखने का सब से बडा रहस्य तो यही है कि आदमी लिखने से और लिखते समय परिश्रम करने से जी न चुराये। बातों-बातों में 'अश्क' ने यह भी बता दिया कि पहले वह लिखता चला जाता है और फिर यदि वह देखता है कि कोई टुकड़ा ठीक नहीं बैठता तो उसे काट कर रख लेता है और उसे किसी दूसरी कहानी में स्थान देने की कोशिश करता है। मुझे याद है कि मैंने हँस कर कहा था––'इधर से काट, उधर लगा, कहानी बना, लिखे-ए-ए-ए जा!' और अश्क ने ज़ोर से ठहाके पर ठहाका मारते हुए, मेरे हाथ पर हाथ मारा था और मैंने कहा था––'एक तरकीब और हो सकती है। एक 'सिण्डिकेट' खोल दिया जाय, जो विभिन्न लेखकों की कहानियों से बचे हुए टुकड़ों का रोजगार शुरू कर दे, क्योंकि अपनी

ही कहानी के किसी बचे हुए टुकड़े को अपनी किसी कहानी में स्थान देने की बजाय यह आसान रहेगा कि कोई नयी चीज़ हाथ आ जाय उसके बदले में।' इस पर सब से बड़ा कहकहा 'अश्क' ने ही लगाया था।

एक बार उन्हीं दिनों 'अश्क' ने मुझे बताया कि यों लगता है जैसे लाहौर में कुछ मित्रों ने उसके विरुद्ध एक आन्दोलन-सा शुरू कर रखा हो, उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि 'अश्क' किसी के दबाये दबने का नहीं, वह उभरेगा, अभी और उभरेगा! मैंने उसे विश्वास दिलाने की कोशिश की कि ऐसी बात नहीं है, प्रीत नगर और लाहौर का कौन-सा बड़ा फ़ासिला है।

यहाँ मुझे यह स्वीकार करने से इनकार नहीं कि 'डाची' के लेखक के मुकाबिले में मुझे कृष्णचन्द्र, बेदी और मण्टो की कहानियाँ ज़्यादा पसन्द थीं। इसका एक कारण यह भी था कि लाहौर के लोग कहानी के क्षेत्र में ही सब से ज़्यादा ज़ोर-आज़माई करते थे, 'अश्क' लगे हाथ उपन्यास और नाटक की दुनिया में भी विचरना चाहता था। कई बार महीनों तक वह डुबकी लगा जाता। लोग समझते कि 'अश्क' कुछ नहीं लिख रहा। पर बात दूसरी थी। प्रीत नगर में रहते हुए 'अश्क' ने जितना लिखा, शायद ही किसी दूसरे लेखक ने उतना लिखा हो; पर लिखने के नशे में 'अश्क' एक ऐसी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता, जहाँ से किसी पत्र के वार्षिक अंक के लिए भी कोई चीज़ भेजना उतना आवश्यक न रह जाता।

मैं अक्सर प्रीत नगर जाता और हमेशा पता रखता कि 'अश्क' क्या-क्या लिख रहा है।

एक दिन लाहौर में 'अश्क' के दर्शन हो गये। चमड़े का नया बैग हाथ में था। पता चला कि आँजनाब ने प्रीत नगर छोड़ दिया है और अब दक्षिण भारत की यात्रा पर निकलने वाले हैं। ख़ैर मुझे तो इससे ख़ुशी हुई, क्योंकि मैं यात्रा को सब से अधिक महत्व देता हूँ, और जिन दिनों मैं यात्रा नहीं कर पाता, हमेशा यही सोच कर सन्तोष पा लेता हूँ कि दुनिया के किसी भी हिस्से में, जहाँ कोई मित्र कहीं यात्रा कर रहा है, वह मेरे हिस्से की यात्रा भी अवश्य कर रहा है। इसीलिए मैंने आगे बढ़ कर 'अश्क' की पीठ ठोंकी, उसे गले लगाया और उसे विश्वास दिलाया कि यदि वह कृष्णचन्द्र, मण्टो और बेदी से आगे बढ़ जाना चाहता है तो उसे देश का कोना-कोना छान मारना चाहिए।

पर अगले ही महीने पता चला कि 'अश्क' दिल्ली से आगे नहीं बढ़ सका। 'अदबी दुनिया' के सहकारी सम्पादक 'मीरा जी' ने यह समाचार सुनाया कि 'अश्क' ने रेडियो में नौकरी कर ली है।

दिल्ली में कृष्णचन्द्र और मण्टो तो पहले से मौजूद थे। अब 'अश्क' के आने

से पूरी त्रिवेणी बन गयी। मैं समझता हूँ दिल्ली में इन साहित्यकारों के निकट सम्पर्क में 'अश्क' की कला खूब चमकी। उसने अनेक अच्छी कहानियाँ लिखीं, जिनमें 'काकड़ाँ का तेली' इसका ज्वलन्त प्रमाण है। बात इतनी-सी है कि कड़कती धूप में एक निर्धन तेली अपने परिवार सहित एक कच्ची सड़क पर चल निकला है। निर्धनता को छिपाने के लिए सौ-सौ फ़रेब करता है काकड़ाँ का तेली। परिवार का सामूहिक चित्र इसी फ़रेब का प्रतीक है और उस समाज पर एक भारी चोट की गयी है, जिसमें रहते हुए आदमी फ़रेब से काम लेने पर मजबूर है।

उन दिनों दिल्ली में भी मैं कई बार 'अश्क' से मिला। मैं नया-नया कहानी की ओर गया था। 'अश्क' काफ़ी नाक-भौं चढ़ाता, पर खुल कर कुछ न कहता। मैं सदा इस प्रतीक्षा में रहता कि कभी तो वह मुझ से भी कड़क कर वही बात कहे, जो उसने प्रीत नगर में मेरे उस मित्र से कही थी। मेरा यह दावा तो था ही नहीं कि मैंने कोई 'तीर मारा' है, पर मेरा यह सौभाग्य था कि उन्हीं दिनो मैंने 'नये देवता' शीर्षक कहानी लिखी, जो 'अदबे लतीफ़' के वार्षिक-अंक में प्रकाशित हुई। सच कहता हूँ 'अश्क' ने मुझे गले से लगा लिया। इस कहानी में एक साहित्यकार पर व्यंग्य कसा गया था। मुझे यह भी पता चला कि जिस दिन 'अदबे लतीफ़' का यह अंक दिल्ली में 'अश्क' और कृष्णचन्द्र को मिला, दोनों उस साहित्यकार मित्र के गिर्द नाच-नाच कर कहते चले गये थे—भई मज़ा आ गया। भई मज़ा आ गया।

दिल्ली में कई वर्षों तक रेडियो की नौकरी करने के बाद 'अश्क' बम्बई चला गया, जहाँ कृष्णचन्द्र और मण्टो पहले से मौजूद थे। अब वे फ़िल्मी दुनिया में थे। मालूम होता है यहाँ पहुँच कर 'अश्क' ने पहले से भी अधिक काम करना शुरू कर दिया। गाड़ी को तेज़ दौड़ाने का जो नतीजा होता है, वही हुआ। 'अश्क' को यक्ष्मा ने आ दबाया।

यक्ष्मा से छुटकारा पाने के लिए अश्क को फ़िल्मी दुनिया छोड़नी पड़ी और विश्राम के लिए उसने पंचगनी को चुना।

यक्ष्मा भी कहाँ इस साहित्यकार के हाथ से लेखनी छीन सका। श्रीमती कौशल्या 'अश्क' लिखती हैं—'लिखे बिना ये रह ही नहीं पाते। अभी एक वर्ष पहले जब डॉक्टरों ने यक्ष्मा का फ़तवा देते हुए आदेश दिया कि इन्हें पूर्ण आराम लेना चाहिए तो मैं समझती थी कि अब ये कुछ दिन चैन लेंगे। अलग कमरे में लिटा दिया गया और दरवाज़ा लगा दिया कि न कोई होगा, न ये बात करेंगे। इन्होंने न लिखा, न पढ़ा, न बोले, परन्तु लेटे-लेटे स्मृति के बल पर ही 'दीप जलेगा'

जैसी लम्बी कविता तैयार करते रहे। एक महीने बाद मैं इन्हें पंचगनी ले आयी और चार महीने तक इन्हें काम करने की आज्ञा नहीं मिली, तो ये लेटे-लेटे खण्ड-काव्य लिखते रहे। 'बरगद की बेटी' इन्होंने तभी समाप्त किया।'

अश्क का यह परिश्रम व्यर्थ नहीं गया। 'बरगद की बेटी' की चर्चा करते हुए सुप्रसिद्ध कहानी-लेखक यशपाल लिखते हैं—'अश्क ने 'बरगद की बेटी' में जो तारतम्य बाँधा है, उसमें शिथिलता जान नहीं पड़ती। वह बरसाती पहाड़ी नाले के समान चाहे देर तक नहीं बहती, पर जब तक बहती है, सवेग बह जाती है .....'

एकांकी के क्षेत्र में भी अश्क ने खूब नाम कमाया। 'देवताओं की छाया में' उसकी लेखनी का चमत्कार है। मैं समझता हूँ, बड़ी सफलता से यह एकांकी कई बार रंगमंच पर भी खेला गया। लेखक ने बड़ी कुशलता से यह दिखाया है कि किस प्रकार ठेकेदार पैसे बचाने के लालच में ख़राब मकान बनवाता है और छत गिर जाने से कितना बड़ा अनर्थ होता है। मजदूर का दृष्टिकोण इस एकांकी की विशेषता है।

यदि बीमारी ने अश्क का शरीर शिथिल न कर दिया होता तो शायद वह स्वयं रंगमंच का एक बहुत बड़ा अभिनेता बन जाता। मुझे वह शाम अच्छी तरह याद है, जब एक मित्र के ड्राइंगरूम में 'अश्क' से भेंट हुई। बातों-बातों में उसके एक नये एकांकी का जिक्र आ गया—'पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ।' यही उस एकांकी का नाम है। मज़ा आ गया, जब 'अश्क' ने कुर्सी से उठ कर अभिनय के साथ उसे पढ़ना शुरू किया। हम सब 'वाह-वाह!' कर उठे। उसने खूब अभिनय किया। मैं देख रहा था कि उसके कहकहे दब-से गये हैं। वह खुल कर नहीं हँस सकता था।

'अश्क' सचमुच मेरे सुपरिचित मित्रों में से है। ज़माने की गर्मी और सर्दी हम ने एक साथ देखी है। हम ने एक साथ कहकहे लगाये हैं। कई बार हम ने एक-दूसरे की टाँग खीचने की कोशिश की है, पर कभी हमारे बीच कटुता नहीं आने पायी और इसका श्रेय मैं 'अश्क' को ही देता हूँ। शायद उसे हमेशा मेरा लिहाज़ रहता है और शायद इसीलिए मज़ाक-मज़ाक में वह कई बार कह उठता है—'क्यों न मैं भी दाढ़ी रख लूँ।"

ख़ैर, हम तो अनेक वर्षों से मित्रता निभाते आ रहे हैं—इस मित्रता में दो साहित्यकारों की भिन्न रुचियों की सीमारेखा ज़रूर मौजूद रही है—और कभी समीप से, कभी दूर से एक-दूसरे के परिश्रम की जी खोल कर दाद देते रहे हैं, पर मैं सोचता हूँ कि किसी भी नये आदमी से 'अश्क' इतना ही खुल कर मिल सकता

है, उससे मज़ाक कर सकता है। जी हाँ, 'अश्क' बेहद बेतकल्लुफ़ आदमी है, फक्कड़ और सब का दोस्त ! हो सकता है कभी वह एकदम रूखा नज़र आने लगे। उस समय वह आप को भाँपने का यत्न करता है। उसके दिल में मैल नहीं, किसी प्रकार की कटुता को वह पिंजरे के तोते की तरह पालता नही। इसीलिए वह सब से मिल सकता है, कन्धे-से-कन्धा मिला कर खड़ा हो सकता है, जो कहना चाहता है, साफ़-साफ़ कह देता है। जामिया मिलिया दिल्ली के प्रो० सरवर ने 'अश्क' के बारे में ठीक ही फ़रमाया है––'अश्क की तबीयत में अजनबीपन नाम को नहीं।'

हो सकता है भारी-भरकम हुजूम में 'अश्क' का चेहरा मुझे दिखायी न दे सके, पर मित्रों की गोष्ठी में उसके व्यक्तित्व में मुझे सदैव एक निकट सम्पर्क का अनुभव होता है।

कभी-कभी सोचता हूँ, क्या यह ज़रूरी है कि मैं 'अश्क' की कल्पना सदैव एक समकालीन मित्र लेखक के रूप में ही करूँ। क्योंकि लेखक होना तो बहुत कठिन नही––आदमी होना ही सब से कठिन है। अश्क पहले आदमी है, फिर कुछ और ! आदमी भी ऐसा, जिसे अभिजात वर्ग की संस्कृति छू तक नही गयी। अपने उपन्यास 'गिरती दीवारें' के नायक चेतन के समान ही 'अश्क' को सदैव यह बात याद रहती है कि उसका जन्म निम्न-मध्यवर्ग में हुआ है और उस वर्ग की संस्कृति की छाप उसके जीवन पर सब से गहरी है।

खादी के कुर्ते-पाजामे में मुझे 'अश्क' बहुत ही भला लगता है। उसे अंग्रेज़ी सूट में देख कर तो मैं हमेशा चौंक उठता हूँ। सिर पर हैट भी हो तो मैं सचमुच डर जाता हूँ। मैं कहना चाहता हूँ––देखो भाई अश्क, यों किसी पर रोब डालना ठीक नहीं।

मैंने 'अश्क' का प्रेमी रूप ही देखा है, वैसे यह बात नहीं कि वह सोते-जागते प्रेम की बात ही सोचता हो। 'प्रेम का जवाब प्रेम से ही दिया जा सकता है'––वह ज़ोर दे कर कहता है––'पर साहब इसका यह मतलब नहीं कि घृणा का जवाब भी प्रेम से ही दिया जाय।' 'अश्क' को क्रोध भी आ जाता है। सामने से किसी को खाहमख़ाह वार करते देख कर तो शायद वह हँस कर ही बात को टालना पसन्द करे, पर पीछे से वार करने वाले से बदला लेने में ही वह जीवन का कमाल समझता है।

'अश्क' के उपन्यास 'गिरती दीवारें' की प्रशंसा सुनता हूँ तो मेरे मित्र का चेहरा मेरे सम्मुख बड़ी तेज़ी से उभरता है। शिवदान सिंह चौहान कहते हैं––'गिरती दीवारें पढ़ते समय सहज ही तुर्गनेव, दास्तोवस्की और गोर्की के

उपन्यासों का स्मरण हो आता है।' शमशेरबहादुर सिंह कहते हैं—'गिरती दीवारें की टेकनीक हमारे पुराने मन्दिरों की मूर्तिकला की याद दिलाती है, जिनकी दीवारें मूर्त्तियों से भरी होती हैं। एक बीच की बड़ी मूर्त्ति, फिर अगल-वगल दो-चार उससे छोटी, फिर उनके चारों तरफ़ इन मूर्त्तियों की कथा चित्रित करती हुई छोटी-छोटी अनेक मूर्त्तियाँ. . .देवी-देवता; उनके गण; और उनके सेवक; और उनकी लीलाएँ!' इस प्रशंसा में मैं भी तो अपनी आवाज़ मिलाना चाहता हूँ। 'गिरती दीवारें' के उपन्यासकार के रूप में अश्क की लेखनी हथौड़े का काम करती है—एक-एक वाक्य में वह निम्न-मध्यवर्ग की सामाजिक रूढ़ियों पर वार करता है, बड़ी सफलता से, गिन-गिन कर हथौड़े के वार करता है। पर इससे भी कही अधिक सौभाग्य की वात तो यह है कि 'अश्क' मेरा मित्र है। क्या हुआ यदि मैं अभी तक एक पहलवान की तरह उपन्यास के अखाड़े में नहीं उतर सका, पर यही क्या कम है कि मुझे अपने मित्र से ईर्ष्या नहीं और उससे कुश्ती लड़ने की बात तो मैं सोच ही नही सकता।

मोहन राकेश

●●●

देखो बच्चू...

मेरे पिता जी वकील थे। उनकी बैठक में अक्सर बहुत भीड़ रहती थी, क्योंकि वहाँ जितने मुवक्किल आते थे, उनसे कही अधिक दूसरे मिलने वाले लोग आया करते थे। मुझे बैठक में जाते हमेशा डर लगता था, क्योंकि इसका कुछ पता नहीं होता था कि वहाँ जाने पर कब प्यार से गाल सहला दिये जायेंगे और कब एकाएक डाँट पड़ जायेगी। यह बहुधा इस बात पर निर्भर करता था कि मैं किन लोगों की उपस्थिति में और पिता जी के कैसे मूड में बैठक में जाता हूँ। मैं बहुत छोटा था और मुझ से यह तय नहीं हो पाता था कि कब मुझे बैठक में जाना चाहिए और कब नही। मुझे सब लोग एक-से लगते थे—अपने से बहुत बड़े और बिलकुल अपरिचित! इसलिए मैं बैठक में जाने से बचता था और ऊपर छत पर जा कर पतंगों के पेंच देखा करता था।

मगर जब-तब बैठक से बुलाहट हो जाती थी। जब भी बुलाहट होती तो मुझे पता होता कि नीचे कोई ऐसे सज्जन आये हैं, जिन्हें जा कर 'जय श्री कृष्ण' करनी होगी। हमारा घर कट्टर सनातन-धर्मी था और नमस्ते करना हमारे घर में वर्जित था, क्योंकि नमस्ते आर्य-समाजी चीज़ समझी जाती थी। हमें हर आने वाले को 'जय श्री कृष्ण' करनी होती थी। जब भी बुलाहट होती, तो मैं छत से नीचे जाता हुआ अपने हाथों को पहले से ही तैयार कर लेता कि जो भी आया हो, उसे जल्दी से 'जय श्री कृष्ण' करूँ और फिर वापस छत पर पहुँच जाऊँ।

इसी तरह जब एक दिन मेरी बुलाहट हुई तो मैंने बैठक में जा कर देखा कि एक काले कोट वाले सज्जन अपनी फ़ाइल खोले हुए बैठे हैं और उसमें से कोई चीज़ पढ़ कर पिता जी को सुना रहे है। मैंने बिना पिता जी का आदेश पाये, उन्हें 'जय श्री कृष्ण' कर दी और झट-से वापस लौटने को हुआ, परन्तु तभी पिता जी की डाँट सुनायी दी, "सुन !"

मेरे पैर अपनी जगह पर ही जकड़ गये। पिता जी की हल्की-सी डाँट से भी मेरे पैरों को फ़ौरन ब्रेक लग जाती थी।

"तुझे पता है ये कौन है ?" पिता जी ने पूछा।

मैंने एक बार काले कोट वाले सज्जन को फिर ग़ौर से देखा और सिर हिला दिया कि मुझे नहीं पता, ये कौन है !

"ये अश्क जी है, उपेन्द्रनाथ अश्क !" पिता जी ने कहा।

मेरा मुँह कानों तक लाल हो उठा, क्योंकि अश्क शब्द से बेशर्मी की गन्ध आती थी। हमारी दादी कहा करती थीं कि इस तरह के शब्द बोलना बहुत बेशर्मी की बात है और ऐसा ही एक शब्द बोलने पर हमारे चाचा को एक दिन उनसे मार खानी पड़ी थी। मैं सोचने लगा कि कही चाचा उस दिन इन्हीं सज्जन का नाम तो नहीं ले रहे थे। मन में डरा भी कि पिता जी की आवाज़ कहीं दादी के कानों में न पड़ गयी हो, जिससे ऐसा न हो कि दादी वहीं आ कर उनके मुँह पर भी एक चपत लगा दे।

मुझे और कुछ नहीं सूझा तो मैंने उन्हें दूसरी बार 'जय श्री कृष्ण' कर दी। वे सज्जन मेरी तरफ़ देख कर गम्भीर ढंग से मुस्कराये और एक बार अपनी बायीं आँख को ज़रा-सा दबा कर अपनी फ़ाइल में से आगे पढ़ने लगे, "आओ आओ प्राण, बसाओ एक नया संसार. . . !"

मै डरा कि मामला प्राण जाने का है, इसलिए मुझे ऊपर ही चलना चाहिए। मगर इससे पहले कि मैं चलने का निश्चय करता, पिता जी ने फिर पूछा, "तुम्हें पता है, ये क्या करते है ?"

मैने निरपराध होने के ढंग से सिर हिलाया कि मुझे नही पता, ये क्या करते हैं।

"ये भी मेरी तरह वकील है," पिता जी ने कहा, "मतलब इन्होंने मेरी तरह वकालत का इम्तहान पास किया है, मगर ये वकालत नही करते, कविता करते हैं।"

मुझे यही नहीं पता था कि वकालत करना क्या होता है। मैं रोज़ देखता था कि लोग हमारे यहाँ आते हैं, पिता जी को नोट देते हैं और चले जाते है, कोई

हमारे यहाँ से ले कुछ नहीं जाता। पिता जी की आलमारियों में जो किताबें थीं, वे हमेशा ज्यों-की-त्यों रखी रहती थीं। पैसे देने वाला कभी एक भी किताब ले नहीं जाता था। यह बात मुझे बहुत आश्चर्यजनक लगती थी। हमारे ताया जी के पंसारी की दुकान थी। वहाँ पर आ कर तो जो एक पैसा भी देता था, वह बदले में कम-से-कम नमक की पुड़िया ज़रूर ले जाता था। अब कविता करना क्या होता है, यह मेरे लिए और भी टेढ़ा सवाल था। मगर मैंने भी मन-ही-मन अटकल भिड़ायी कि कविता करना कोई बहुत बड़ा काम होगा। उन दिनों अक्सर यह चर्चा हमारे कानों में पड़ती थी कि महात्मा गांधी आजकल अनशन कर रहे हैं और मैं सोचा करता था कि अनशन करना भी कोई बहुत बड़ा काम है। इस नतीजे पर मैं तब तक पहुँच चुका था कि जितने बड़े काम है, उनमें न हाथ से कुछ करना होता है और न ही किसी को कुछ देना-दिलाना होता है। जिस श्रेणी में मैंने वकालत और अनशन को रखा हुआ था, उसी में मैंने अब कविता को भी शामिल कर लिया।

"तू भी बड़ा हो कर कविता करेगा?" पिता जी ने पूछा।

मेरी समझ में नहीं आया कि हाँ कहूँ या ना कहूँ। मगर मैंने सोचा कि बड़ा काम है, इसे करने से इनकार न करना चाहिए, इसलिए मैंने कहा, "करूँगा!"

"तो जा कर इनके लिए चाय बनवा ला," उधर से आदेश मिला। मुझे पहले पता होता कि 'करूँगा' कहने का यह फल है तो मैं ज़रूर कह देता कि नहीं करूँगा। मगर अब क्या था? बात मुँह से निकल चुकी थी। ऊपर मैं लाल और नीली पतंग का पेंच लगा छोड़ आया था और छत से लड़कों के ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने की आवाज़ें आ रही थी। जब मैं मन-ही-मन कुढ़ता हुआ अन्दर चला, तो मैंने दिल में यह तय कर लिया था कि बडा हो कर और चाहे जो करूँ, कविता कभी नही करूँगा। पिता जी कहें, तो भी नहीं करूँगा।

हमारे घर में चाय अपनी ही तरह की बनती थी। सर्दी के दिनों में हमारे लिए डेढ़ पाव दूध में एक-दो घूँट चाय का पानी मिला दिया जाता था, जिससे उसकी तासीर गर्म हो जाय। मगर चाय ख़ुश्की न करे, इसलिए उसमें ख़ूब मलाई और बादाम की गिरियाँ डाल दी जाती थी। माँ को जा कर मैंने बताया कि एक बहुत बड़े मेहमान आये है, इसलिए उन के लिए बहुत बढ़िया चाय बना कर ले जानी है। यह मैंने इसलिए कहा कि कही चाय में कोई कसर न रह जाय, जिस से बैठक में जा कर मुझे डाँट सुननी पड़े और फिर दूसरी बार चाय बनवा कर ले जाने का तरद्दुद करना पड़े। माँ ने बढ़िया चाय बनाने के सिलसिले में

उसमें और भी मलाई और गिरियाँ डाल दीं। मैं ऊपर तक भरा हुआ आध सेर वाला बड़ा गिलास लिये इस तरह गुमान के साथ बैठक में दाखिल हुआ जैसे मैंने कोई बहुत बड़ा मार्के का काम कर लिया हो। मगर जब मैंने गिलास ले जा कर उन सज्जन के सामने किया तो वे गिलास पर एक सरसरी नज़र डाल कर बोले, "काका मैंने दूध नहीं चाय लाने को कहा था।" और अपनी फ़ाइल में से आगे पढ़ने लगे, "विस्मृति में जो दबी हुई थी धधका दी फिर आग. . .।"

मुझे बहुत गुस्सा आया कि मैं इतनी मेहनत से चाय बनवा कर लाया हूँ और इस बीच जाने ऊपर कितनी पतंगें कट गयी हैं और इन्हें अपनी आग धधकाने की पड़ी है। मगर मैंने पिता जी के डर से अपने गुस्से को होंठों में चबा लिया और कहा, "जी, यह चाय है!"

इस पर उन्होंने फ़ाइल बन्द कर दी, एक बार फिर गिलास की तरफ़ देखा और ज़ोर से ठहाका लगा कर हँस दिये। मैं एक कदम पीछे हट गया। मुझे शक हुआ कि कहीं मैंने ग़लती से उन्हें हाथ से गुदगुदा तो नही दिया। मेरे हाथ से दूध का गिलास थोड़ा छलक गया।

"यह चाय है?" उन्होंने हँसी रुकने पर कहा और फिर उसी तरह ठठा कर हँस दिये। मैं एक कदम पीछे हट गया। मैंने यह जतलाने के लिए कि मैं बिलकुल निरपराध हूँ, चाय का गिलास पिता जी को दिखला दिया, जिससे उन्हें पता चल जाय कि मेरे हाथ रुके हुए हैं और मैंने उन सज्जन के साथ कोई शरारत नहीं की।

पिता जी ने गिलास की मलाई को देखा तो वे भी ज़ोर से हँस पड़े। यह सोच कर कि कोई हँसने की ही बात है, जो मेरी समझ में नही आयी, मैं भी समझदारों की तरह हँस दिया।

"अरे तू क्यों हँस रहा है?" पिता जी ने कहा तो मुझे लगा कि शायद वे लोग मेरी ही किसी बात पर हँस रहे हैं। इससे मुझे रुलाई आने लगी।

चाय उन सज्जन को दे कर जब तक मैं ऊपर छत पर पहुँचा, तब तक सब-की-सब पतंगें कट चुकी थीं। मैंने दाँत भींच कर सोचा कि अब पिता जी मुझ से उस व्यक्ति के सामने फिर से पूछें कि क्या मैं बड़ा हो कर कविता करूँगा तो मैं फटाक-से उत्तर दूँ, "नहीं करूँगा। कभी नहीं करूँगा!"

तब से अब तक ज़िन्दगी का एक लम्बा फ़ासिला तय हो चुका है। बीच के इन वर्षों में मैंने उन्हें बहुत पास से और बहुत अच्छी तरह जाना है और जाना है एक अत्यन्त निकट स्वजन और घनिष्ठ मित्र के रूप में! इस बीच कई बार उनके

मुँह से उनकी कविताएँ सुनी हैं, इलाहाबाद में, डलहौज़ी और पहलगाम में, जालन्धर और दिल्ली में। डलहौज़ी में रहते हुए उनकी रचना की प्रक्रिया को भी पास से जाना है। 'सड़कों पे ढले साये' की दो-एक कविताएँ उन्होंने उन्हीं दिनों लिखी थीं। 'सँगतरी चाँद' और 'टेरता पाखी' उन्हीं दिनों की रचनाएँ हैं। मैं समझता हूँ कि उनके साथ मेरे बचपन के व्यक्तिगत परिचय का रूप इस दृष्टि से आज भी नहीं वदला कि उनकी रचनाएँ पढ़ते-सुनते समय मैं उन में विशुद्ध साहित्यिक दिलचस्पी न ले कर आज भी उन्हें एक वैयक्तिक कोण से ही लेता हूँ। आज उनकी कविताएँ सुनते समय मन में अर्थ का अनर्थ नहीं होता, परन्तु उस समय उन कविताओं के भाव और अर्थ के आगे कुछ सोचूँ ही नहीं, ऐसा आज भी नहीं होता। मुझे याद है कि जिस समय डलहौज़ी में मुझे वे अपनी उपर्युक्त कविताएँ सुना रहे थे, तो मन में बनते हुए 'सॅगतरी चाँद' और केलू के वन के ख़ाके से थोड़ा हट कर मैं एक और बात भी सोच रहा था। सोच रहा था कि पचास को पहुँच कर भी अश्क देखने में जितने युवा लगते है, अपने साहित्यिक व्यक्तित्व में भी कैसे वे वही यौवन बहाल रखे हुए हैं? उनकी पीढ़ी के और किस साहित्यकार में इस तरह की व्याकुलता है कि वह अपनी विशिष्टता के दायरे में सीमित न रह कर हर नयी पीढ़ी के साथ उसी पीढ़ी का हो कर चलने का प्रयत्न करे? बात कविता की हो या कहानी की, क्या पचास को पहुँची हुई पीढ़ी में अश्क ही अकेले ऐसे नहीं हैं, जो अपने से बाद में आने वाले लोगों के कृतित्व को उपेक्षा और बड़ों की-सी सहिष्णुता की दृष्टि से न देख कर, उसे एक नयी चुनौती के सम्मान के साथ देखते हैं और अपनी ही मर्यादा के जड़ चबूतरे पर खड़े रहने की बजाय उस चुनौती को स्वीकार कर के अपने लिए उस नये मार्ग की सम्भावनाएँ खोजने में जुट पड़ते हैं। मुझे पहलगाम की याद है—कि जिस तरह वे नवयुवकों की तरह वहाँ की सड़कों पर कहकहे लगाया करते थे, उसी तरह कन्धे पर हाथ मार कर कहा करते थे, "देखो बच्चू, यह मत समझो कि तुम नये लोग अब तीर मारने लगे हो तो मैं मैदान छोड़ कर हट जाऊँगा! जितना डट कर तुम लोग लिखोगे, उतना ही डट कर मैं भी लिखूँगा। मैं ऐसे हारने वाला नहीं हूँ!"

और मैं जानता हूँ कि यह केवल कहने की ही बात नहीं थी, उन्हें इसमें पूरी आस्था भी है। मुझे विश्वास है कि आज जो लड़के छत पर पतंगों के पेंच देख रहे हैं, जब दस या पन्द्रह साल बाद वे साहित्य के क्षेत्र में अपनी नयी-नयी रचनाएँ ले कर आयेंगे, तो अश्क इसी आस्था के साथ उन कन्धों में भी अपना कन्धा मिलाये होंगे।

अश्क जैसे तब लगते थे, जब मैंने उन्हें बचपन में देखा था, लगभग वैसे ही

वे आज भी लगते हैं (अपने सिर के सफ़ेद बालों के बावजूद) और मैं समझता हूँ कि आने वाले कई वर्षों तक वे उतने ही युवा और सजीव लगते रहेंगे और हर नयी पीढ़ी के लोगों से इसी तरह कन्धे पर हाथ मार कर कहते रहेंगे, "देखो बच्चू, यह मत समझो कि. . . ।"

शानी
●●●

दूर और नज़दीक से

पिछले साल जबलपुर में एक लड़की मिली थी। कॉलेज की तरुणी छात्रा थी और साहित्य की गहरी सूझ-बूझ चाहे उसमें न हो, लेकिन अदब और अदीब-नवाज़ इतनी कि वह परस्तार ज़्यादा लगती थी, साहित्य की गम्भीर पाठिका कम। बातों के दौरान कथा-साहित्य और लेखक के व्यक्तिगत जीवन की चर्चा में जब अश्क जी का नाम आया तो बड़ी भावुकता में भर कर उसने कहा था, "अश्क जी का नाम लेते ही कैसा अजीब-सा लगता है न! मैंने उन्हें नही देखा, लेकिन मेरे ज़ेहन में एक ऐसे व्यक्ति की तस्वीर आती है, जिसने जीवन भर केवल दुख-ही-दुख देखे हों। अक्सर मैं सोचने लगती हूँ कि ऐसे आदमी पता नही कैसे होते होंगे।"

तब तक मैं अश्क जी को अच्छी तरह देख-भाल-समझ चुका था। हफ़्तों साथ रह कर उनकी अधिकांश बातों को एक अन्तरंग मित्र की तरह सुनने का सौभाग्य प्राप्त कर चुका था। एक क्षण के लिए, आत्मगौरव के लोभ में, मन में आया कि उसे मैं अश्क जी के बारे में कुछ बताऊँ, लेकिन फिर चुप लगा गया और अश्क की उन कृतियों को पढ़ जाने की सिफ़ारिश कर के छुट्टी पा ली, जिनमें उनके व्यक्तिगत जीवन के चन्द नुक्ते उभरते है।

अपने को उस दिन कठिनाई से रोक कर मुझे प्रसन्नता हुई थी। यह ठीक है और अधिकांश लोग जानते भी है कि अश्क जी ने प्रारम्भ से ही अभाव, पीड़ा, क्लेश, संघर्ष और लम्बी-लम्बी बीमारियों के बीच अपने को माँजा-चमकाया

है, लेकिन उस क्षण कालातीत की बातें कहना शायद काफ़ी न होता। अभाव आदमी को अनुभव देता है और अनुभव चिन्तन में प्रौढ़ता। कदाचित् अश्क जी की वर्त्तमान सुख-सुविधा की सूचना उस लड़की की श्रद्धा-संवेदना को कहीं-न-कही ज़रूर बदल देती। एक उम्र शायद होती है कि कलाकार को किसी दूसरे जगत का आदमी समझा जाता है और उसे असाधारणता की विशेषताओं से लदे-फँदे देखने को जी करता है। लगता है, कलाकार लाख आदमी सही, लेकिन उसका रहना-सहना सम्भवतः दूसरी तरह होता होगा—होना चाहिए। कई बार अजीब, बचकानी और उद्भ्रान्त-सी जिज्ञासाएँ मन में बार-बार आती हैं।

लेकिन एक चर्चा बिलकुल दूसरे स्तर और ढंग की होती है; अक्सर होती है और हम लोगों के बीच ही होती है। उसमें अश्क जी के व्यक्तित्व की जो रेखाएँ खीची जाती हैं, उससे पूर्वग्रहयुक्त साधारण अथवा असाधारण, परिचित अथवा अपरिचित—दोनों ही प्रकार के पाठकों के सामने एक बदनाम-सी शख़्सियत उभरती है। जब-जब इस तरह की बातें आयी हैं, मैं अक्सर सोचने लगा हूँ कि एक ही व्यक्ति के बारे में इस तरह की परस्पर-विरोधी बातें कैसे की जाती हैं। एक ही आदमी में क्या कई-कई आदमी एक साथ होते हैं ?

मुझे लगता है कि किसी भी फ़नकार को देखने, उससे मिलने या उससे बातें करने की बगटुट साध के मूल में शायद यही एक जिज्ञासा परत-दर-परत उघाड़ती अपने को धीरे-धीरे बेग़िलाफ़ करती है। उसके बाद सवाल ज़ेहनियत का रह जाता है। व्यक्ति अपनी सीमाओं, संस्कारों, संकीर्णता-उदारता अथवा ग्रहण-शीलता के अनुसार अक्स लेता और चीज़ों को देखता है। ज़ाहिर है कि इससे पूर्वग्रह बनते हैं, चाहे अनुकूल हों अथवा प्रतिकूल।

इन दो स्तरों की बात इसलिए की है कि पहली वाली उम्र से मैं गुज़र आया हूँ और दूसरे के दौरान में गुज़र रहा हूँ। मैं समझ नही पाता कि ऐसे अवसर पर मुझे क्या कहना चाहिए। आशंका होती है कि कहीं लोग यह न समझ लें कि मेरे कहने में भी कहीं पूर्वग्रह है, क्योंकि अगर ऐसा हुआ तो मेरा कहना बेमानी और बेअसर होगा।

मैं अश्क जी को कब से जानता हूँ, यह ठीक-ठीक याद नहीं। यह ज़रूर याद है कि जब मैं हाई स्कूल का विद्यार्थी था तो उनके तख़ल्लुस ने मुझे यक-ब-यक आकर्षित किया था। उनके पहले उपन्यास 'सितारों के खेल' में अश्क जी की बड़ी ही शायराना क़िस्म की तस्वीर छपी थी। पहली बार मैंने एक अच्छा उपन्यास पढ़ा था, जिसका असर महीनों मेरे दिमाग़ पर रहा था। धीरे-धीरे उनकी कई

पुस्तकें पढ़ीं, कहानियाँ देखीं, चर्चा सुनी और 'गर्म राख' पढ़ने के बाद मन-ही-मन उसके कृतिकार की परस्तिश करने लगा।

सात-एक बरस पहले किसी काम से मैं बम्बई गया था। उन दिनों कृष्णचन्द्र की कहानियों की बड़ी धूम थी और हर नया कथाकार उनकी शैली की नकल करने के प्रयत्न में लगा हुआ था। बम्बई के प्रति एक मुख्य आकर्षण यह भी था कि वहाँ कृष्ण रहते थे और उनसे मिलने की बड़ी उत्कण्ठा थी। मेरा दुर्भाग्य देखिए कि बड़ी कठिनाइयों के बाद उनके बँगले पहुँचने पर मालूम हुआ कि कृष्णचन्द्र रूस गये हुए हैं। निराशा तो बेहद हुई, लेकिन ख़ैर, महेन्द्रनाथ से मिल कर कसर पूरी कर ली। महेन्द्रनाथ के यहाँ गप-शप के बीच अश्क जी की बातें इस तरह निकलीं और इतनी निकली कि बिना किसी परिचय के अश्क जी मुझे अत्यन्त निकट के और आत्मीय लगने लगे।

उन्हें पत्र लिखने को पहले भी बहुत जी होता था, लेकिन कभी साहस नहीं बन पाया। बम्बई से लौटने के बाद जाने कैसे-क्या हुआ कि मैंने एक बड़ा लम्बा पत्र उन्हें लिखा। हालाँकि आशा नहीं थी, लेकिन एक सुबह मुझे उनका इतना बड़ा और प्यारा जवाब मिला कि जी ख़ुश हो गया। लिखा था :

..."आप बम्बई में कृष्ण और महेन्द्रनाथ के यहाँ गये, यह आपने अच्छा किया, पर आप को राजेन्द्रसिंह बेदी से भी मिलना चाहिए था। लेखकों में बेदी-जैसा आदमी मिलना मुश्किल है। कृष्ण बहुत नफ़ीस आदमी है। मित्र बनाना और मैत्री निभाना उसे ख़ूब आता है। मुझे लेकिन दुर्भाग्य से शत्रु बनाने का ही फ़न आता है...यह हमारा दुर्भाग्य है कि जिनके श्रम से साहित्य का खज़ाना भरना चाहिए था, वे फ़िल्म के बियाबान में भटक रहे हैं..."

फिर मेरे मिलने की इच्छा प्रकट करने पर लिखा—"आप इलाहाबाद ज़रूर आयें—हालाँकि लेखकों को निकट से देखना अच्छा नहीं होता। उनके व्यक्तित्व के कई कोने दबे होते हैं और कई बार वे साधारण आदमियों से भी बढ़ कर ख़ामियों के मालिक होते हैं।"

कमियाँ-ख़ामियाँ क्या होती हैं, यह मतभेद और बहस की बात है, किसी के व्यक्तित्व की चर्चा में कमियों-ख़ामियों का उल्लेख इसलिए अनावश्यक है, क्योंकि ये व्यक्तित्व के आवश्यक और अपरिहार्य अंग हैं।

बहरहाल, मैं अपने दोस्त के साथ पहली बार इलाहाबाद गया। बरसात के दिन थे। शाम के आठ बजे जब हम लोग अश्क जी के यहाँ पहुँचे तो पता चला कि वे कौशल्या जी के साथ किसी मीटिंग में गये हुए हैं। अधिक नहीं, केवल आध घण्टा ही प्रतीक्षा करनी पड़ी। बरसात हो रही थी और बावजूद रिक्शे में आनेके,

वे थोड़ा भीग गये थे, लेकिन यह सुनकर कि मैं आया हूँ, वे तत्काल मिले और करीब बारह बजे तक बैठे बातें करते रहे, जब तक कि कौशल्या जी ने खाने के लिए तकाज़े न कर दिये। तब मैं एकदम नया था और कुछेक कहानियाँ ही इधर-उधर लिखी थीं, लेकिन मेरे प्रति अश्क जी का व्यवहार ऐसा था, जैसे मैं उनका कोई अत्यन्त आत्मीय या घनिष्ठ मित्र होऊँ।

पुस्तकों के प्रकाशन आदि के सम्बन्ध में मुझे कोई जानकारी भी न थी और मेरा पहला संग्रह 'बबूल की छाँव' एक दूसरे प्रकाशक को दे दिया गया था। उस प्रकाशक से मेरी बात अश्क जी ने ही तय करा दी थी। पर साल भर गुज़र जाने के बाद भी जब उन्होंने संग्रह नहीं छापा तो अश्क जी ने मसविदा मँगाकर उसे अपने यहाँ से प्रकाशित कर दिया।

पुस्तक बाजार मे आने के पहले मुझे एक पत्र मिला, जिसमें उन्होंने लिखा था :

"तुम्हारी कहानियाँ अब इधर-उधर छपने लगी हैं, संग्रह भी छप रहा है और कुछ ही दिनों में तुम साहिबे-किताब हो जाओगे, लेकिन मुझे उम्मीद है कि तुम इस बात को अपने दिमाग़ पर चढ़ने नही दोगे और बड़ी ही हलीमी, सब्र, साबितकदमी और साफ़दिमाग़ी से हमेशा सीखने की भावना ले कर काम करते रहोगे। मेरी इन बातों का ध्यान रखोगे तो निश्चय ही एक दिन तुम हिन्दी कथा-साहित्य के सिरमौर हो जाओगे! . . ."

और इस बीच मैंने अश्क जी को विभिन्न मनःस्थितियों और रूपों में देखा है। औपचारिकता, तकल्लुफ़ आदि की बन्दिशों को तोड़ याराना लहजे के उन्मुक्त और खुले ठहाके लगाते, मेरी युवासुलभ किसी बात, किसी हठ या आग्रह पर बुज़ुर्गाना मशविरा देते अथवा अधिकारपूर्वक डाँटते। उनका मुझे ले कर इस या उस साहित्यकार से मिलाने के लिए दिन के कई-कई घण्टे ज़ाया करना याद है और याद है, उनका लगातार काम के बाद का थका हुआ चेहरा, जब निहायत ऊबे हुए स्वर में एक अत्यन्त साधारण व्यक्ति की तरह उन्होंने कहा है--"यार शानी, ज़िन्दगी में कोई लुत्फ़ नही। बचपन से ले कर अब तक बस खट ही रहा हूँ। दिन-रात कोल्हू के बैल की तरह जुटे रहना पड़ता है और चौबीसों घण्टे काम का भूत दिमाग़ पर सवार रहता है। मैं चपड़कनाती भी कहाँ लेखक-वेखक बनने के चक्कर में पड़ गया . . ."

प्रतिवाद करने पर जवाब होगा--'देखो न, साहित्य साधना की माँग करता है और साधना का मतलब है कि अपने को निर्मम बनाकर काम किया जाय। कितनी बार मेरा जी न करता होगा, लेकिन मैं ठीक-ठिकाने से अपने बीवी-बच्चों

से बातें तक नहीं कर पाता...इस कीमत पर मिली प्रतिष्ठा कमबख़्त किस काम की !

और मुझे लगता है कि जीवन के प्रति अश्क जी का दृष्टिकोण एक मितव्ययी और अग्रसोची व्यापारी की तरह है, जो पल-पल का लेखा-जोखा रखता है, क्योंकि समय के हाथ बड़े निर्मम है।

उर्दू के एक नौजवान शायर और मेरे दोस्त नूर क़ाज़ीपुरी का एक क़ितअ है --

ख़्वाह गुज़रे कोई भी दो घड़ी मातम करके,
अपनी रंगीनियों में ऐसे ये दुनिया खो जाय,
जैसे पत्थर किसी ठहरे हुए पानी पे गिरे
चन्द मौजें उठें और सतह बराबर हो जाय।

इस क़ितअ में अश्क जी के सन्दर्भ में मैं थोड़ा सुधार करना चाहूँगा। उनका व्यक्तित्व पत्थर-सा ही सख़्त है, जो पानी की सतह को चीर कर भीतर पैठ जाता है, लेकिन वह हल्का कंकड़ नही, बड़ी और ठोस चट्टान है, जो गिरती है तो आवाज़ होती है और धरातल मे पैठती है तो अपने सारे दबे हुए कोनों से बुलबुले फेंकती हुई ठहरे पानी में लगातार हलचल मचाये रखती है, जब तक कि पानी ही न सूख जाय।
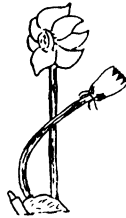
गोपालप्रसाद व्यास

●●●

सक्रिय और सजग

चौदह दिसम्बर, १९६० को भाई उपेन्द्रनाथ पूरे पचास वर्ष के हो गये। अभी पिछले दिनों प्रयाग तथा जालन्धर में उनकी स्वर्ण जयन्ती मनायी गयी और आज मैं यह लेख लिख कर उनसे मिलने की अपनी रजत जयन्ती मना रहा हूँ। तब अश्क जी नये-नये लेखक थे और मैं 'साहित्य सन्देश' का सम्पादन करता था। उनका प्रथम कविता-संग्रह उन्हीं दिनों प्रकाशित हुआ था। वह मुझे अनगढ़ और अटपटा-सा लगा था। मैंने अपनी राय उनसे छिपायी नहीं, उन्होंने भी अपनी बात कहने में संकोच नहीं किया। प्रथम परिचय ने ही बेतकल्लुफ़ी का रूप धारण कर लिया। वह सम्बन्ध आज तक निभता ही नहीं, बढ़ता भी आया है। अश्क जिससे मिलते हैं उसे अपना बना लेते हैं—अपनी साफ़गोई से, अपनी ज़िन्दादिली से!

अश्क देखने में कवि, लेखक या उपन्यासकार नहीं लगते। बात करने पर वे बौद्धिक या विचारशील मालूम नहीं पड़ते। अगर कोई पुराने विचारों वाला आदर्शवादी व्यक्ति उनसे टकरा जाय तो कहेगा यह आदमी या तो किसी बड़े बाप का बिगड़ा हुआ बेटा है या किसी यूनिवर्सिटी से निष्कासित कोई खूसट छात्र है। पहले परिचय में ख़ासतौर से बनावटी गम्भीर आदमी पर वे ऐसा ही 'इम्प्रेशन' डालते है कि वह उन्हें निस्संकोच आवारा कह सके। उनका ठठा कर हँसना, एकदम गम्भीर वातावरण में कोई निहायत हल्की बात कह उठना, उनकी तरफ़ कोई न देखता हो तो सिनेमा के चवन्नी-क्लास वालों की तरह सीटी बजा देना और

इस पर भी कोई न माने तो ऐसा चुटकुला छेड़ देना कि लोग अपनी बात कहना भूल जायँ––यह उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। इसके माने यह हैं कि अश्क जीवन को बहुत गम्भीरता से नहीं जीते, मनहूसियत उन्हें एकदम नापसन्द है और कृत्रिमता को तोड़ने के लिए वे कहीं तक भी जा सकते हैं। उन पर गम्भीरता या परम्पराओं का रोब लादा नहीं जा सकता।

मुझे नहीं मालूम कि अश्क का हिन्दी के प्राचीन और विश्व के अर्वाचीन साहित्य से कितना परिचय है? लेकिन एक बात मुझे ज्ञात है कि उनका जीवन संघर्षों की तीव्र लपटों में निरन्तर तपा है। उनके घर का वातावरण साहित्यिक नहीं था। उनके मित्रों ने उनका शोषण किया है। साहित्य के ठेकेदारों ने उनको चोट-पर-चोट पहुँचायी है। छल, कपट, दम्भ एक ओर से और ग़रीबी, बेकारी, स्वजनों की मृत्यु और अपनी बीमारी ने दूसरी ओर से उन्हें निरन्तर दबोचा है। लेकिन वे सब परीक्षाओं में सफल हुए हैं और स्वर्ण की तरह चमके हैं। जीवन के घोर-घोर कष्टों में भी उन्होंने हँसना सीखा है। उन्होंने इतना सहा है कि सहते-सहते वे फूल की तरह हल्के और शिशु की तरह निर्मल हो गये हैं। जो वेदना को पी सकता है, वही हँस सकता है। जो जीवन के प्रति, उसके मूल्यों के प्रति गम्भीर है, वही व्यवहार में हल्का-फुल्का हो सकता है। हिन्दी में इसकी एक मिसाल महादेवी हैं और दूसरी श्री उपेन्द्रनाथ अश्क।

उनकी जीवन-यात्रा की कुछ मंज़िलें देखिए––वे कहीं अपने शहर में अध्यापकी करते हैं, पर उसके तंग घेरे से निकल लाहौर चले जाते हैं। अख़बारों के दफ़्तरों में सहायक सम्पादकी मिलती है, मगर वहाँ भी पटरी नहीं बैठती। कहानी-कविताएँ लिखते हैं, मगर रोज़ी नहीं चलती। नाटक, उपन्यास शुरू करते हैं, मगर जी को तसल्ली नहीं होती। सिनेमा में जाते हैं, वहाँ लिखते ही नहीं, अभिनय भी करते हैं, मगर जी को चैन नहीं। बीमार होते हैं––ऐसे बीमार कि बचने की उम्मीद नहीं। भला तपेदिक से तब इस देश में कौन बचता था? मगर अश्क न केवल बचते हैं, वे पूरे जोश के साथ फिर मैदान में आ जाते हैं। वे अब लेखक भी हैं और प्रकाशक भी। लेखक भी हैं और सम्पादक भी। व्यक्ति भी हैं और संस्था भी। इस देश में ही नहीं, विदेशों में भी उनका नाम और लेखन पहुँचने लगा है। और आज उनकी स्वर्ण जयन्ती भी मनायी जा रही है। इसका एक ही अर्थ है और वह यह कि जीवन के प्रति उनकी गहरी आस्था है। उनका मन सतत विकासशील है। वे लगन और जीवट के आदमी हैं––ऐसे आदमी, जो परिस्थितियों से हारना नहीं जानते।

उनके परिश्रम की बात सुनिए। कोई विचार, कोई कथानक उनके खयाल

में आया। उस पर उन्होंने कहानी लिखी। उसका अंग्रेज़ी और उर्दू में रूपान्तर किया। फिर उस पर एकांकी लिखा। यदि वह एकांकी में पूरी तरह व्यक्त नहीं हुआ तो फिर उसे बड़े नाटक का विषय बनाया। उसमें भी न चूका तो वही विचार उपन्यास का रूप धारण कर गया। एक चीज़ पर वे पूरी तरह मेहनत करते हैं, उससे पूरा-पूरा फ़ायदा भी उठाने का यत्न करते हैं। वे न केवल अपने लेखन के प्रति, अपितु उसके पाठकों तक पहुँचने के प्रति भी पूर्णतया सजग हैं, और हर लेखक को होना भी चाहिए।

अश्क ने नाटक, उपन्यास, कहानी और कविता--हर क्षेत्र में लिखा है। उनकी कई चीजें असाधारण रूप से जानदार हैं। ख़ासतौर से उनका नया उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' और 'पत्थर-अलपत्थर'। लेकिन जीवन-नाटक की विभिन्न भूमिकाओं में तरह-तरह के पार्ट खेलने वाले इस प्रतिभाशाली व्यक्ति के नाटक में जो मज़ा है, वह और कहीं नही। मुझे कहने दीजिए कि एकांकी नाटकों की जितनी पकड़ इस समय अश्क को है, वैसी और किसी को नहीं।

देखा जाये तो आदमी ५० वर्ष बाद ही खुलता है। ठीक उसी तरह जैसे सूर्योदय के पश्चात कली विकसित होती है। अश्क अब खिलने लगे है! निश्चय ही इस सुमन की सुवास दूर-दूर तक पहुँचेगी।

फ़रिश्ता नहीं....

बस कि दुश्वार है हर काम का आसाँ होना।
आदमी को भी मुयस्सर नहीं इन्साँ होना।।
—ग़ालिब

कौशल्या अश्क

●●●

उभरे-दबे कोने

किसी लेखक के कृतित्व को जान लेना उतना कठिन नहीं——उसकी रचनाओं से उसकी विचारधारा या जीवन-दर्शन को भी जाना जा सकता है, किन्तु उसके व्यक्तित्व को जानना आसान नहीं। अश्क जी के कृतित्व को लोग उनकी रचनाओं द्वारा जान लेते हैं, उनके बाह्य रूप, रंग-ढंग, बोल-चाल को देख कर उनके व्यक्तित्व का अन्दाज़ा भी कर लेते हैं, पर वह अन्दाज़ा प्रायः ठीक नहीं होता, क्योंकि उनके व्यक्तित्व के उभरे-दबे कोनों से वे पूरी तरह परिचित नहीं होते और अश्क जी बाहर से जो दिखायी देते है, वही भीतर से हों, ऐसी बात नहीं। पिछले २० वर्षों में मैंने अश्क जी को विभिन्न रंगों और मूडों में बहुत निकट से देखा है——उनके देखने-जानने वालों के सम्मुख उनके व्यक्तित्व का जो रूप आता है, उससे सर्वथा भिन्न और उलट उनके रूप को मैं जानती हूँ। बाहर वाले तस्वीर का एक ही रुख़ देखते है, जबकि मैं तस्वीर के दोनों रुख़ देखती-जानती हूँ।

हम अश्क जी की पचासवीं वर्षगाँठ मनाने जा रहे हैं, पर प्रकटतः उनमें अब भी बचपना है——चंचलता, शरारत, चुहलबाज़ी, छेड़-छाड़ करना, दूसरों को बना कर मज़ा लेना, लड़ाई-झगड़ा करना, बच्चों की तरह बड़ हाँकना, ज़िद करना, रूठना और मनना. . . .मैं उनसे कहती हूँ कि अब आप बड़े (बुजुर्ग) हो गये हैं तो उत्तर में वे शरारत से ठहाका मार कर हँस देते हैं।

चार आदमी बैठे है, बाते हो रही है कि बहस शुरू हो जाती है। बहस-बहस में किसी ने इन्हें कोई तेज बात कह दी, उत्तर में ये चार सुना देंगे। बस, मनमुटाव के लिए काफ़ी है। पर इस सब के बाद ये उसका पिण्ड थोड़े ही छोड़ेंगे--जब कभी वह सामने पड़ जायगा, अपने चार काम छोड़ कर ये उसे जा पकड़ेगे, वह बात करना न चाहेगा तो ये उसे बात करने पर मजबूर कर देंगे। ज़ाहिर है कि मनमुटाव झगड़े का रूप ले लेगा।

हम अच्छे-भले घर-द्वार की बाते करते सिविल लाइन्स मे जा रहे होते है कि वह व्यक्ति सामने की पटरी पर दिखायी दे जाता है--"तुम जरा रुको, मैं दो मिनट में आया," कहते और लगभग भागते हुए ये उधर चले जाते है और मै मुँह उठाये इनके 'दो मिनट' की प्रतीक्षा करने लगती हूँ, मन में खीजती हूँ, पर कर कुछ नही सकती। प्रायः ये 'दो मिनट' डेढ़-दो घण्टे में समाप्त होते है और तब ये शरारत से मुस्कराते हुए आते है--"मुझे कुछ देर हो गयी, बाते ही ऐसी होने लगीं, उसने मुझे खूब गालियाँ दी, पर बड़ा मज़ा आया।" ये अपनी धुन में कहते जाते है।

फ़ुटपाथ पर खड़ी प्रतीक्षा करते-करते मै थक जाती हूँ, बड़ा गुस्सा आता है--"इसमे मज़े की क्या बात है? जब झगड़ा था तो आप को नही जाना चाहिए था।" मैं कहती हूँ।

ये शान्त रहते हैं--"वह चिढ़ता है, उसे छेड़ने में मुझे मज़ा आता है, भले ही वह मुझे गाली दे।"

घर-द्वार की बाते न जाने कहाँ चली जाती हैं और ये अपनी झड़प का किस्सा सुनाने लगते है। मेरी नाराज़गी या मौन की ओर कोई ध्यान नही देते। बातें करते, हँसते चले जाते है।

लाहौर, दिल्ली और फिर बम्बई में छेड़-छाड़ होती थी, झगड़ा चलता था, बोल-चाल भी बन्द हो जाती थी, पर यह सब केवल सम्बन्धित व्यक्तियों तक ही सीमित रहता था, परिवारों पर इसका कोई असर नही पड़ता था। जब मेरी शादी हुई, जैनेन्द्र जी और अश्क जी में किसी बात को ले कर खूब तनातनी थी, पर अश्क जी वहाँ हमेशा जाते थे। एक बार मुझे भी उनके यहाँ ले गये, भाभी से बातें करते रहे, बच्चों का हाल-चाल पूछते रहे, जैनेन्द्र जी ने भी मुझसे एकाध बात की, पर ये दोनों आपस में नहीं बोले। एक बार जैनेन्द्र जी के यहाँ गये तो कुछ देर हो गयी। अश्क जी ने भाभी से कहा कि मुझे भूख लगी है, मेरा खाना भी भेज दो। भाभी ने दोनों का खाना एक ही थाली में भेज दिया। ये दोनों चुपचाप खाते रहे, पर एक शब्द भी आपस में नहीं बोले और मुझे हँसी आती रही। इसी प्रकार मण्टो भाई और अश्क जी में झगड़ा चलता था, पर हमारे पारिवारिक

सम्बन्धों पर इसका कुछ असर न पड़ता था। किन्तु यहाँ आ कर मुझे दूसरा ही अनुभव हुआ। प्रायः ऐसा होता है कि जो मित्र अश्क जी से नाराज़ हो जाते हैं, वे मुझे भी नमस्कार करना छोड़ देते हैं। फिर हमारे यहाँ आना वे क्योंकर पसन्द करेंगे। इन्हें पता चल जाय कि अमुक ने हमारे यहाँ न आने का निश्चय किया है तो ये उनके यहाँ जाने का निश्चय कर लेंगे, बल्कि दृढ़ संकल्प कर लेंगे और उनके यहां जा पहुँचेंगे। यदि शिष्टाचारवश उन्होंने चाय आदि पिलायी तो ठीक, नहीं ये कहेंगे, "यार, कुछ चाय-वाय पिलाओ।" वह न पिलायेगा तो पान या सिगरेट माँगेंगे, लाख बाते सुनेंगे, पर क्योंकि वे हमारे यहाँ नहीं आते, ये वहाँ ज़रूर जायेंगे। छेड़ेंगे, बनायेंगे, गालियाँ खायेंगे और मजा लेंगे।

मैं कहती हूँ—"यह ठीक नहीं, आप को ऐसा नहीं करना चाहिए।"

"अब पचास साल की उम्र में मैं अपनी आदतें बदलने से तो रहा।" इनका छोटा-सा उत्तर होता है।

मेरी शादी को कुछ ही महीने हुए थे कि दिल्ली में एक अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन हुआ और उसमें भाग लेने के लिए उर्दू-हिन्दी के बहुत-से लेखक और कविगण इकट्ठे हुए। यों तो उस कान्फ़्रेन्स के संस्मरण लिखने बैठूँ तो एक पूरा लेख उसी पर बन जाय, पर मैं यहाँ एक शाम ही का ज़िक्र करूँगी—खाना खाने के बाद सब लोग बैठे साहित्य-चर्चा कर रहे थे कि जाने इन्हें क्या सूझी, अपने एक कवि मित्र से बोले, "यार, कोई कविता सुनाओ, कौशल्या तुम्हारी कविता बहुत पसन्द करती है। अपनी नोट बुक में इसने तुम्हारी कविताएँ नोट कर रखी हैं।"

कवि महोदय के नथुने तनिक फूल गये, होंठों पर मुस्कान फैल गयी। मैं बेहद थकी थी। उस दिन अनिश्चित समय पर मेहमान आते रहे थे और मैं लगभग रात के दस बजे रसोईघर से छुट्टी पा सकी थी। मुझे बड़ा गुस्सा आया, पर ये शरारत से मुस्कराते रहे और कवि महोदय ने इत्मीनान से चदरा लपेट कर जो कविता सुनानी शुरू की तो रात के ग्यारह बज गये। मेरी आँखें बुरी तरह झपने लगी, पर शिष्टाचारवश बैठी रही। अश्क जी मेरी जगह होते तो शुरू ही में कह देते कि यह मुझे और तुम्हें दोनों को बना रही है, या—कि हटाओ जी, यह कोई क़विता सुनने का वक्त है।

बड़ हाँकना भी इनकी शरारत और मज़ा लेने की प्रवृत्ति का ही अंग है। किसी बात को ले कर लोग यदि इनके बारे में ग़लत धारणा बना लेते हैं और उस

सम्बन्ध में बात चलती है तो ये ठीक बात बताने के बदले उस ग़लत बात की पुष्टि कर देते हैं—बढ़-चढ़ कर बातें करेंगे और वे बातें भी अपने ऊपर ले लेंगे जो इन्होंने न कभी की होंगी, न करने की सोची होगी।

एक बार पाकिस्तान से एक पत्र आया, लिखा था :

"सुना है सरकार ने तुम्हें एक लाख रुपया दिया है।"...

इन्होने तत्काल उसका उत्तर लिखा :

"भाई, तुम ने ठीक ही सुना है। सरकार ने एक लाख रुपया दिया है, पर समझ में नही आता कि इसका क्या किया जाय। तुम यहाँ चले आओ तो इकट्ठे मिल कर मज़ा उड़ायें।"

—पाकिस्तान से मित्र आते हैं तो इस एक लाख की बात ज़रूर करते हैं।

...यह उन दिनों की बात है, जब हम काफ़ी तंगी में थे—सारी जमा-पूँजी इनकी बीमारी पर ख़र्च कर के हम इलाहाबाद आ गये थे, इनकी सेहत अभी कमजोर थी और मैंने सरकार से ऋण ले कर प्रकाशन का काम शुरू किया था।

एक बार मैं राजस्थान के दौरे पर गयी। जोधपुर में श्री पन्नालाल व्यास और श्री गोवर्द्धन शर्मा ने मेरी बहुत सहायता की और एक दिन गोवर्द्धन जी मुझे उस कॉलेज में ले गये, जहाँ वे पढ़ाते थे। स्टाफ़-रूम में बैठ कर मेरा परिचय अपने अन्य साथियों से कराते हुए उन्होंने कहा कि बहन जी आयी है, अपनी लायब्रेरी के लिए हमें अश्क जी का पूरा सेट मँगाना चाहिए। झट से आवाज आयी—'बैंगन का पौधा' तो हमने अपने विभाग के लिए खरीद लिया है—ये एग्रीकल्चर के टीचर थे। मैं अपनी हँसी को रोक कर किसी तरह बैठी रही। यहाँ आ कर मैंने यह किस्सा अश्क जी को सुनाया। इन्होंने यह किस्सा आगे सुनाया। कुछ समय बाद किसी ने कहा कि सुना है तुम ने 'बैंगन का पौधा' की ढाई सौ प्रतियाँ यह कह कर राजस्थान सरकार को बेच दीं कि यह कृषि की पुस्तक है। उत्तर में इन्होंने कहा—"ढाई सौ नहीं, मैंने पाँच सौ प्रतियाँ बेची हैं!"

यह 'चार सो बीसी' भी इनके आचरण के साथ चिपक गयी, पर ये है कि अपनी आदत से बाज़ नहीं आते।

...१९४४ में ये रेडियो की नौकरी छोड़ कर फ़िल्म में चले गये थे। इनकी पहली पिक्चर में हीरोइन एक मराठी लड़की इन्दुमती चुनी गयी थी। उसका हिन्दी-उच्चारण ठीक न था, फिर वह पहली बार ही फिल्म में काम कर रही थी, इसलिए उसे संकोच और घबराहट बहुत थी। इस खयाल से कि इनकी पहली पिक्चर ही ख़राब न हो जाय, ये इन्दुमती का हिन्दी-उच्चारण ठीक कराते, उसका पार्ट उसे रिहर्स कराते। वह इनके कमरे में आ बैठती। कैन्टीन में खाने का प्रबन्ध

अच्छा न था। अश्क जी का खाना घर से जाता था, कभी-कभी वह इनके साथ खाना भी खा लेती। और इतनी बात स्कैंडल के लिए पर्याप्त थी।

एक शाम घर आये तो कहने लगे, "आज दम्मो भाभी (स्व० मिसेज़ बलराज साहनी) मिल गयी थीं। कहने लगीं—सुना है आप इन्दुमती के साथ चौथी शादी करने जा रहे हैं।—मैंने कह दिया—हाँ, मेरी किस्मत में चार शादियाँ करना लिखा है तो मैं क्या कर सकता हूँ?—इस पर वे बहुत नाराज़ हुई और कहने लगी कि मैं कौशल्या से मिलूँगी और कहूँगी कि वह भी चार शादियाँ करे। मैंने कहा—ज़रूर मिलिए और यह 'नेक सलाह' उसे अवश्य दीजिए। सो, वह तुम्हारे पास आने वाली हैं।"

"आप को और कोई काम नही जो इस तरह की ऊल-जलूल बाते करते रहते हैं। आपको करनी है शादी जो ऐसी बातें करते फिरते है।"—मैंने खीज कर कहा।

"तुम कहो तो कर लूँ।" ये मुस्कराने लगे।

"ज़रूर कर लीजिए। आप जल्दी जा कर प्रबन्ध कीजिए और मैं अपना सामान बाँधूँ!" मैंने कहा।

"पर एक शर्त पर—तुम्हें मेरे साथ रहना होगा!" ये गम्भीरता से बोले, फिर क्षण-भर मेरे सुते हुए चेहरे की ओर गम्भीरता से देखते रहे और फिर ठहाका मार कर हँस पड़े।

मैं यदि कहूँगी—आप को क्या मुसीबत पड़ी है कि अपने बारे में झूठी-सच्ची बातें कह कर बुरे बनते हैं तो हँसते हुए कहेंगे—"लोगों में यदि सेंस-ऑफ़-ह्यूमर (Sense of humour) नहीं तो इसका मैं क्या कर सकता हूँ। रही मेरे बुरा कहाने की बात तो मै जो हूँ सो हूँ, लोगों के कहने से न मैं अच्छा बन सकता हूँ, न बुरा।"

यदि कोई इनसे सलाह लेने आये तो ये सदा ठीक सलाह देंगे—पति सलाह लेने आये कि पत्नी से कैसे छुटकारा पाया जाय तो उसे भी ठीक सलाह देंगे और यदि पत्नी पूछे कि पति को कैसे बाँध कर रखा जाय तो उसे भी उपाय बता देंगे। हाँ, जो पहले इन्हें कान्फ़ीडेन्स में लेकर सलाह-सहायता चाहता है, ये उसी के लिए रास्ता बना देते हैं। समस्या के सभी रूप और हल ये अपनी समझ के अनुसार उसके सामने रख देंगे, अपनी ठीक राय भी बता देंगे, आगे मानना न मानना उसका काम है। होता यह है कि लोग ठीक सलाह तो मानते नहीं, ग़लत मान लेते हैं, और बदनाम ये होते हैं।

किसी से कितना भी झगड़ा क्यों न हो, पर यदि वह अपनी किसी परेशानी में इनकी सलाह लेगा तो ये सब लड़ाई-झगड़ा भूल कर उसकी परेशानी को दूर करने के सभी उपाय बतायेंगे, ज़रूरत पड़ने पर आगे बढ़ कर उसकी सहायता भी कर देंगे। मैं कई बार चकित इनकी ओर देखने लगती हूँ, ये कहते हैं—'वह सलाह लेने आया है और सलाह मैं ग़लत नही दे सकता। इस समय यह परेशान है, उसका (झगड़े का) बाद में देखा जायगा—हिसाबे दोस्तां दर दिल!"

और दोस्तों का हिसाब ये दिल में रखते भी हैं। अपने मित्रों के उपकारों को ये कभी नही भूलते। कभी ऐसा भी होता है कि मत-विभेद और नाराज़गी में मित्र कुछ अनुचित बातें भी कर देते हैं, इन्हें दुख भी होता है, पर जब कभी ज़िक्र चलेगा, ये उनके किये एहसान की बात ज़रूर दोहरा देंगे और उनकी दस ज़्यादतियों के बावजूद उनसे मैत्री बनाये रखेंगे। अपनी ग़लती होगी तो झट मान लेंगे। उनकी होगी तो उनके मुँह पर कह देंगे।

लेकिन कई बार बात साफ़ करने का अवसर नहीं मिलता या मित्र अपनी ग़लती मानने को तैयार नहीं होता, तब ये उस बात को मन के एक ख़ाने में बन्द कर रखते हैं और अवसर की प्रतीक्षा करने लगते हैं।

एक बार इन्होंने एक संकलन के लिए एक लेखक मित्र की रचना माँगी और उससे कह दिया कि ये पारिश्रमिक नही दे सकेंगे। मित्र मान गये, पर बाद में, संकलन छप जाने पर उन्होंने टाइप कराने के नाम पर रुपये माँगे और ले लिये। इस बात का इन्हें बहुत दुख हुआ, पर ये चुप रहे। कुछ समय बाद उसी मित्र ने एक पत्रिका निकाली और इनसे रचना माँगी। लेकिन पारिश्रमिक देने में असमर्थता प्रकट की। इन्होंने उत्तर लिखा—मैं तुम्हारे लिए जरूर लिखूँगा। पारिश्रमिक की व्यवस्था नहीं है तो कोई बात नहीं, पर टाइप के खाते तो तुम ने कुछ रुपये रखे ही होंगे। तुम तो भाई जीनियस हो, एक बार में ही लिख लेते हो और टाइप करा लेते हो, पर मैं तो हर रचना को पाँच-छह बार काटता-छाँटता और उतनी ही बार टाइप कराता हूँ...

इस पर वे बहुत नाराज़ हुए, पर बात चलने पर अश्क जी ने उनसे उनकी ज़्यादती मनवा ली और फिर रचना भी दे दी।

अपनी ग़लती मानने में इन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता। कई बार ये कोई बात कह देते हैं जो इन्हें नहीं कहनी चाहिए। पूछने पर कि तुमने यह बात कही थी या ऐसा किया था, ये झट स्वीकार करते हुए कहेंगे—'यार कही तो थी, ग़लती हो गयी, मुझे माफ़ कर दो।' लेकिन यदि इन पर कोई झूठी बात लगायी

जाय या विद्वेषवश इन्हें हानि पहुँचायी जाय या इनका अपमान किया जाय तो फिर न ये अपने स्वास्थ्य की परवाह करते हैं, न आराम की––ये लड़ पड़ते हैं––इतना कि या दूसरा अपनी ग़लती मान लेता है या फिर ये उससे बात करना, उसकी शक्ल तक देखना छोड़ देते हैं। और बकौल अपने, उसे अपनी ज़िन्दगी से काट देते हैं।

स्वभाव इन्होंने चंचल पाया है। एक मिनट को भी निचल्ले बैठना इनके लिए कठिन है...

खाने की मेज़ पर बैठ कर ये प्रतीक्षा नहीं कर सकते। मेज़ पर खाना रखने और परोसने में थोड़ा समय लग ही जाता है। ये चमचे उठा कर बजाने लगते हैं। मैं चमचे इनके हाथ से ले लेती हूँ, ये दूसरा चमचा ले कर प्लेट पर बजाने लगते हैं। मैं एक चमचे से सब्जी परोस रही हूँ, ये दूसरा चमचा कटोरे में डाल देंगे। पहले-पहल मुझे बड़ा अजीब लगता था, मैं खीज भी जाती थी, ये चमचे या प्लेटें और भी बजाने लगते थे, पर अब मैं कहती हूँ––'भई खाना आ रहा है' या 'आप ही को दे रही हूँ'––और ये हँस पड़ते हैं।

खाते समय इनके या किसी के मुँह से तनिक-सी आवाज़ हो जाय और दूसरा उसे बदतमीज़ी समझ कर चिढ़े तो ये ज़ोर-ज़ोर से आवाज़ करने लगेंगे। यदि रोका जायगा, "आप क्या करते हैं?" तो कहेंगे––"चटख़ारा ले कर खा रहा हूँ।" खूब चटख़ारे लेंगे और कहेंगे––"अगर लोग खाते समय चटख़ारे न लेते तो यह मुहावरा कैसे बनता। चटख़ारे लेना बुरा होता तो डिक्शनरी में ऐसा लिखा होता।"

...या ग़ट-ग़ट पानी पियेंगे और ख़ूब आवाज़ करेंगे और कहेंगे––"वह ग़टाग़ट पी गया––तुमने यह वाक्य नहीं पढ़ा, ख़ूब प्यास में पानी पीने के लिए यही शब्द प्रयोग किया जाता है। मुझे ख़ूब प्यास लगी थी, इसलिए मैंने ग़टाग़ट पानी पिया।"...लेकिन यदि उस हरकत का नोटिस न लिया जाय तो फिर ये ऐसी हरकत नहीं करेंगे। पहले दिनों में मैं यह न समझती थी और 'चटख़ारे ले कर खाने' या 'ग़टाग़ट पानी पीने' पर हममें झगड़ा हो जाता था। मैं चिढ़ती थी, ये और चिढ़ाते थे। पर अब मैं समझ गयी हूँ और इन्होंने यह आदत लगभग छोड़ दी है।

हम कॉफ़ी-हाउस में जायेंगे। जाते ही ये कहेंगे, "तुम आर्डर दो, मैं अभी आया।...कॉफ़ी आ जाती है, पर ये उधर की मेज़ पर मित्रों के साथ बातों में

निमग्न होते हैं। मैं बैरे से बुला लाने को कहती हूँ। ये भागमभाग आते हैं और "तुम बुरा न मानो तो मैं अपना प्याला वहीं ले जाऊँ, बड़ी मज़ेदार बातें हो रही हैं।" कहते हुए उसी तरह प्याला हाथ में थामे चले जाते हैं। मैं बुरा मानूँगी या नहीं, यह सुनने की इन्हें फ़ुर्सत नहीं होती। अब बताइए, मैं क्या बुरा मानूँ। और कई बार ये उधर की मेज़ से किसी तीसरी मेज़ पर होंगे जब कॉफ़ी आयेगी। आकर कहेंगे––"तुम भी वहीं चल बैठो"––और आगे-आगे हम और पीछे-पीछे कॉफ़ी लिये बैरा, उधर को चल पड़ते हैं।

पहले इनके इस 'शिष्टाचार' से मुझे बड़ी झुँझलाहट होती थी, पर अब मैं इसकी आदी हो गयी हूँ और यह भी जान गयी हूँ कि मुझे ठेस पहुँचाने या अपमान करने को ये ऐसा नहीं करते, वरन् अपनी चंचल प्रकृति से विवश है। बँधे-बँधाये किताबी शिष्टाचार के ये कायल नहीं। उन्मुक्त आचरण में इन्हें सुख मिलता है, इसलिए मैं भी नहीं बाँधती। यद्यपि मैं इनकी तरह कर नहीं सकती।

कुछ चीज़ों से इन्हें अपार घबराहट होती है, इनमें बीमारी और सफ़र प्रमुख हैं।

...मेरी शादी हुए कुछ ही दिन हुए थे कि बातें करते-करते कहने लगे–– "देखो, बीमार न पड़ना।"––उस समय मुझे लगा जैसे मेरे बीमार न पड़ने की इन्होंने शर्त रखी हो। मुझे बहुत बुरा लगा। मैं कहना चाहती थी कि यदि बीमार पड़ जाऊँ तो?––पर मैं चुप हो रही और मन में कुढ़ती रही कि भला यह भी कोई कहने की बात है, क्या कोई जान-बूझ कर बीमार पड़ता है। वास्तव में बात यह थी कि इनकी पहली पत्नी की मृत्यु काफ़ी लम्बी तकलीफ़देह बीमारी के बाद हुई थी और ये चाहते हुए भी शायद उतना इलाज-उपचार न कर पाये थे (शायद उन दिनों साइंस ने इतनी तरक्की भी न की थी और इतनी दवाइयाँ और इन्जेक्शन भी नहीं निकले थे) और फिर बीमारी से लड़ते-लड़ते शायद ये थक भी गये थे। जो भी हो, बात इन्होंने बड़े रूखे ढंग से कही और मैं क्योंकि नयी-नयी आयी थी, इनके रूखेपन की तह में छिपी स्नेह-भरी चिन्ता को जानती न थी, इसलिए मुझे बुरा लगने के साथ अजीब भी लगा।

१९४७ में ये यक्ष्मा के चंगुल में फँस गये और मैं मान लूँ कि मैं भी बहुत घबरा गयी, पर अपनी घबराहट मैंने इन पर ज़ाहिर नहीं होने दी और दो-ढाई वर्ष के इलाज-उपचार के बाद ये ठीक हो गये। बीमारी अपनी हो, चाहे दूसरे की, घबराहट इन्हें अब भी बहुत होती है––अपनी बीमारी में इसलिए कि काम कर नहीं

सकते तो फिर समय कैसे कटे। दूसरे की बीमारी में इसलिए कि यह क्यों बीमार पड़ गया। ज़्यादा तकलीफ़ हो तो इन्हें बताने में भी डर लगता है।

एक बार मेरी तबीयत ज़्यादा ख़राब हो गयी। दिन-भर कमरे में लेटी रही, पर शाम को जी घबराने लगा तो बाहर सेहन में चली गयी। ये उधर आ निकले—ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगे—"गुड्डे, अपनी ममी का बिस्तर बाहर लगा दो, बड़ा पंखा भी रखवा दो।"—और कहते-कहते चले गये। चन्द मिनटों बाद फिर आये और पानी छिड़कने को कह गये। थोड़ी देर बाद फिर आये और बड़े लड़के से बोले—"उमेश, डॉक्टर साहब को फ़ोन करो, आ कर देख जायें।"—कह कर तेज़-तेज़ चले गये—माथे पर तेवर चढ़े हुए और बेहद परेशान, जैसे बीमार मैं नहीं, ये हों। इन्हें इस प्रकार चिल्लाते और शोर मचाते देख कर मन होता था कि उठ कर बैठ जाऊँ और कहूँ कि मुझे कोई तकलीफ़ नहीं। यह नहीं कि पाँच मिनट आ कर पास बैठ जायें या हाल पूछ लें, बस चिल्लाये जायेंगे। कोई इनके माथे के तेवर देखे और शोर सुने तो जाने क्या सोचे, पर मैं जानती हूँ कि ऐसा ये चिन्ता और घबराहट के कारण ही करते हैं।

यदि कोई दूसरा न हो या इन्हें ख़ुद तसल्ली करनी हो तो झट तैयार हो कर डॉक्टर से दवा लाने को चले जायेंगे और आते-आते ढेरों फल ले आयेंगे।

कभी डॉक्टर के आने पर ये पास आ बैठेंगे, कहेंगे—"डॉक्टर साहब, इसे जल्दी ठीक कीजिए, कुछ काम नहीं हो रहा। (मेरी बीमारी से ज़्यादा इन्हें अपनी परेशानी की फ़िक्र होगी।) डाक्टर साहब कहेंगे कि ये अच्छी हो जायेंगी, आप चिन्ता न करें तो उत्तर देंगे—"चिन्ता कैसे न करूँ, इस उम्र में अब चौथी शादी करनी पड़ेगी। बीवी तो कोई-न-कोई ढूँढ़ लाऊँगा, पर निभाना मुश्किल हो जायगा।"—और ज़ोर से ठहाका लगायेंगे—चिन्ता को छिपाने का यह इनका दूसरा ढंग है।

पिछले तीन साल से मैं लगातार बीमार रही हूँ और इनका 'बीमार न पड़ो' का नारा 'जल्दी ठीक हो जाओ' में बदल गया है।

. . .गाड़ी के सफ़र का हाल भी कुछ ऐसा ही है। कहीं जाना होता है तो ये कई दिन पहले से ही शोर मचाना शुरू कर देते हैं—"तुम सामान ठीक कर लो, ऐन वक्त पर चीज़ें भूल जाती हैं, बिस्तर भी बाँध रखो, फिर काम में समय नहीं मिलेगा और चलते समय भगदड़ मचेगी।"—और मैं कह देती हूँ—"हाँ कर लूँगी।" अब बताइए, भला छह-आठ दिन पहले कोई बिस्तर बाँध कर रखेगा। फिर ज़रूरी कपड़े धोबी से मँगाने होते है, इस्तरी कराने होते हैं, पर इन्हें कौन समझाये।

समझाया जाय तो कहेंगे कि इतने दिन कपड़े नहीं बदलेंगे और विस्तर तुम दूसरे निकाल लो।

तैयारी कर लेने की बात ये रोज़ आते-जाते दोहरा देंगे और फिर काम में जा लगेंगे। जिस दिन चलना होता है, उस दिन या उससे एक दिन पहले धोबी से कपड़े मँगा कर बाज़ार से ज़रूरी सामान खरीद कर मैं सचमुच तैयारी शुरू कर देती हूँ। मैं सामान बाँध रही होती हूँ कि ये उधर आ निकलते हैं—"अभी तक तैयारी नहीं हुई, मैं इतने दिनों से कह रहा था। तुम्हारी आदत ऐन वक्त पर सामान वाँध कर भागने की है और मेरा जी घबराने लगता है।"—मैं कहती हूँ—"शाम की गाड़ी से जाना है, अभी सारा दिन पड़ा है, आप क्यों परेशान हो रहे हैं?"—इनकी घबराहट फिर भी कम नहीं होती और जैसे सफर की बात भूलने को ये कहीं बाहर चले जायेंगे या चिट्ठियाँ निबटाने लगेंगे या कोई दूसरा काम करने लगेंगे। थोड़ी देर बाद फिर आयेंगे तो कहेंगे—"गाड़ी का समय तो तुमने पूछ लिया है न?"—जल्दी मचा कर ये मुझे भी घबरा देंगे और दो घण्टे पहले से ही स्टेशन पर चलना चाहेंगे। मैं खीज उठती हूँ कि इतनी देर पहले जा कर क्या होगा?

"वहीं बैठ कर बातें करेंगे"—(मानो हमारे पहले जाने से गाड़ी जल्दी आ जायगी।)

चलते-चलते मुझे प्रायः देर हो जाती है—ये शोर मचाने लगते है, मैं जल्दी करती हूँ, पर ये घबरा देते हैं और उस घबराहट में और भी देर हो जाती है।

पहले चले जायें तो ये वेटिंग-रूम में नहीं, प्लेटफ़ार्म पर ही बैठना पसन्द करते हैं। बातें करेंगे, चाय पियेंगे। अच्छे-से-अच्छे रिफ़्रेशमेन्ट-रूम से चाय मँगायेंगे, पर पियेंगे प्लेटफ़ार्म पर बैठ कर ही। लगता है कि ये इधर-उधर हुए नहीं कि गाड़ी आ कर भागी नहीं। वास्तव में प्लेटफ़ार्म की भीड़, खोंचे वालों के शोर और इधर-उधर की बातों में ये अपनी घबराहट को भूल जाना चाहते हैं। यदि इनके मित्र-परिचित वहाँ हों तो इन्हें काफ़ी राहत मिलती है, पर भीतर से फिर भी घबराहट बनी रहती है। आखिरकार गाड़ी आ जाती है। सामान रखवा कर अपनी लिस्ट से मिलाते हैं—और लिस्ट में सिर की टोपी से ले कर छड़ी या छाता तक नोट होता है—फिर बिस्तर बिछवा कर ये सीट पर जा बैठते हैं और गाड़ी के चलते ही बिस्तर पर ऐसे थक कर लेट जाते हैं जैसे बहुत लम्बा सफ़र तय कर के आये हों।

ख़रीदो-फ़रोख़्त से भी इन्हें कम घबराहट नहीं होती, पर यह घबराहट-ऊबाहट समय नष्ट होने ही के ख़याल से होती है। बाजार चलने को कहें तो पहले तैयार ही

न होंगे, तैयार हो जायँ और चल पड़ें तो सिविल लाइन्ज़ पहुँचते ही कहेंगे—"चलो, पहले एक-एक प्याला गर्म कॉफ़ी का पिया जाय।" कॉफ़ी पी कर पान खायेंगे, फिर घड़ी देखेंगे और कहेंगे—"देर हो गयी है, खाने को हम लेट हो जायेंगे, कल तुम खाने के लिए घर में मना कर देना, खाना हम बाहर ही खा लेंगे और इत्मीनान से चीज़ें ख़रीदेंगे।"

अगले दिन हम बाज़ार जायेंगे तो कोई-न-कोई मिल जायगा, और ये "चलो यार, इसे चीज़ें ख़रीद दें।" कहते हुए उसे भी साथ ले लेंगे। एकाध दुकान पर जायेंगे, चुनने में कोई मदद न देंगे, मित्र से लगातार बातें करते रहेंगे। मैं कहूँगी—"चलिए आगे देख लेते हैं।" ये साथ-साथ घिसटते हुए-से चल पड़ेंगे, फिर सहसा रुक कर कहेंगे—"भूख लग आयी है, चलो पहले खाने से छुट्टी पा लें।"

खाना खाने के बाद इनकी चाल और भी शिथिल हो जायगी और इस ख़याल ही से इन्हें नींद आने लगेगी कि जाने अभी कितनी दुकानें और देखनी हैं।

फिर किसी और दिन चलेंगे तो पहली दुकान पर जो कपड़ा या जूता देखेंगे उसी की तारीफ़ करने लगेंगे और ख़रीद कर चल देने को कहेंगे। दुकानदार तीन-चार दिखायेगा तो ये तीन-चार ही पसन्द कर लेंगे। दुकानदार भी इनकी हाँ-में-हाँ मिलायेगा। मैं कहूँगी—"मुझे तो एक-दो ख़रीदनी हैं।" बोलेंगे—"इकट्ठी ले लो, बार-बार आने से बच जाओगी"—और मेरे 'न, न' करते ये दुकानदार से कहेंगे कि ये सभी बाँध दीजिए, या छह कमीज़ों का कपड़ा फाड़ दीजिए, या ये तीनों सेंडल दे दीजिए। अब दुकानदार के सामने क्या कहूँ? (बाद में चाहे वापस कर दूँ, पर उस वक्त चुप रहती हूँ। बोलने का कोई लाभ नहीं क्योंकि ये सुनते नहीं।) सामान ख़रीद कर ये हँसते हुए दुकानदार से कहेंगे—"देखिए साहब, मैंने आपका काम भी आसान कर दिया और इनका भी।" उत्तर में दुकानदार भी मुस्करायेगा, पर मैं खीज उठूँगी। घर आते समय कहूँगी कि मुझे तो एकाध लेनी थी, आपने ख़ामख़ाह यह सब ख़रीद दिया। तब आश्चर्य प्रकट करते हुए शरारत से मुस्करायेंगे—"तुमने मुझे पहले क्यों नहीं बताया।"

चीज़ें मुझे ही ये ज़्यादा ख़रिदवा देते हों, ऐसी बात नहीं, दूसरों के साथ भी ऐसा ही करते है। एक बार इनके एक मित्र कपड़ा ख़रीदना चाहते थे, हमें भी साथ जाना पड़ा। वे जो कपड़ा देखते, ये उसके रंग और डिज़ाइन की प्रशंसा करने लगते और कहते कि यह आप ज़रूर ख़रीदिए। इन्हें प्रशंसा करते और उन्हें ख़रीदते देख एक अन्य सज्जन ने भी दो-तीन कपड़े फड़वा लिये। तब मेरी ओर मुड़े—"तुम भी ख़रीद लो, यह डिज़ाइन फिर नही मिलने का"—दुकानदार प्रसन्न था कि इतना कपड़ा बिक गया, ये और भी प्रसन्न थे कि चलो जल्दी छुट्टी मिल

गयी। हँसते हुए दुकानदार से कहने लगे—"आपको तो मुझे कमीशन देना चाहिए, मैंने आपका इतना कपड़ा बिकवा दिया।"

बाज़ार से घर भागने की उतावली, उस उतावली में घर-फूँक तमाशा देखना और फिर उस तमाशे से छुट्टी पाने की इनकी व्यग्रता पर आपको आश्चर्य होगा, पहले मुझे भी होता था, मैं झुँझला भी उठती थी, पर अब मैं इनके इस विचित्र व्यवहार का रहस्य जान गयी हूँ—बात यह है कि जब कभी इन्हें लिखते-लिखते बीच से उठ जाना पड़ता है तो ये खीज उठते हैं और उस खीज में अनजाने-अनचाहे ये ऐसी हरकतें करते हैं। प्रकटतः ख़रीदते-ख़रिदवाते हैं, मन में अधूरी रचना का ताना-बाना बुनते रहते है, ऊपर से हँसी-मज़ाक करेंगे, मन में अपनी रचना के पात्रों का चरित्र-निर्माण करते रहेंगे।

लेकिन ख़रीदो-फ़रोख़्त में इनके दूसरे रूप को भी मैं जानती हूँ—जब ये कोई नयी कहानी या नाटक अथवा उपन्यास का कोई परिच्छेद लिख लेते हैं और वह चीज़ अच्छी बन जाती है तो बड़े प्रसन्न होते हैं, इनके मन का बोझ जैसे हल्का हो जाता है। तब यदि इन्हें बाज़ार चलने को कहा जाय तो झट तैयार हो जाते है। खूब देख-भाल कर, छोटी-से-छोटी बात परख कर और पूर्णतः सन्तुष्ट हो कर ही चीज़ें ख़रीदते हैं, चाहे फिर दस दुकानें देखनी पड़ें और सारा दिन लग जाय। जब तक मन की चीज़ नहीं मिलती, ये न ख़रीदते हैं, न ख़रीदने देते हैं।

पिछले दिनों लड़के की शादी के लिए हम ज़ेवर-कपड़ा ख़रीदने गये। इन्हें कोई डिज़ाइन पसन्द न आया, निश्चय हुआ कि बनने को दे दिया जाय। तब काग़ज़-पेंसिल ले, किसी डिज़ाइन का सिर और किसी का पाँव ले कर, इन्होंने बड़े श्रम और लगन से डिज़ाइन खींचा कि इस तरह का बनेगा। चार-छह दुकानें देखीं और ढेरों साड़ियों में से चार-छह ही इन्होंने चुनीं।

अपने लिखने-पढ़ने में लगे रहने पर भी घर की छोटी-से-छोटी बात का इन्हें ध्यान रहता है—किसी दरवाज़े की मरम्मत करानी हो, चारपाई बिनानी हो, बिजली का कोई स्विच बदलवाना हो या फिर कही से दीवार या फ़र्श का सीमेन्ट उखड़ गया हो—इन्हें सब बातों का ध्यान रहता है। ये बराबर उसकी याद दिलाते रहते हैं जब तक कि चीज़ ठीक न हो जाय। एक्यूरेसी (Accuracy) के ये बड़े क़ायल हैं। सादगी, सुन्दरता और सुरुचि मे (दिखावे की नहीं यथार्थ की) इनका विश्वास है। फूहड़ता और भद्दापन इन्हें अखरता है, वह फिर जीवन (और जीवन से सम्बन्धित सभी कुछ) में हो या साहित्य में।

लिखते समय इन्हें बीच में उठ कर घूमने की आदत है। कभी बाग़ीचे की

ओर आ निकलते हैं—पेड़-पौधों और बेलों-फूलों से इन्हें बहुत लगाव है—माली पौधे लगा रहा हो तो दूर से ही शोर मचाते आगे बढ़ आयेंगे—"ये पौधे सीध में नहीं हैं, इसको ज़रा इधर सरकाओ, यह बड़ा भद्दा लगता है"—माली कहेगा—"बाबूजी, हम नाप कर लगाये हैं"—ये भागे-भागे जायेंगे, रस्सी उठा लायेंगे और नाप कर कहेंगे—"यहाँ से देखो, सूत भर का फ़र्क है।" सूत भर का फ़र्क प्रायः ये सभी जगह निकाल देते हैं और ठीक किये या कराये बिना चैन नहीं लेते।

कोई अच्छी चीज़ लिखने पर इन्हें बड़ी ख़ुशी होती है—इतनी शायद इन्हें और किसी चीज़ में नहीं होती—पर किसी लेखक की अच्छी रचना पढ़ कर भी इन्हें कम खुशी नहीं होती। दूसरों की कृतियाँ पढ़ने का इन्हें शौक है। ये ख़रीद कर भी पढ़ते है—चाहे वे पिछली पीढ़ी की हों, समकालीनों की अथवा अगली पीढ़ी की—रचना अच्छी न बनी हो तो इन्हें बड़ी झुँझलाहट होती है, गुस्सा भी आता है कि क्यों उसने अच्छी चीज़ नहीं लिखी, जबकि वह अच्छी लिख सकता है, क्यों उसने और श्रम नहीं किया। कृति अच्छी हो, सुष्ट और पुष्ट हो तो बड़े प्रसन्न होते हैं और प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते—चाहे वह इनके किसी विरोधी की रचना ही क्यों न हो। मुझ से कहेंगे—"भई, बहुत अच्छा लिखा है, तुम ज़रूर पढ़ना।" मित्रों से उसकी चर्चा करते हैं, प्रशंसा करते हैं, पर इन्हें तसल्ली नहीं होती, जब तक उस लेखक को बधाई का पत्र न लिख लें। वह इलाहाबाद ही में हो तो रिक्शा ले कर उसके घर जा पहुँचते है, बधाई देते हुए कहते हैं—"यार, तुमने बहुत अच्छा लिखा है, मुझे तुमसे ईर्ष्या हो रही है।" (किसी के पास ख़ूबसूरत बँगला हो, मोटर हो, अच्छे कपड़े हों या अन्य सुख-सुविधाएँ हों, इन्हें कभी ईर्ष्या नहीं होती, पर किसी की उत्तम कला-कृति से इन्हें अवश्य ईर्ष्या होती है) फिर पूछते हैं—"और सुनाओ आजकल क्या तीर मार रहे हो।" वह जो लिख रहा हो या लिखने की सोचता हो, उसका प्रोग्राम सुनेंगे और फिर बेचैनी से उठ कर रिक्शे की ओर बढ़ते हुए कहेंगे—"अच्छा यार, लिखे जाओ। मै भी चल कर डण्ड-वण्ड पेलता हूँ।" (याने लिखने में लगता हूँ।)

घर आ कर कहेंगे—"ज़िन्दगी में कुछ मज़ा नहीं आ रहा, लिखा-लिखाया नहीं जा रहा। इन झंझटों से अब तुम मुझे छुट्टी दो, मुझे ख़ूब लिखना चाहिए।" और ये १०-२० वर्ष के अपने लिखने के प्रोग्राम और योजनाएँ बना डालेंगे। कुछ दिन खोये-खोये-से, उदास-उदास-से रहेंगे—बड़े बेचैन—प्रकटतः दिनचर्या में लगे रहेंगे, अन्तरमन किसी दूसरी दुनिया में विचरता रहेगा। उठते-बैठते, नहाते-

खाते, यहाँ तक कि बातें करते हुए भी ये सतत अपनी रचना के सम्बन्ध में सोचते रहेंगे।

लिखते-लिखते अटक जायँ या रचना कहीं उलझ जाय तो इनका मन उखड़ जाता है, बेचैनी और भी बढ़ जाती है, चेहरे पर तनाव आ जाता है, झुरियाँ उभर आती हैं। ये कमरे में चक्कर लगाते हैं, छड़ी उठा कर घूमने निकल जाते हैं, किसी मित्र से मिलने चले जाते हैं, उससे शिकायत करते हैं—"अमुक चीज़ लिख रहा था, पर आगे नहीं बढ़ रही।" (मानो इसमें उसी का कसूर हो) बाग़ीचे के दो-चार चक्कर लगाते हैं, बच्चे खेलते हों तो उनके साथ एकाध बाज़ी खेलते हैं—और इस प्रकार निरन्तर सोचते और उलझाव को सुलझाते रहते हैं। फिर सभी ओर से बेसुध लिखने में तल्लीन हो जाते है। इन्हें कुछ अच्छा नहीं लगता—कुछ कहने-पूछने पर झल्ला उठते हैं। खाना अपनी मेज़ पर ही मँगा लेते हैं. . .आख़िर चीज़ पूरी हो जाती है। बड़े ख़ुश होते हैं, बेचैनी के बादल छँट जाते हैं, स्फूर्ति की लहर दौड़ जाती है, चेहरे के तनाव की जगह चमक फैल जाती है और चिड़चिड़ा-पन चहकने में बदल जाता है।

कुछ चीज़ों से अश्क जी को असीम घृणा है—छल-कपट-प्रपंच, झूठ-फ़रेब, चालाकी-चालबाज़ी, दुराव-छिपाव, दिखावट-बनावट इन्हें सह्य नहीं। जो बात होगी, जैसी होगी, साफ़ कह देंगे, फिर चाहे किसी को कितना ही बुरा लगे। झूठे के घर तक जा पहुँचेंगे; ठगने वाले की चाल को तत्काल भाँप जायेंगे; अपने मन की थाह उसे न लगने देंगे और ऐसी चाल चलेंगे कि अन्त में वह अपने-आप को लटका या पटका हुआ पायेगा और बनने वाले को इतना बनायेंगे कि वह खीज कर नाराज़ हो जायगा। अश्क जी मित्र का सब से बड़ा गुण यह मानते हैं कि वह इनके मुँह पर इनकी ग़लती निस्संकोच बता सके और मुँह-देखी बात न करे। मुँह-देखी बात करने वाले से इनकी नहीं निभ सकती। क्योंकि ये ख़ुद मुँह-देखी बात नहीं करते।

मैं जब कभी इनकी कविता 'दीप जलेगा' पढ़ती हूँ—(और मैं अक्सर पढ़ती हूँ, क्योंकि बहुत-सी सुख-दुख-भरी यादें उससे ताज़ा हो जाती हैं) तो कुछ पंक्तियाँ सदा मेरे सामने अश्क जी के उस पक्ष को मूर्तिमान कर देती हैं, जो उनके साहित्य और संघर्षमय जीवन का प्रेरणा-पक्ष है—

अपने वीर्यवान पुरखों-सा
स्वाभिमान से सिर ऊँचा कर,
उन हाथों से, देने को जो सदा अनुद्यत,

बरबस निज अधिकार छीन कर,
लड़ कर नित्य अनाचारों से,
काटे हैं भरसक मैंने चिर—
अंध-ज्ञान के अंधकार के—
रूढ़िग्रस्त मानव के बंधन !

रूढ़ियों को तोड़ना, कुरीतियों को छोड़ना, अन्याय के विरुद्ध लड़ना और अधिकारों के लिए सदा झगड़ना, और अनुद्यत हाथों से उन्हें बरबस छीनना और अपने दुबले-पतले रोगी शरीर के बावजूद ज़रूरत पड़ने पर स्वास्थ्य की चिन्ता किये बिना मैदान में कूद पड़ना, ख़ुद ज़्यादती न करना, पर दूसरे की ज़्यादती को ज़रा भी सहन न करना—यही बातें हैं, जो अश्क जी को वह बनाती हैं जो कि वे हैं।

जैसा कि मैंने शुरू ही में कहा है, इनके स्वभाव में बहुत बचपना है। अब कहूँ कि बच्चों की-सी सरलता और निश्छलता है। जैसे बच्चे होड़ या ज़िद में वह सब बढ़-चढ़ कर करते हैं जो उनके साथी, उसी तरह ये ज़िद करने वाले के साथ ज़िद्दी, छल-कपट और चालाकी करने वाले के साथ और भी चालाक, लेकिन सीधे और सच्चे के साथ उससे भी ज़्यादा सीधे और सच्चे हैं। चूँकि दुनियादारी में ये सब गुण दोष बन जाते हैं, इसलिए अश्क जी को निरन्तर विरोध और ग़लतफ़हमियों का शिकार बनना पड़ता है। पत्नी के नाते इनकी इस फक्कड़पने की आदत के कारण मुझे भी काफ़ी सहना पड़ता है। मैं चाहती भी हूँ कि ये कुछ दुनियादारी सीखें—अन्धे को अन्धा कहने की क्या ज़रूरत है, लेकिन ये कहते हैं कि मैं अन्धे को अन्धा न कहूँ, सूरदास ही कहूँ, पर उसे 'सुजाखा' (आँखों वाला) तो नहीं कह सकता।

और ज़ोर से ठहाका मार कर हँस देते हैं।

बच्चों के ये घनिष्ठ मित्र बन जाते हैं। कभी मेरे भाई के बच्चे आ जाते हैं, कभी उनके साथी इकट्ठे हो जाते है। ये (जब ख़ाली हों तो) उनके साथ हिल-मिल जाते हैं। उनके साथ आँख-मिचौनी खेलते हैं, दौड़ लगाते हैं, गुल्ली-डण्डा जमाते हैं। बच्चे ज़िद करते हैं, ये भी उनके साथ ज़िद करते हैं। कोई कहेगा— "मेरी बारी है।" ये कहेंगे—"नहीं यार मेरी बारी है, अब रोओ नहीं।"....
फिर ये उन्हें नकलें सुनाते हैं, बोलियाँ सुनाते हैं, चिड़िया की 'चूँ-चूँ'-सी सीटियाँ बजाते हैं। उनसे बातें करते हैं, उनकी दोस्ती और दुश्मनी की बातें सुनते और उनसे एक हो जाते हैं। बच्चे अपनी सब बातें इन्हें बता देते हैं। कभी ऐसी भी, जो वे अपने माता-पिता को नहीं बताते।

जैसाकि मैं कह चुकी हूँ, ऊपर के शिष्टाचार में इनका एकदम विश्वास नहीं। तकल्लुफ़ से इन्हें जैसे घुटन होती है। मित्रों का विश्वास पूर्णतः बनाये रखते हैं और उनके स्नेह पर पूरा यकीन रखते है। खुद ज़रा भी तकल्लुफ़ नहीं करते और मित्रों से तकल्लुफ़ की अपेक्षा नहीं रखते—घर वालों से तकल्लुफ की बात तो दूर ही रही।

शादी के कुछ दिन बाद मुझे लाहौर जाना था—उस समय हमारी शादी के विरुद्ध एक तूफ़ान उठ खड़ा हुआ था, सभी मित्र और रिश्तेदार नाराज़ थे। बेदी साहब (सुप्रसिद्ध कथाकार राजेन्द्रसिंह बेदी) भी बहुत नाराज़ थे और इस आशय का पत्र भी उन्होंने लिखा था।—समस्या थी कि अब जाकर ठहरा कहाँ जाय। झट से फ़ैसला करते हुए अश्क जी ने कहा—"बेदी के यहाँ!"...मैं तैयार न हुई तो बोले—"देखो, बेदी मेरा बहुत अज़ीज़ दोस्त है, तुम वहाँ न ठहरोगी तो मुझे बड़ा दुख होगा," फिर मुझे आश्वासन दिया कि मुझे वहाँ कोई तकलीफ़ न होगी। मैं अनमनी-सी बेदी साहब के यहाँ पहुँची तो वे मुझे देख कर हैरान भी हुए और झुँझलाये भी, जैसे कहना चाहते हों कि आप तशरीफ़ ले आयी! मैं कुछ घबरा गयी। मन बेहद उदास था। समझ में न आया कि कैसे बात शुरू करूँ। उस घबराहट में मैंने हिम्मत कर के कहा कि मैंने आप का पत्र पढ़ लिया था, आना न चाहती थी, पर अश्क जी ने कहा कि बेदी मेरा बड़ा अज़ीज़ दोस्त है, तुम वहाँ न जाओगी तो मुझे दुख होगा। सो उनके अनुरोध पर चली आयी हूँ। बेदी साहब के चेहरे का भाव बदल गया, बोले —"मन के चौखटे पर अश्क की पत्नी की तस्वीर बदलनी थी, सो मैंने बदल डाली है।"

और मुझे कुछ तसल्ली हुई।

तब मैंने उन्हें बताया कि अमुक-अमुक पुस्तक के प्रकाशन के सिलसिले में फलाँ-फलाँ प्रकाशकों से मिलने को अश्क जी ने कहा है, पर मैं उन्हें जानती नहीं। बेदी साहब ने कहा—"ठीक है, मैं आप के साथ चलूँगा। आप चिन्ता न करें, अश्क के बताये सब काम हो जायेंगे।" अपना काम छोड़ कर वे मेरे साथ घूमते रहे और सभी काम करा दिये। मैं भी तकल्लुफ़पसन्द, बेदी साहब भी तकल्लुफ़पसन्द। भाभी मायके गयी हुई थीं, इसलिए खाना मुझे होटल में खिलाते रहे और स्टेशन तक पहुँचाने आये। रेनाला पहुँच कर मैंने अश्क जी को पत्र लिखा कि बेदी साहब ने मेरी बड़ी सहायता की और बहुत सहृदयता का व्यवहार किया और आप उन्हें धन्यवाद का पत्र ज़रूर लिख दीजिएगा। उत्तर मिला कि बेदी ने जो कुछ किया है, उसे करना ही चाहिए था, इसमें धन्यवाद की क्या बात है। मुझे बड़ा अजीब लगा कि ये कैसे आदमी हैं।

अगली बार हम लाहौर गये तो मेरे सामने बेदी साहब से कहने लगे, "यार, इसने लिखा था कि तुम्हें मैं शुक्रिये का ख़त लिखूँ।" और ठहाका मार कर हँस दिये (जैसे मैंने कोई बड़ी मूर्खता की बात कर दी हो) और बोले—"मैंने इसे लिख दिया था कि इसमें शुक्रिये की क्या बात है।"

अश्क जी की यह बेतकल्लुफ़ी और बनावट का अभाव इनके 'मैटर आफ़ फ़ैक्ट' पत्रों से भी झलकता है, जो वे साधारणतः लिखते हैं। बनावट के पत्र ये कम लिखते हैं। लिखते हैं तो चार-चार बार काट-छाँट कर लिखते हैं। इनके आम पत्र इनके व्यक्तित्व की ही तरह सीधे, सरल और रूखे और कहूँ तो निश्छल होते हैं।

शादी के चार-छह महीने बाद जब वातावरण कुछ शान्त हो गया और रिश्तेदारों की नाराज़गी में नर्मी आ गयी तो मैं कुछ दिन के लिए दिल्ली से लाहौर अपने मामा जी के यहाँ चली गयी। इनका पत्र आया तो मामी जी ने पूछा—"क्या लिखा है?"

"बस, कुशल-मंगल।" मैंने उत्तर दिया।

मामी जी हमारी ज़रा रोमानी स्वभाव की हैं। उन्हें क्योंकर विश्वास आता कि चार पेज के पत्र में केवल कुशल-मंगल ही लिखा है, विशेषकर जब हमारी शादी को अभी कुछ ही महीने हुए थे और शादी हमने इतने विरोध में भी कर ली थी। बोलीं—"प्रेम-पत्र होगा, तुम बताना नहीं चाहतीं।"

मैंने पत्र उनकी ओर बढ़ा दिया कि पढ़ लीजिए! मामी जी पढ़ने लगीं—

"दफ़्तर में काम ज़्यादा था, इसलिए तुम्हें जल्दी न लिख सका।

तुम सन्दूकची का ढकना लगाना भूल गयीं, चूहों ने गिरा दी, नमक, हल्दी, मिर्च सब एक हो गये। अब मैंने ढकना लगा दिया है।

अचार को धूप दिखा कर मर्तबान के मुँह पर कपड़ा बाँध दिया है।

धोबी आया था, कपड़े मिला कर ले लिये थे। मैले कपड़े वह ले गया है, मैंने बिस्तर की चादरें भी दे दीं, पर अब धुली चादरें मिल नहीं रहीं। जाने तुम कहाँ रख गयी हो?

मकान का किराया, बनिये का बिल और धोबी का हिसाब दे कर तनख़्वाह के शेष रुपये तुम्हारे दराज़ में रख दिये हैं।

कल शाम चाँदनी चौक गया था तो स्लीपर ख़रीद लाया। वहाँ तो ठीक ही लगे थे। जूते डिब्बे में रख, स्लीपर पहन कर चला आया। एड़ी

दर्द करने लगी है। लगता है कि छोटे हैं। अब वापस थोड़े होंगे। ये पैसे बर्बाद गये।

कल फिर घर से एक ख़त आया था, मन उदास हो गया। कुछ उस पत्र का रंज, कुछ स्लीपरों की ख़रीदारी का ग़ुस्सा, रात भर सो नहीं सका। इस वक्त सिर दर्द कर रहा है।...

मामी जी ने पत्र मेरे मुँह पर दे मारा। निराशा से बोलीं—"कवि और कथाकार हैं और पत्र ऐसा लिखते हैं।" तब तक मैं इनके प्रेम-पत्रों की आदी हो चुकी थी, इसलिए मामी जी की निराशा पर हँस दी।

सभ्यता और संस्कृति का सम्बन्ध भी ये हृदय से ही जोड़ते हैं। यदि कोई उदार और निष्कपट नहीं, सहृदय और संवेदनशील नहीं, सच्चा और स्नेही नहीं तो इनकी दृष्टि में सभ्य और सुसंस्कृत नहीं, फिर चाहे वह कितने अच्छे कपड़े पहने, कितने ठाठ से रहे और कैसी भली उसकी मुख-मुद्रा और मुख-चर्या हो। इसका यह अर्थ नहीं कि जो गुण इन्हें पसन्द हैं, वे सब इनमें भी हैं और ये दूसरों की ख़ामियों और कमज़ोरियों को ही देखते हैं। बुराई को बुराई मानते हैं, चाहे वह दूसरों में हो या अपने में। अपनी त्रुटियों को जानते हैं, विवेचना करते हैं, स्वीकार करने में भी इन्हें संकोच नहीं और उन्हें दूर करने या काबू में रखने का प्रयत्न करते रहते हैं। हाँ, जिसे ये बुराई नहीं समझते, उसे तो अगर भगवान भी इन्हें मनवाना चाहे तो शायद न मानें, दूर करने की तो बात ही दूर रही।

अपने लिखने की मेज़ पर ये लेखक उपेन्द्रनाथ अश्क हैं, जीवन में आम इन्सान! ऐसा इन्सान, जो अपनी सरल निश्छलता, उदारता, कर्तव्यपरायणता, चिन्ता, स्नेह-संवेदना, सहानुभूति, लगन और निष्ठा-गम्भीरता को अपने ठहाकों, हँसी-मज़ाक, शरारत, छेड़-छाड़, बेतकल्लुफ़ी और रूखेपन के बेतुके आवरण में छिपाता फिरता है कि कहीं हवा न लग जाय, फिर चाहे उसमें कितनी सिलवटें हों और कितने उभरे-दबे कोने, उसे परवाह नहीं।

सुधीन्द्र रस्तोगी

●●●

दो पहलू

पिछले आठ-दस वर्षों से मैं अश्क जी के बारे में निरन्तर परस्पर-विरोधी बातें सुनता रहा हूँ। इलाहाबाद में जहाँ चार साहित्यिक इकट्ठे हुए, उनका नाम आने पर प्रायः लोगों को झुँझला कर उन्हें कोसते, उनके कृतित्व तथा व्यक्तित्व का मज़ाक उड़ाते और कभी-कभी उनके जीवट की प्रशंसा भी करते देखा है और मेरे मन में बराबर उन्हें निकट से देखने-जानने की इच्छा रही है।

बहुत से दूसरे लोगों की तरह मैं भी पहले अश्क जी के बारे में 'प्रेज्युडिस्ड' था, लेकिन इधर व्यक्तिगत रूप से परिचित होने और लगातार उनके निकट-सम्पर्क में रहने के बाद, धीरे-धीरे उनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व का वास्तविक रूप मेरे सामने आया और तब यह जान कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि यदि अश्क जी चाहते, चाहते शब्द उपयुक्त नहीं है, यदि उन्होंने प्रयास किया होता तो उनके बारे में फैली हुई अधिकांश ग़लत धारणाएँ समाप्त हो जातीं। लेकिन अपने स्वभाव के कारण वे ऐसा नहीं कर पाये। अपने बारे में दूसरों की ग़लत धारणाओं को दूर करने को बजाय मैंने अश्क जी को उन्हें और भी पुष्ट करते देखा है।

वे मुझसे उमर में बहुत बड़े हैं, इतने कि शायद मेरी उमर उनके बड़े लड़के के बराबर ही होगी, लेकिन व्यवहार वे मेरे साथ मित्र-जैसा ही करते हैं—वह भी बराबर के मित्र-जैसा ! इसीलिए जब कभी हम दोनों अकेले बैठे होते हैं या रात के नौ-दस बजे (क्योंकि प्रायः उसी समय वे सैर को निकल पाते हैं) हाईकोर्ट

वाली सूनी, एकाकी सड़क पर टहलते होते हैं, तो अश्क जी बातें करते-करते अपने जीवन की कितनी ही ऐसी बातें बता जाते हैं, जिन्हें वे अपने घनिष्ठ-से-घनिष्ठ मित्र को भी (सामान्यतः) बताना पसन्द न करें। इस प्रकार उनके बारे मे बहुत कुछ जान-समझ लेने के बाद, मुझे जितनी झल्लाहट ग़लत बातों का प्रचार करने वाले लोगों पर होती है, उससे कम अश्क जी की इस आदत पर नहीं होती कि वे तथ्य सामने रखते भी हैं तो सफ़ाई देने के लिए नहीं, ग़लत धारणाओं को और पुष्ट करने या उन्हें फैलाने वालों को और भी नाराज़ करने के लिए ! . . . . मुझे इस बात पर भी ग़ुस्सा आता है कि वे लोगों को खामखाह. नाराज़ क्यों कर लेते है। लोगों का मुँह बन्द करना तो मेरे वश में नहीं, लेकिन अश्क जी से ज़रूर मैंने कई बार कहा है कि वे ऐसी बातें क्यों करते हैं, जिससे लोग चिढ़ जाते हैं या नाराज़ हो जाते हैं।

अश्क जी का मत है कि मित्र चुनने के लिए अपने परिचितों को एक बार नाराज़ करना ज़रूरी है। यदि किसी से झगड़ा न हो तो 'हम भी भले और आप भी भले' की-सी बात होती है, पर ज्योंही झगड़ा हुआ, आदमी का असली रूप खुलता है, छोटा आदमी उस समय घटिया-से-घटिया बातें करता है, लेकिन बड़े दिल वाला अपनी बड़ाई को हाथ से नहीं जाने देता और उससे निबाहना कठिन नहीं होता।

मुझे अश्क जी की यह बात पूरी तरह समझ में नहीं आयी, पर उनके मित्र-शत्रुओं की संख्या देखता हूँ तो लगता है कि उन्हें आदमी परखने में ज़रूर सिद्धि प्राप्त है। उनके ऐसे भी मित्र हैं, जिनके साथ उनका वर्षों का नाता है और झगड़ों के बावजूद जो उनके लिए और जिनके लिए वे स्वयं सब कुछ करने को तैयार हैं और ऐसे भी, जो उनके बारे में हर तरह की अफ़वाहें फैलाते रहते हैं।

अश्क जी इन दूसरी श्रेणी के मित्रों की परवाह नहीं करते और न ही उनकी ग़लतफ़हमियों को दूर करने की चिन्ता करते हैं। उनका विश्वास है कि जो लोग ग़लत धारणाएँ फैलाते हैं, वे उनके रोकने या समझाने से बाज़ तो आयेंगे नहीं और जो समझदार हो कर उन सरासर झूठी बातों पर विश्वास करते हैं, उनकी समझदारी पर उन्हें हँसी आती है और उनकी यह 'समझदारी' बनी रहे, वे यही कोशिश करते हैं और उनकी तरदीद करना वे ज़रूरी नहीं समझते।

अश्क जी को इस सब में मज़ा भी आता है, इससे वे इनकार नहीं करते और यदि बात बढ़ जाती है और कहीं खराश आ जाती है तो इसे वे 'पार्ट आफ़ द गेम' समझते हैं।

अश्क जी के प्रति लोगों की यह भी शिकायत है कि वे लोगों को गुमराह कर देते है। उनके इस रूप को मैंने भी देखा है। अब तो मैं उन्हें समझ गया हूँ, पर पहले-पहल जब मैंने उनका यह रूप देखा तो मुझे कुछ अजीब-सा लगा था और मैंने उनसे पूछा था कि वे ऐसा क्यों करते हैं। उन्होंने कहा कि भाई, मैं न फ़रिश्ता हूँ न मसीहा और न मैं अपने-आपको पैग़म्बर समझता हूँ। मैं ख़ुद ही को ठीक रास्ते पर रख पाऊँ, यही मैं बहुत समझता हूँ। रही लोगों को ठीक रास्ते लगाने या गुमराह करने की बात, तो मैं लोगों को राय ठीक देता हूँ, समस्या के सभी पक्ष समझा देता हूँ। लोग कठिनाइयों से गुज़रने से घबराते है, आगे बढ़ने के आसान नुस्खे सीखना चाहते हैं। कोशिश मैं यही करता हूँ कि मैं उन्हें ग़लत काम करने की सलाह न दूँ, लेकिन जब जान लेता हूँ कि ये सलाह ही मुझसे वैसी चाहते हैं तो मैं उन्हें निराश नहीं करता।

जो लोग वास्तविकता नही जानते या जानना नहीं चाहते, उनके मन में एक धारणा बैठ जाती है कि अश्क जी ने जीवन में जो सफलता प्राप्त की है और साहित्यिक यश अर्जित किया है, उसके पीछे कोई आसान गुर है, कोई 'फ़ॉड' है। 'अश्क एक ज़बरदस्त फ़ॉड है' यह बात ख़ूब प्रचलित है और मैं समझता हूँ, इसे प्रचारित करने में स्वयं अश्क जी का हाथ सब से अधिक है। अपनी सफलता के बारे में कोई बात कहते हुए अश्क जी का तकिया कलाम है, 'अरे भाई यह सब फ़ॉड है'—और कैसे फ़ॉड है, इसका भी विश्वास वे सुनने वाले को दिला देते हैं। और इस सम्बन्ध में उनकी कीर्ति से प्रभावित हो कर सफलता के गुर सीखने के लिए प्रायः लोग उनके पास आते रहते है और मैंने देखा है कि अश्क जी बड़ी दरियादिली से उन्हें गुर बता भी देते हैं (लेकिन बताते पात्र देख कर ही हैं। जो फ़ॉड सीखने आते हैं, उन्हें फ़ॉड सिखा देते हैं और जो ईमानदारी से साहित्यिक सफलता प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें वे बड़ी निष्ठा से तप और साधना की बात समझाते हैं।) मैंने देखा है कि तेज़ किस्म के लोग पहले तो अपने को अत्यन्त अबोध तथा अनुभवहीन जता कर अश्क जी की सहानुभूति प्राप्त करना चाहते हैं और जब बैठने की जगह मिल जाती है तो झट लेटने का तिकड़म भिड़ाने लगते हैं और बड़ी मासूमियत से अश्क जी से उपाय पूछते हैं। तेज़ी अश्क जी से छिपी नही रहती, इसलिए वे ऐसा रास्ता बता देते है, जिससे उनका अपना पिंड भी छूट जाता है और गुर जानने के इच्छुक बन्धु की साध भी पूरी हो जाती है। फिर तो सफलता की दो-तीन सीढ़ियाँ चढ़ते-न-चढ़ते वे स्वयं गुर-शास्त्र के गुरु बन बैठते हैं और गुरु-दक्षिणा चुकाने के लिए कभी-कभी अपनी गुरुआई अश्क जी के प्रति भी दिखा देते हैं।

तीन-चार साल पहले की बात है। एक दिन मैं अश्क जी के यहाँ पहुँचा तो देखा उनके कमरे में दो अपरिचित युवक बैठे हैं। दूसरे दिन गया तो फिर उन्हें देखा और देख कर कुछ आश्चर्य हुआ। दोनों में एक, जो कुछ तेज़ किस्म के सज्जन थे, कौशल्या जी से बड़ी गहरी आत्मीयता प्रदर्शित करते हुए बातें कर रहे थे और 'दीदी,' 'दीदी' की झड़ी लगाये हुए थे। सम्भवत: वे कौशल्या जी का सहज स्नेह प्राप्त करने का गुरुमंत्र कहीं से सीख आये थे। पूछने पर पता चला कि वे किसी दूरस्थ प्रदेश से आये हैं, कुछ कहानियाँ लिखी हैं, अश्क जी अगर उन्हें एक नज़र देख लें और एक छोटी-सी भूमिका लिख दें तो उनका इतनी दूर से आना सफल हो जाय। भूमिका लिखने से अश्क जी को बड़ी उलझन होती है, इसलिए मुझे सन्देह था कि उन कथाकार बन्धु का काम बनेगा। लेकिन उन्होंने तो शाखाओं और टहनियों को छोड़ कर जड़ को ही पकड़ने का गुर सीख रखा था। कौशल्या जी को अपने उस 'भाई' पर दया आयी (और किस बहन को भाई के साथ सहानुभूति नहीं होती) और उन्होंने अश्क जी से भूमिका लिख देने को कह दिया। वे चाहें और अश्क जी कोई काम न करें, ऐसा होते मैंने कभी नहीं देखा। इसलिए मेरी आशा के विपरीत अश्क जी ने हाथ का काम छोड़ पहले उन बन्धु की कहानियाँ सुनीं और उनके दोष बता कर राय दी कि वे उन्हें सुधारें और तब छपवायें, लेकिन जब उन्होंने ज़ोर दिया कि वे चार शब्द भूमिका के रूप में लिख दें और कौशल्या जी ने भी अनुरोध किया तो अश्क जी ने न केवल उनके संग्रह की भूमिका लिख दी बल्कि उन्हें अपने एक सम्पादक-मित्र से मिला कर उनकी कहानियाँ भी छपवायीं और संग्रह के प्रकाशन की भी व्यवस्था (जो कि उन बन्धु का असली मकसद था) करवा दी। फिर जैसाकि बन्धु चाहते थे, कथा-साहित्य के क्षेत्र में बढ़ने, सम्पादकों, आलोचकों और समवयस्क कथाकारों को साधने के गुर भी उन्हें अश्क जी ने बता दिये और वे बिजली की-सी तेज़ी से आगे बढ़ गये और उनकी कहानियाँ धड़ाधड़ पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी।

दो-ढाई साल बाद जब वे बन्धु फिर आये तो उनके लहजे में मिमियाने की मात्रा ख़त्म हो चुकी थी और मैंने देखा कि अश्क जी से बाते करने में वे बड़ी बेतकल्लुफ़ी दिखा रहे थे। साथ ही अश्क जी के जिन पत्रकार-मित्र ने उनकी आरम्भिक कहानियाँ छापी थीं, कहानी-कला के बारे में उनकी अल्पज्ञता तथा अनाड़ीपन की चर्चा भी बीच-बीच में वे बराबर बड़े ज़ोरों से करते जा रहे थे और यह भी न देख रहे थे कि अश्क जी को अपने उन सम्पादक-मित्र की निन्दा बुरी लग रही है, जिसने उन बन्धु को साहित्य के क्षेत्र में उतारा (जिस सीढ़ी पर पाँव रख कर चढ़ो उसे कभी ठोकर न मारो—अश्क जी बराबर यह कहा करते

हैं पर लोग बढ़ने की तेजी में दूसरे गुर सीख लेते हैं, इसे नज़र-अन्दाज़ कर देते हैं।)

अपने साथ इस बार वे बन्धु अपने दूसरे कहानी-संग्रह की पाण्डुलिपि लाये थे कि अश्क जी उसे 'नीलाभ प्रकाशन' से प्रकाशित कर दें। अश्क जी इस बीच में उन्हें अच्छी तरह समझ गये थे और ज़ाहिर है कि उन्होंने कौशल्या जी से भी उनकी तेज़ी के विभिन्न कारनामों का उल्लेख कर दिया था और जैसाकि मैंने कहा, तेज़ आदमी का अश्क जी से पार पाना मुश्किल है। अश्क जी ने संग्रह छापने में अपनी असमर्थता प्रकट की तो बन्धु बोले कि आप नही छापते तो कहीं दूसरी जगह छपवा दीजिए। अश्क जी ने उन्हे सलाह दी कि भाई तुम अमुक प्रकाशक के पास जाओ, ऐसे-ऐसे उसकी तारीफ़ करो और मुझे दो-चार गालियाँ देते हुए मेरी निन्दा करो, निन्दा में क्या-क्या कहो, यह भी अश्क जी ने उन्हें बता दिया और कहा कि अगर मेरी समझ ग़लत नहीं तो तुम्हारा संग्रह तुरन्त छप जायगा। बन्धु चूँकि उन सज्जन के बारे में विशेष कुछ न जानते थे, इसलिए अश्क जी ने ज़बानी बताने के साथ-साथ कुछ मुद्रित सन्दर्भ-सामग्री भी दी, जिसका उन्होंने बड़े मनोयोग से पारायण किया। मज़ा यह कि जब उन्होंने कहा कि पूर्व-परिचित न होने के कारण मैं उनसे मिलूँ कैसे तो अश्क जी स्वयं उन्हें साथ ले जा कर उनसे मिला आये।

बन्धु तो तेज़ थे ही। उन्हें इशारा भर चाहिए था। उन्होंने ऐसी उस्तादी दिखायी कि प्रकाशक महोदय ने (जिनके यहाँ प्रसिद्ध-से-प्रसिद्ध लेखक की पुस्तक भी सामान्यतः प्रकाशन के लिए नहीं ली जाती और ली भी जाती है तो छपने में बरसों लग जाते हैं) महीने-भर के अन्दर-अन्दर उनकी पुस्तक छाप दी। बन्धु ने अश्क जी के विरुद्ध उन प्रकाशक महोदय से जो कुछ कहना था सो तो कहा ही होगा, एक पत्रिका में अश्क जी पर छिपी चोट कर के अपने नये प्रकाशक को और भी प्रसन्न कर लिया। उन बन्धु के बारे में अश्क जी ने जो धारणा बनायी थी, चूँकि उनके इस सत्कर्म से उसकी पुष्टि हुई, इसलिए वे इस प्रकार अपनी निन्दा करवा कर बड़े प्रसन्न हुए।

अपनी आर्थिक सफलता के लिए अश्क जी कौशल्या जी के योगदान को और अपनी ख्याति के लिए 'नीलाभ प्रकाशन' को बहुत महत्व देते हैं। उनके रहन-सहन और बढ़ती हुई ख्याति को देख कर कुछ लोग बड़ी ईर्ष्या करते हैं और चाहते हैं कि उन्हें भी वह गुर मालूम हो जाय, जिससे अश्क इतने सफल हुए हैं। मैं एक ऐसे लेखक-मित्र को जानता हूँ, जिन्होंने कुछ दिनों तक अश्क जी के साथ रह कर उन्हीं के शब्दों में कहूँ तो वे सभी गुर और हथकंडे हस्तगत कर लिये,

जिनके कारण, उनके ख़याल में, अश्क जी ने सफलता पायी थी और फिर जब वे अश्क जी से नाराज़ हुए तो उन्होंने घोषणा की कि वे कुछ ही दिनों में अश्क को उखाड़ फेंकेंगे। एक दिन उन्होंने मेरी जानकारी के लिए (तब मैं अश्क जी को निकट से न जानता था) रहस्योद्घाटन किया कि अश्क की सफलता के तीन कारण हैं—कौशल्या जी-जैसी कर्मठ पत्नी, लेखक होते हुए प्रकाशक होने की सुविधा और फ्रॉड। कुछ ही दिनों में अपने शुभ-संकल्प के अनुसार मित्र ने एक कर्मठ महिला-संगिनी प्राप्त की, प्रकाशक बने और तीसरे साधन द्वारा स्वयं जमने और अश्क जी को उखाड़ फेंकने के लिए ऐड़ी-चोटी का ज़ोर लगाने लगे। साल-छह महीने उन्होंने बड़े हाथ-पाँव मारे और शुरू-शुरू में सफल होने का ढोंग भी रचते रहे, लेकिन अन्त में उन्होंने टाट उलट दिया और अपने कथित सिद्धान्तों के विपरीत एन-केन-प्रकारेण एक सरकारी नौकरी प्राप्त कर के राहत की साँस ली। वात यह थी कि उक्त कर्मठ महिला और प्रकाशन-व्यवसाय, दोनों का पेटा भरते-भरते मित्र स्वयं अपेटे हुए जा रहे थे। मज़ा यह कि बाद में उस नौकरी के सिलसिले में भी वे अश्क जी के ही पास आये। और अश्क जी ने उन मित्र के लिए न केवल सिफ़ारिश की, बल्कि उस नौकरी पर जमे रहने के भी तिकड़म और गुर उन्हें बता दिये।

अश्क जी से गुर सीख कर जाने वालों को कभी-कभी यह शिकायत होती है कि वे असली गुर नहीं सिखाते, क्योंकि जब वे बन्धु उन गुरों का उपयोग गुरुदक्षिणा चुकाने के लिए करते हैं तो उन्हें मुँह की खानी पड़ती है और उन्हें वैसी ही निराशा होती है जैसी वनराज को कभी बिल्ली मौसी के कपट से हुई थी। बात यह है कि हर गुरु की तरह अश्क जी भी एक दाँव बचा रखते हैं, इसीलिए शिष्यों का वार उन पर भारी नहीं पड़ता।

'जितने मुँह, उतनी बातें' प्रचलित मुहावरा है और अश्क जी के बारे में एकदम सटीक बैठता है। 'जैसे लोग, वैसा व्यवहार' प्रचलित मुहावरा नहीं, लेकिन इधर जब से मैं अश्क जी के निकट-सम्पर्क में आया हूँ, मैंने सदा उन्हें इस दूसरे मुहावरे पर अमल करते देखा है।

'जैसे लोग, वैसा व्यवहार' का दूसरा पहलू भी मैंने पिछले कुछ वर्षों में देखा है, और मैंने जाना है कि कुछ लोगों को गुमराह होने में सहयोग देने की बजाय अश्क जी ने उन्हें ठीक राह पर लौट जाने में मदद भी दी है।

तीन-चार साल पहले की बात है, एक दिन अश्क जी को बिहार के एक नवयुवक का अत्यन्त श्रद्धा-भरा पत्र मिला। अश्क जी व्यस्तता के कारण प्रायः महीनों अपनी डाक नहीं निबटा पाते और कभी-कभी बड़े ज़रूरी पत्र पड़े रह जाते हैं, लेकिन जिस

दिन वे डाक निबटाने बैठते हैं, सब से पहले उस दिन आये हुए पत्रों के उत्तर देते हैं। और इस तरह कुछ ग़ैर-ज़रूरी पत्रों के उत्तर लौटती डाक से पत्र भेजने वालों के पास पहुँच जाते हैं। उस युवक का पत्र भी एक ऐसे ही दिन आया। अश्क जी का स्नेह-भरा पत्र इतनी जल्दी पा कर उस युवक को बड़ा आश्वासन मिला और उनके प्रति एक गहरी आत्मीयता का भाव उसके मन में जगा।

कुछ ही दिनों बाद सुबह-सुबह अश्क जी नाइट-सूट पहने अपने बँगले के अन्दर सड़क पर टहल रहे थे कि सामने से एक नाटे क़द का मोटा-सा युवक हाथ में थैला लिये हुए आता दिखायी दिया। उसने अश्क जी ही से उनका पता पूछा। जब उन्होंने कहा कि मैं ही अश्क हूँ तो युवक ने बड़ी श्रद्धा से उन्हें प्रणाम किया, अपना नाम बताया और कहा कि मैं '. . .' से आप की शरण में आया हूँ। अश्क जी उसका नाम और पत्र-व्यवहार की बात भूल गये थे। वे उसे अपनी स्टडी में ले आये। तब उन्हें पता चला कि वह मैट्रिक पास है, साहित्यानुरागी है, घर से भाग आया है, उसके पिता चाट की दुकान करते हैं, उस काम में उसका मन नहीं लगता, उसके मन में लेखक और प्रकाशक बनने की साध है, अब वह अश्क जी की शरण में आया है और उसका इरादा है कि वह प्रयाग में ही रहेगा और जो भी काम वे उससे चाहेंगे करेगा।

अश्क जी ने उसे चाय पिलायी, नाश्ता कराया और सब काम-काज भूल कर उसे समझाने लगे कि भाई मेरे यहाँ तो कोई गुंजाइश नहीं। दूसरे प्रकाशकों के यहाँ तुम्हें क्या काम मिल सकता है, कितनों के ही यहाँ तो मैट्रिक पास चपरासी हैं। तुम अपने घर के सब से बड़े लड़के हो, इस तरह भाग आने पर तुम्हारे माँ-बाप कितने परेशान होंगे और फिर तुम्हारे छोटे भाई पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा। मेरी राय तो यह है कि तुम वापस घर चले जाओ, पहले अपने पिता के रोज़गार को आगे बढ़ाओ और अपने भाई की पढ़ाई में मदद दो, कुछ पैसे जुट जायें तो पटना चले जाओ, वहाँ चाट की दुकान खोलो, साथ ही वहाँ की कुछ बड़ी प्रकाशन-संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित करो, कुछ अनुभव हो जाय तो साइड-बिज़नेस के रूप में प्रकाशन का काम शुरू करो और धीरे-धीरे उसे बढ़ा लो और चाट की दुकान पर अपने छोटे भाई को बैठा दो। बिना पूरे जीवन की स्कीम बनाये तुम कुछ न कर पाओगे और भटक जाओगे। तुम्हारे माता-पिता को क्लेश होगा और तुम्हारे हाथ कुछ आयेगा नही। आदि. . .आदि. . .

युवक की समझ में बात आ गयी। उसने उल्टे पाँव घर लौट जाने की इच्छा प्रकट की। अश्क जी ने कहा कि तुम इतनी दूर से आये हो तो कम-से-कम संगम-स्नान तो ज़रूर कर लो। एक-आध दिन यहाँ रुक कर घूम-फिर लो, तब जाओ। लेकिन युवक ने कहा कि अब वह एक क्षण नहीं रुकेगा और वापस जायेगा। चूँकि वापस

न जाने का पक्का इरादा कर के वह आया था, इसलिए घर से वापसी टिकट के पैसे भी ले कर न चला था। अश्क जी को जब यह बात मालूम हुई तो उन्हें उससे बड़ी हमदर्दी हो आयी। शायद उन्हें अपने बड़े लड़के का ख़याल हो आया, जो उस युवक ही की तरह बम्बई भाग गया था। अश्क जी ने उसे अपने घर खाना खिलाया और अपने मैनेजर से कहा कि भाई ये आप के प्रदेश के हैं, इन्हें टिकट ले दीजिए, पाँच रुपये रास्ते के लिए दे दीजिए और रात की गाड़ी पर बैठा दीजिए।

उस युवक के कितने ही पत्र मैंने अश्क जी की फ़ाइल में देखे है और अब भी कभी-कभी उसके श्रद्धा-भरे पत्र आते रहते है।

यह नहीं कि अश्क जी ने केवल उन लोगों को ही पथ-भ्रष्ट होने से बचाया, जो अनुभवहीन थे, अबोध थे, बल्कि ऐसे लोगो की भी उचित राय दे कर मदद की है, जो चतुर और अनुभवी होने के बावजूद मुसीबत में फॅसने जा रहे थे। बात तब की है जब अश्क जी फ़िल्म-इंडस्ट्री में थे, उनके एक मित्र फ़िल्मी दलालों के चक्कर में फॅस गये। उनके पास एक लाख के करीब रुपये थे, जिसे वे फ़िल्म-कम्पनी में लगाने को तैयार हो गये। अश्क जी से मित्र ने राय ली तो उन्होंने कहा कि भाई कुशल इसी में है कि तुम तुरन्त गाड़ी में बैठ जाओ। यहाँ लोग कल ही हीरो-हीरोइन समेत पूरे-का-पूरा यूनिट तुम्हारे सामने ला खड़ा करेंगे और तुम्हें विश्वास दिला देंगे कि एक लाख तो क्या पचहत्तर हज़ार में ही ऐसा हिट फ़िल्म बनवा देंगे कि तुम रातों-रात करोड़पति हो जाओगे, लेकिन जहाँ तुम्हारा रुपया फॅसा कि तुम फँसे। एडवांस ही में चालीस-पचास हज़ार रुपया तुम्हारे हाथ से निकल जायगा और तुम देखोगे कि फ़िल्म शुरू भी नहीं हुआ। बीसियों फ़िल्म मुहूर्त के बाद सेट का मुँह नही देखते। तुम्हारा सारा रुपया ख़र्च हो जायेगा, कर्ज़ ऊपर से लद जायगा, इस पर भी फ़िल्म बन जाये, इसका कोई भरोसा नहीं। बन भी गया तो क्या गारटी है कि वह हिट हो जायगा। फ़िल्म बनाने का इरादा तब करो, जब तुम्हारे पास कम-से-कम तीन फ़िल्म बनाने का रुपया हो। एक फ़िल्म फ़ेल होगा, दूसरा होगा, लेकिन तीसरे तक पहुँचते-पहुँचते तुम्हें काफ़ी अनुभव हो जायगा और कोई बड़ी बात नहीं कि तुम्हारा तीसरा फ़िल्म हिट हो जाय।

मित्र के मन मे बात बस गयी और वे वापस लौट गये और इस बात के लिए आज तक अश्क जी के एहसानमंद हैं। अश्क जी की जगह फ़िल्म-इंडस्ट्री का कोई दूसरा व्यक्ति होता तो मित्र की पीठ ठोंकता और बड़ी सफ़ाई से दस-बीस हज़ार रुपया ऐंठ लेता।

किसी आदमी में चतुराई और काइयाँपन देखते ही अश्क जी शरारत पर तुल

जाते हैं। फिर उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं रह जाती कि वे स्वयं अपने बारे में ग़लत बात कह रहे हैं या दूसरे के। जैसे रोगी के मन भावे, वैसे वैद बतावै। कोई बेतुकी बात करने की राय दे कर कहेंगे, 'यार इसमें कोई शर्म नही, पहले मैं भी ऐसा ही करता था' या 'मैं भी ज़रूरत पड़ने पर ऐसा ही कर लेता हूँ।' और दो-एक ऐसे उदाहरण देंगे कि सुनने वाले को पूरा विश्वास हो जायगा। और इस प्रकार कही हुई अश्क जी की बातों को कितने ही लोग गम्भीरता से ले भी लेते हैं। घर फूंक तमाशा देखना इसी को कहते है।

एक शाम मैं अश्क जी के कमरे में जैसे ही घुसा, उन्होंने बड़े तपाक से वहाँ पहले से बैठे एक सज्जन को मेरा परिचय दिया और मैं भी बात-चीत में शामिल हो गया। बात-चीत क्या, प्रवचन-सा चल रहा था और अश्क जी उन सज्जन को अपने विभाग में सफलता पाने के गुर बता रहे थे। वे सज्जन एक ऊँचे पद पर नये-नये नियुक्त हो कर आये थे और शायद उन्होंने इस सम्बन्ध में अश्क जी से परामर्श चाहा था।

अश्क जी की बातें सुन कर किंचित् गर्व से उन्होंने कहा कि उनके साथ बड़ी मुश्किल यह है कि चापलूसी उनसे बिलकुल नहीं होती। अपने विभाग में वे ही ऐसे आदमी हैं, जो अपनी योग्यता के बल पर उस पद पर आसीन हुए हैं, नहीं शेष सब तो 'बैक डोर' से आये हैं।...और उन्होंने सन्देह प्रकट किया कि शायद ही उनका ताल-मेल उस विभाग में बैठे।

वे किस 'फ़्रण्ट डोर' से आये होंगे, इसे अश्क जी भली-भाँति जानते थे। सो उन्होने बड़ी संजीदगी से उन महानुभाव को समझाया कि यह जगह ज़रा 'डिफ़िकल्ट' है, यहाँ बड़ी गुटबन्दी है। आप को चाहिए कि आप किसी गुट के चक्कर में न पड़ें। किसी की परवाह न कर के सिर्फ़ अपने 'बॉस' को खुश रखें, फिर आप को कोई न उखाड़ सकेगा और आप कंक्रीट की तरह जम जायेंगे।

बन्धु ने निरीह-सी मुद्रा बना कर कहा कि 'बॉस' उनसे नाराज़ तो नहीं, लेकिन एक सहकारी से ज़्यादा खुश हैं। जब देखो वह 'बॉस' के कमरे में बैठा रहता है। 'बॉस' उसी की आँखों से देखते हैं, उसी के कानों से सुनते हैं, वह 'बॉस' की नाक का बाल बना हुआ है।

"क्यों न बने?" अश्क जी ने कहा, "भाई राशन उनके यहाँ वो पहुँचाता है; लाण्ड्री से उनके कपड़े वो धुलवाता है; चीनी, कोयला या किसी दूसरी चीज़ की तंगी हो तो वो जुटाता है; 'बॉस' को कही जाना होता है तो उनकी सीट बुक कराता है; उन्हें स्टेशन पर छोड़ने जाता है और सीट पर बिस्तर खुद बिछाता है..." और अश्क जी ने उन्हें बताया कि अंग्रेज़ों के वक्त से 'बॉस' को खुश करने के यही ढंग चले आते हैं। 'बॉसों' का रंग बदला है, ढंग नहीं बदला। जो यह सब नहीं कर सकता,

भूल कर भी उसे नौकरी नहीं करनी चाहिए और फिर वे कहने लगे कि कैसे वे जब नौकरी करते थे तो उन्होंने खुद यह सब किया, इसमें कोई शर्म की बात नहीं—जब नौकरी करनी है तो ढंग से करनी है। . . .

अश्क जी ने यह बात कुछ ऐसे सहा-सहा कर कही कि वे सज्जन धीरे-धीरे उनकी हाँ-में-हाँ मिलाने लगे और जब वे उठे तो उनके चेहरे पर कुछ ऐसा भाव था कि जितनी जल्दी हो सके वे अपने सहयोगी को पदच्युत कर के 'बॉस' के कृपा-पात्र बन जायँ।

चलते-चलते इस शुभ काम में उन्होंने अश्क जी से सहायता का आश्वासन भी चाहा और अश्क जी ने वादा किया कि वे उनके 'बॉस' से मिलेंगे तो उन्हें यकीन दिला देंगे कि वे '. . .' जी पर पूरा विश्वास कर सकते है, आधी रात को भी बुलाया जायगा तो वे हाज़िर हो जायँगे।

जब वे सज्जन चले गये तो मैंने अश्क जी से पूछा कि आप ने तो इतनी जगह नौकरी की, पर कहीं कंक्रीट की तरह नहीं जमे, सदा त्यागपत्र दे आये, फिर अपने बारे में ये सब ग़लत बातें क्यों कहीं ? तब उन्होंने कहा कि और दूसरी तरह वह अपनी असलियत पर आता ही नहीं। आते ही उसने ऐसी बेतुकी बात कही कि मुझे लगा कि या तो यह आदमी खुद परले सिरे का मूर्ख है या फिर मुझे मूर्ख समझता है। भला बताइए, जहाँ सब-के-सब 'बैक डोर' से आये हों, वहाँ इन्हीं साहब में कौन सुर्खाब का पर लगा था जो इनसे निवेदन किया गया कि कृपया जल्दी पधारिए वरना यह विभाग रसातल को चला जायगा।

बात यह है कि अश्क जी ने जीवन का हर रंग देखा है, बहुत कुछ सहा है और अपार संघर्ष किया है, इसलिए उनमें अनुभव-जन्य एक ऐसी सतर्कता आ गयी है, जो उन्हें किसी से धोखा नही खाने देती। स्वयं किसी को गुमराह करने या धोखा देने की प्रवृत्ति उनमें नहीं—हाँ यह अवश्य है कि अगर कोई उन्हें ठगना या मूर्ख बनाना चाहे तो वे हर सम्भव उपाय से उसकी चाल को विफल करने का प्रयास करते हैं। कोई डाल-डाल चले तो ये पात-पात चलना अपना कर्त्तव्य समझते हैं और यही कारण है कि जो इन्हें धोखा देने में असफल रहते है, या इन्हें मूर्ख बनाने की जगह खुद मूर्ख बन जाते है, वे मोह-भंग होने पर अश्क जी को गाली देते है और तरह-तरह के प्रवाद फैलाते घूमते है और दूसरे लोग, जो ठीक बात नहीं जानते, अश्क जी के प्रति ग़लत धारणाएँ बना लेते हैं।

ऊपर से देखने में अश्क जी जितने चुस्त, चालाक और सतर्क दिखायी देते हैं, अन्दर से वैसे नहीं हैं। वह सब तो एक खोल-सा है जो उन्होंने अपने ऊपर चढ़ा

रखा है। यह अवश्य है कि यह खोल नारियल के आवरण की तरह ऐसा कड़ा है कि उसे बेध पाना सरल नहीं। लेकिन कभी-कभी जब कोई इस आवरण को बेध सकने में सफल हो जाता है तो उनका जो रूप सामने आता है, वह एक ऐसे सहृदय और सादे व्यक्ति का है जो हर मुसीबतज़दा की मदद करना चाहता है, हर बुरा काम करने से हिचकता है और ऐसा व्यवहार करने से घबराता है, जिससे किसी के दिल को ठेस पहुँचे और ऐसे अवसर पर कोई तेज़ क़िस्म का आदमी होता है तो उन्हें किं कर्त्तव्य-विमूढ़ भी बना देता है। अश्क जी का यह रूप जो भी देख पाता है उसे बड़ी हैरत होती है। मुझे एकाध बार उनका यह रूप भी देखने का अवसर मिला है।

चार-पाँच महीने पहले की बात है। कौशल्या जी बम्बई गयी हुई थीं और अश्क जी घर में अकेले ही थे। एक शाम मैं आया तो देखा कि बड़े परेशान-से 'लॉन' में टहल रहे थे। पास पहुँचा तो बोले, "यार बड़ी परेशानी में फँस गया हूँ। राय दो, मुझे क्या करना चाहिए।"

बात यह थी कि कुछ दिन पहले उर्दू के एक सुप्रसिद्ध शायर महोदय ने अश्क जी को एक लम्बा पत्र लिखा था कि वे बड़ी मुसीबत में हैं, उनके लड़के को टी० बी० हो गयी है, और उन्हें मदद की ज़रूरत है। अश्क जी ख़ुद एक लम्बे अरसे तक इस मूज़ी रोग के शिकंजे में फँसे रहे हैं, इसलिए उन्हें इस मर्ज़ के रोगियों से बड़ी जल्दी सहानुभूति हो आती है (यदा-कदा अश्क जी के पास सेनेटोरियमों से रोगियों के पत्र आते रहते हैं और यथा-शक्ति वे उनकी मदद भी करते रहते हैं) बाद में जब शायर महोदय इलाहाबाद पधारे और उन्होंने फ़ोन किया तो अश्क जी ने कहा कि कल किसी वक्त आ जाओ, मैं थोड़े-बहुत का इन्तज़ाम कर दूँगा। इस बात की चर्चा अश्क जी ने अपने एक दोस्त से की तो उन्होंने बताया कि शायर महोदय का लड़का बीमार अवश्य है, लेकिन रुपये की ज़रूरत शायद उन्हें पीने-पिलाने के लिए है, लड़के की बीमारी तो एक बहाना है। ख़ैर वादा अश्क जी कर चुके थे, इसलिए सौ रुपये का इन्तज़ाम उन्होंने कर रखा था। शायर महोदय आये तो 'बड़े भाई', 'बड़े भाई' कर के अश्क जी से लिपट गये और उनकी तारीफ़ करते हुए चरण छूने लगे। अश्क जी को दिखावे से सख़्त नफ़रत है। उन्होंने रोका तो वे बोले कि लोग आप के बारे में जो कहें, पर मैं तो आप को अपना बड़ा भाई मानता हूँ। अश्क जी को इससे उलझन तो बहुत हुई, लेकिन उन्होंने उनको आदर से बैठाया और लड़के की बीमारी के बारे में पूछने लगे। शायर महोदय अपने साथ पचास-साठ रेडियो-नाटकों की टाइप की हुई प्रतियों का बण्डल बाँध लाये थे, मेज़ पर रख कर (लड़के की बीमारी की चर्चा को नज़रन्दाज़ करते हुए) कहने लगे कि अगर ये आप को

पसन्द आये तो मैं समझूंगा कि हाँ मैंने कुछ किया। अश्क जी विशुद्ध रेडियो-नाटकों को साहित्य का अंग नहीं मानते। उन्होंने अपने रेडियो-नाटकों का संग्रह तक नहीं छापा, लेकिन जब वे उनसे अनुरोध करने लगे कि वे एकाध देखें तो सही, कितने ऊँचे पाये के नाटक उन्होंने लिखे हैं तो अश्क जी ने उलट-पलट कर एक-दो पढ़े और कहा कि भाई इनमें से कुछ तो विदेशी नाटकों के अनुवाद लगते हैं। पहले तो वे इनकार कर गये, पर जब अश्क जी ने अंग्रेज़ी-नाटकों के नाम बताये तो उन्होंने कहा, 'हाँ, कुछ आइडिया उनसे लिया है।' अश्क जी ने कहा कि भाई यह पुस्तक मैं नहीं छापूँगा। सौ रुपये मैंने तुम्हारे लिए रखवा छोड़े हैं, वे ले लो, इससे ज़्यादा मैं कुछ नहीं कर सकता। ये नाटक किसी दूसरे प्रकाशक को दे कर छपवा लो।

शायर महोदय ने बड़ी लापरवाही से कहा कि सौ रुपयों की उनकी नज़र में कोई क़ीमत नहीं, इतने तो वे किसी से यों ही ले सकते है; अश्क जी वह संग्रह रख लें; उन्हें फ़िलहाल सौ रुपये ही दिलवा दें, बाकी कुछ दिनों बाद भिजवा दें; तीन सौ रुपये उनके ज़िम्मे उन्होंने लगा रखे है। बड़े भाई हो कर आड़े वक्त में इतनी भी सहायता न करेंगे. . .आदि आदि।

अब इन बड़े भाई को लगा कि छोटा भाई तो बड़ी सफ़ाई से ठग लेना चाहता है। दूसरा मौका होता तो अश्क जी को उतनी परेशानी न होती, लेकिन एक तो अपने वादे का ख़याल, दूसरे यह दुविधा कि कौन जाने सचमुच इन्हें अपने लड़के की दवा के लिए रुपयों की ज़रूरत हो। मुझ से कहने लगे, "यार कल वह आयेगा तो मुझ से कुछ कहते न बनेगा। सोचता हूँ एक दिन के लिए कही बाहर हो आऊँ।"

मैंने कहा, "अश्क जी आप भी कैसी बातें करते हैं। आप यही रहिए। वैसी ही बात हो तो उनसे भेंट न कीजिए, अपने दफ़्तर में उनके लिए सन्देश छोड़ जाइए।"

वे बोले, "हाँ, यह ठीक है, मैं पत्र लिख कर रख जाऊँगा कि ये नाटक हिन्दी में नहीं चलेंगे, इसलिए मैं इन्हें छाप नहीं सकता, सौ रुपये मैंने अपने मैनेजर के पास रख छोड़े हैं, चाहें तो वहाँ से ले लें।"

दूसरे दिन शायर महोदय आये तो अश्क जी का पत्र पाकर आग-बबूला हो गये। उन्होने मेज़ पर से पाण्डुलिपियों का बण्डल उठाया और बड़े भाई को कोसते और गालियाँ देते चले गये।

मैंने देखा है कि अश्क जी को कान्फ़िडेंस में ले कर कोई चाहे तो अनुचित लाभ उठा सकता है, लेकिन उन्हें पता चल जाय कि यह व्यक्ति ठग रहा है तो फिर लाख जतन करने पर भी कोई उन्हें गच्चा नही दे सकता। और ऐसे अवसर पर जब लोगों

को निराशा होती है तो उनकी झल्लाहट देखते ही बनती है। अभी कुछ दिन हुए कलकत्ते के एक ब्लैक-मेलर पत्रकार को अश्क जी से ऐसा ही कटु अनुभव हुआ, जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उन्होंने अपने पत्र में अश्क जी के विरुद्ध धाराप्रवाह विष-वमन करना शुरू किया है। इससे पहले कुछ ऐसी ही शिकायत पटना के एक भंडाफोड़ू पत्रकार को भी हो गयी थी, जो चाणक्य-जैसे नीतिकुशल होते हुए भी अपनी करनी से नन्द की-सी दशा को प्राप्त हो गये। अश्क जी लोगों की ऐसी हरकतों की 'नोटिस' कभी नही लेते, बल्कि सामने पड़ने पर उनकी बुरी तरह खिंचाई कर देते हैं, जिससे वे और पिनकें।

ऐसे ही शागिर्दों, छोटे भाइयों तथा खुदाई फ़ौजदारों ने अश्क जी की वह मूर्ति गढ़ी है, जो लोगों के सामने उनका ग़लत रूप रखती है। और ऐसे लोगों के लिए अश्क जी का वह रूप सही भी है। सीधे के लिए सीधे और टेढ़े के लिए टेढ़े—अश्क जी के व्यक्तित्व के ये दोनों पहलू एक-दूसरे से रत्ती-भर भी घट-बढ़ कर नहीं।

महमूद अहमद 'हुनर'

●●●

फ़रिश्ता नहीं...

उपेन्द्रनाथ अश्क !

यह नाम पहली बार मैंने उर्दू के किसी रिसाले में पढ़ा था और इस नाम के लेखक की कहानी जो पढ़ी थी, वह मुझे बहुत अच्छी लगी थी। उन दिनों उर्दू में मुझे प्रेमचन्द और सुदर्शन की कहानियाँ भाती थीं और उपेन्द्रनाथ अश्क की कहानी में भी ख़ूब मज़ा आया था। शायद यह सन् '३२ या '३३ की बात है। उस वक़्त समझ बहुत नहीं थी। बस वो कहानियाँ भाती थीं जो क़िस्से की तरह रोचक हों। फिर उर्दू में उपेन्द्रनाथ अश्क का नाम देख कर झट उनकी कहानी पढ़ डालता था। जब हिन्दी सीख गया तो उपेन्द्रनाथ अश्क की एक कहानो 'सरस्वती' में पढ़ी। उन दिनों 'सरस्वती' बड़ी सजधज से निकलती थी। लेखक का चित्र भी छपा था और परिचय भी। यह कहानी सन् '३४ या '३५ में छपी थी, पर मैंने इसे बहुत बाद में, शायद सन् '३९ में पढ़ा था। लेखक का परिचय विशेष दिलचस्पी से पढ़ा और यह पढ़ कर कि यह उर्दू कहानीकार की हिन्दी में लिखी कहानी है, मेरी दिलचस्पी उपेन्द्रनाथ अश्क के नाम के साथ ख़त्म हो गयी। मैंने सोचा कि मण्टो, कृष्णचन्द्र, राजेन्द्रसिंह बेदी और इस्मत चग़ताई वग़ैरा की तरह मुझे उपेन्द्रनाथ अश्क से पत्र-व्यवहार का मौक़ा ही न मिल सकेगा। ये हज़रत जब ख़ुद ही हिन्दी में लिखते हैं तो इनसे इनकी कहानियों के हिन्दी अनुवाद की इजाज़त माँगने का सवाल ही पैदा नही होता। 'हंस' में कई उर्दू चीज़ो के अनुवाद मैं छपवा चुका था और महज़ अनुवादक की हैसियत से अपना नाम छपा देख कर

मैं ख़ुश हो लेता था। लेकिन उपेन्द्रनाथ अश्क की कहानियाँ 'हंस' में भी छपने लगी थीं।

जहाँ तक शौक़ का मामला था, मुझे अनुवाद से कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन अब—और यह सन् '४० या '४१ की बात है—मैं यह काम पैसों के लिए करने लगा था। मुझे अब भी अपनी ज़िन्दगी का वह दिन याद कर के ख़ुशी नहीं होती, जब 'माया' के संस्थापक स्वर्गीय क्षितीन्द्र मोहन मित्र ने एक उर्दू कहानी का अनुवाद छाप कर पहली बार पारिश्रमिक के रूप में मुझे पैसे दिये और साथ ही और कहानियों की माँग की थी। क्योंकि उस दिन लेखक की हैसियत से मेरी मौत हो गयी थी और आज मैं महज़ एक अनुवादक हूँ। बात यह है कि अच्छी कहानियाँ पढ़ने के बाद मुझे उर्दू के कुछ साप्ताहिकों और मासिक पत्रिकाओं में छपी अपनी कहानियाँ बड़ी घटिया लगने लगीं और बिना किसी आर्थिक लाभ के कहानियाँ छपवाने के लिए सम्पादकों को ख़ुशामद-भरे ख़त लिखना बड़ी छोटी बात मालूम होने लगी। इसीलिए मैंने अपनी कहानियाँ और ग़ज़लें जला दीं। आज मुझे उन कहानियों और ग़ज़लों को जला देने का बिलकुल अफ़सोस नहीं होता। कहानियों की तरह शायरी के सिलसिले में भी यह बात मेरे दिमाग़ में घर कर गयी कि अगर 'जोश' और 'जिगर' नहीं बन सकते तो शायरी में झख मारने से फ़ायदा ? लेकिन अनुवाद की ओर झुकाव का सब से बड़ा कारण आर्थिक था। इण्डियन प्रेस से निकलने वाले सरकारी मासिक 'हल' के सम्पादन-विभाग में मुझे उस समय सिर्फ़ ३० रुपये मिलते थे, जबकि 'माया' और 'मनोहर कहानियाँ' से मुझे पचास से पचपन रुपये तक प्रति मास मिल जाते थे। फिर 'सरस्वती' और साप्ताहिक 'देशदूत' (अस्तंगत) से ढेरों मौलिक कहानियाँ अस्वीकृत हो कर लौटते देख कर भी मेरा उत्साह बढ़ा, क्योंकि मेरी अनूदित कहानियाँ दूसरी पत्रिकाओं वाले भी शौक़ से छाप देते थे और कुछ और कहानियाँ माँगते थे।

लेकिन तभी माया सीरीज़ का प्रकाशन आरम्भ हुआ और स्व० क्षितीन्द्र मोहन जी ने मुझसे 'उर्दू की श्रेष्ठ कहानियाँ' के नाम से एक संकलन छापने की बात की और तब मुझे उपेन्द्रनाथ अश्क को भी ख़त लिखना पड़ा। उनकी कहानी के बिना उर्दू की प्रतिनिधि कहानियों का कोई संकलन पूर्ण नहीं कहला सकता था। वह ज़माना उर्दू कहानी के शबाब का ज़माना था। कृष्णचन्द्र, राजेन्द्रसिंह बेदी, इस्मत चग़ताई और मण्टो उर्दू कहानी के 'चार बड़े' माने जाते थे। लेकिन उनके बाद जिन लेखकों का नाम लिया जाता, उनमें उपेन्द्रनाथ अश्क का नाम सब से पहले आता था। आज उपेन्द्रनाथ अश्क हिन्दी के लेखक माने जाते हैं, लेकिन उर्दू कहानी-साहित्य में उनका अब भी वही स्थान है, जो पहले था। उर्दू

के एक बड़े आलोचक सैयद विक़ार अज़ीम तो उन्हें कृष्णचन्द्र वग़ैरा से भी पहले दर्जा देते हैं। प्रेमचन्द की तरह शायद अश्क के सम्बन्ध में भी यह विवाद चलता रहेगा कि वो उर्दू के लेखक है या हिन्दी के। हिन्दी की तरह उर्दू अदब की तारीख भी अश्क के ज़िक्र के बग़ैर अधूरी रहेगी।

फिर एक दिन अचानक इण्डियन प्रेस में उपेन्द्रनाथ अश्क के दर्शन हो गये। वो पण्डित देवीदत्त शुक्ल और ठाकुर श्रीनाथसिंह वग़ैरा से मिलने आये थे। मैं भी मिला। बड़ी सरसरी-सी मुलाक़ात थी। मैंने शुक्रिया अदा किया कि उन्होंने मेरे संकलन में अपनी कहानी सम्मिलित करने की इजाज़त दे दी थी। अब मुझे अश्क साहब की कहानियों से फिर दिलचस्पी हो गयी थी। मैं फिर उनकी हर कहानी पढ़ने लगा, वह हिन्दी में मिलती या उर्दू में—उनसे मिल जो चुका था!

—फिर सुना कि अश्क साहब रेडियो में चले गये।

—फिर पढ़ा कि वो रेडियो को छोड़ फ़िल्म में चले गये।

—फिर मालूम हुआ उन्हें टी० बी० जैसा मनहूस रोग लग गया।

उधर मैं भी मारा-मारा फिरने लगा। सन् '४६ में उर्दू 'हरिजन सेवक' निकालने के सिलसिले में मैं अहमदाबाद चला गया। वो बड़े बुरे दिन थे। भारत की आज़ादी के दिन जितने नज़दीक आ रहे थे, उतनी ही प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ ज़ोर पकड़ती जा रही थीं। मुस्लिम लीग का फैलाया हुआ ज़हर अपना काम कर चुका था और हिन्दू साम्प्रदायिकता भी नंगा नाच, नाच रही थी। मैं ७ महीने अहमदाबाद में रहा और इस बीच तीन बार साम्प्रदायिक दंगे हुए। इन दंगों के दिनों में मुझे 'नव जीवन कार्यालय' में क़ैद होकर रह जाना पड़ता था। उन्हीं दिनों मुझे अश्क साहब का एक नाटक पढ़ना पड़ा। जी हाँ, पढ़ना पड़ा, इसलिए कि नाटको में मुझे ज़रा भी दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन उस वक़्त मेरी हालत उस रेल-यात्री की-सी थी, जो रेल में कोई समाचार-पत्र पढ़ने लगे और वक़्त काटने के लिए विज्ञापन और सरकारी सम्मन तक पढ़ डाले। 'अदबे-लतीफ़' (लाहौर) के मोटे-से विशेषांक की सारी कहानियाँ पढ़ चुका था, सारे लेख पढ़ लिये थे, कुछ कहानियाँ दोबारा पढ़ीं थीं, कुछ के अनुवाद कर लिये थे। आख़िर मजबूर होकर नाटक पढ़ना शुरू किया और शायद अश्क साहब का 'परवाज़' (हिन्दी में 'उड़ान') वह पहला नाटक था, जिसे शुरू करने के बाद मैंने कहानी से ज्यादा दिलचस्पी के साथ पढ़ा, बार-बार पढ़ा और जिसके बाद मैं नाटक भी पढ़ने लगा।

फिर सन् '४८ में अश्क साहब इलाहाबाद आ गये। मैं अहमदाबाद से गांधी जी के पास नोआखाली चला गया और फिर जब गांधी जी बिहार से दिल्ली गये

तो मुझे भी पटना छोड़ गये। उनके स्वर्गवास के बाद मैं फिर इलाहाबाद में आ जमा था। दोस्तों को यह ख़बर सुनायी कि उपेन्द्रनाथ अश्क इलाहाबाद आये हैं तो वो उर्दू के इस मशहूर अफ़साना निगार को देखने के लिए बेचैन हो गये। अश्क साहब से दूसरी मुलाक़ात श्री श्रीपत राय के बँगले पर हुई। मैं उन दिनों पण्डित सुन्दरलाल के 'नया हिन्द' (मासिक) में काम करता था और अपनी एक कहानी पत्रिका 'फ़साना' (उर्दू) भी निकाल रहा था। उसमें एक स्थायी स्तम्भ था—'मैं और मेरे अफ़साने'—मैंने अश्क साहब से उसके लिए लेख की फ़रमायश की और साफ़-साफ़ यह कह देने पर भी कि हम कोई 'मुआवज़ा' न दे सकेंगे, अश्क साहब ने लेख लिखने का वादा कर लिया! मेरे साथ मेरे दोनों दोस्त भी अश्क साहब के 'इख़लाक़' के बड़े क़ायल हो गये। एक चीज़ खली कि अश्क साहब ने चाय को पूछा तक नहीं। लेकिन सिविल लाइन्ज़ के एक रेस्तराँ में चाय पीते हुए हमें ख़याल आया कि वो बेचारे तो ख़ुद दूसरे के मेहमान थे।

फिर प्रगतिशील लेखक संघ की ओर से अश्क साहब का स्वागत हुआ।

प्रगतिशील लेखक संघ को हिन्दी लेखक तो बहुत पहले से चला रहे थे, लेकिन उर्दू शाख़ मेरी और देवेन्द्र इस्सर की कोशिशों से स्थापित हुई। उन दिनों प्रगतिशील लेखकों की नीति में इतनी संकीर्णता न आयी थी कि सिर्फ़ पार्टी-मेम्बर ही उसके सदस्य रह सकें, इसलिए उर्दू-हिन्दी लेखकों की बड़ी जोरदार मीटिंगें होती थीं। अश्क साहब के स्वागत में भी काफ़ी बड़ी मीटिंग हुई। हिन्दी वालों की संख्या अधिक थी और वहाँ अश्क साहब को इतनी बार अश्क जी कहा गया कि फिर मैं भी उन्हें अश्क जी कहने लगा।

काफ़ी दिनों तक अश्क जी के इलाहाबाद आने की धूम रही।

लेकिन फिर लोग अश्क जी के तकिया-कलाम 'मैं तो बीमार आदमी हूँ' से ऊबने-से लगे। मुझसे कई लोगों ने उनका ज़िक्र किया तो शिकायत की कि अश्क जी तो अपनी बीमारी का इतना प्रचार करते हैं कि हम बोर हो जाते हैं।

और फिर तो जैसे अश्क जी के ख़िलाफ़ एक ज़ोरदार हवा चल गयी। हर तरफ़ ऐसी ही बातें होने लगीं :

अश्क अपनी बीमारी का प्रोपेगण्डा करते हैं।

अश्क ने सरकार से बीमारी के नाम पर रुपये ऐंठ लिये।

अश्क ने सरकार को बेवकूफ़ बना कर कर्ज़ा ले लिया है।

लीजिए अब तो 'बीमार अश्क' ने प्रकाशन का काम भी शुरू कर दिया है।

और ये बातें करने वालों में हर तरह के लोग थे ; समानता सिर्फ़ एक थी

कि सब साहित्यिक थे। और मैं सोचता था कि ये दोस्त जो कुछ कहते हैं, इसमें अश्क जी की बुराई कहाँ से ज़ाहिर होती है?

अश्क जी पंचगनी के सेनेटोरियम में डेढ़ बरस रह कर इलाहाबाद आये थे। यहाँ भी वो बाक़ायदा ए-पी लेते थे। कोई दूसरा होता तो टी० बी० के नाम ही से मर गया होता। फिर क्यों अश्क जी को यह कहने का हक़ भी नहीं दिया जाता कि मैं बीमार हूँ।

अश्क जी को एक साहित्यकार के नाते बीमार देख कर सरकार ने यदि कुछ आर्थिक सहायता दे दी, तो यह कौन-सी बुरी बात हो गयी? सरकार तो उन साहित्यिकों को भी पेन्शन देती है, जो बिलकुल मजबूर और लाचार नहीं हैं।

अश्क जी ने अगर प्रकाशन के लिए सरकार से क़र्ज़ा ले लिया तो इसमें ख़ुश होना चाहिए कि अच्छी किताबें छापने वाला एक और प्रकाशक बढ़ गया। सैकड़ों लोग सरकार से उद्योग चलाने के नाम पर कर्ज़ा लेते हैं और फूँक-ताप कर बरबाद कर देते हैं। एक साहित्यिक यदि सरकार से ऋण ले कर उसका सदुपयोग करता है तो यह बुरा कैसे हुआ?

और मुझे हँसी आयी जब अश्क जी के प्रकाशन का काम शुरू करने को भी कुछ दोस्तों ने उनकी बुराई बताया। क्या यह उचित होता कि वो प्रकाशन के नाम पर ऋण ले कर कपड़े की दुकान खोल लेते?

मुझे ये बातें इसलिए भी बुरी लगती थीं कि मुझे अश्क जी को कुछ क़रीब से देखने का मौक़ा मिल गया था—इतने क़रीब से कि याद नहीं आता, कब अश्क जी और मेरे दरमियान तकल्लुफ का पर्दा हट गया और अश्क जी मेरे लिए सिर्फ़ अश्क हो कर रह गये। हम एक-दूसरे को 'आप' की जगह 'तुम' कहने लगे। उम्र में मुझसे बड़े होने पर भी अश्क जी बराबर के दोस्त बन गये। और यह होना ही, क्योंकि अश्क बहुत जल्द बेतकल्लुफ हो जाते हैं। उनमें ग़लत क़िस्म का अभिमान है, न गुरूर। आप उनसे मिलने जाइए। अश्क अगर कुछ लिखने-लिखाने में लगे होंगे तो आप से साफ़ कह देंगे कि भई मैं ज़रा बिज़ी हूँ। लेकिन उन्हें फ़ुरसत होगी तो खूब गप्प लड़ायेंगे। गम्भीर विषय छिड़ जाय तो अश्क बड़े काम की बातें बतायेंगे। अपने अनुभव बयान करेंगे, आप की कोई समस्या होगी तो उसे पूरी हमदर्दी से सुलझाने की तरकीब बतायेंगे। लेकिन अगर अश्क हल्के मूड में होंगे तो फिर बात-बात पर उनके क़हक़हे सुनिए और खुद भी हँसने पर मजबूर हो जाइए। तब आप उठना चाहेंगे, पर अश्क न उठने देंगे।

फिर अश्क के 'नीलाभ प्रकाशन' का काम बढ़ने लगा। बढ़ना चाहिए था। अश्क ने बड़े सलीके से किताबें छापनी शुरू कीं। गेट-अप की दृष्टि से 'नीलाभ

प्रकाशन' की किताबें दूसरे प्रकाशकों के लिए अनुकरणीय बन गयीं। लेकिन पता नहीं क्यो, कुछ दोस्तों को यह भी अच्छा न लगा। अब अश्क के ख़िलाफ़ एक नयी अफ़वाह उड़ायी गयी कि वो लोगों के पैसे नहीं देते। और यह अफ़वाह कुछ ऐसे ज़ोरों से उड़ी कि अश्क ने जब एक उर्दू लेखक की कुछ कहानियों के अनुवाद का काम दिया तो मुझे भी डर लगा कि इसके पैसे पता नहीं कब मिलेंगे। लेकिन मेरे लिए अश्क सिर्फ़ प्रकाशक ही नहीं थे, दोस्त भी थे। उन्होंने एक बार मेरे कहने पर मेरी पत्रिका के लिए लेख लिख दिया था। और पैसे नहीं माँगे थे। मैंने काम समय पर कर दिया और मुझे तुरन्त पैसे मिल गये। मैंने सोचा कि यह पहला अवसर है। अपने को खरा साबित करने के लिए बहुत-से खोटे लोग पहली बार खरापन दिखाते हैं। लेकिन इसको क्या कीजिएगा कि लेन-देन—बल्कि सिर्फ़ देन ही कहना चाहिए— के मामले में मुझे कभी अश्क ने शिकायत का मौक़ा नहीं दिया। यही नहीं, एक बार, और यह तब की बात है, जब अश्क का कारबार बहुत बढ़ा नहीं था, मुझे अपनी भतीजी की शादी के मौक़े पर रुपये की ज़रूरत पड़ गयी। मुझे अपनी मजदूरी माँगते हुए भी संकोच होता है, फिर यह तो बिना मज़दूरी के पैसे माँगने का सवाल था। मैं अश्क से ज़बानी न कह सका। उन्हें ख़त लिखा और डाक ही से जवाब माँगा। मैंने लिखा था कि मुझे इतनी रकम की ज़रूरत है। मैं बाद में इसके बदले में काम कर दूँगा। दूसरे ही दिन अश्क का कार्ड मिला कि शाम को आ जाओ और रुपये ले लो। अश्क चाहते तो बड़ी आसानी से टाल सकते थे। डाक से भेजा हुआ पत्र था। वे कह सकते थे कि मेरा पत्र मिला ही नहीं।

आप यह तो नही सोचने लगे कि मैं अश्क का प्रोपेगण्डा करने लगा हूँ। जी नहीं, मै तो सिर्फ़ यह बताना चाहता हूँ कि मुझ पर अश्क के खिलाफ़ प्रोपेगण्डे का असर क्यों नहीं पड़ा।

यह सन '५६ की बात है। मै साल भर दिल्ली और कश्मीर रह कर इलाहाबाद आया तो अश्क ने कहा कि वो 'संकेत के ढंग का एक और संकलन निकालना चाहते हैं, जिसमें पिछले बीस वर्ष की उर्दू की श्रेष्ठ कला-कृतियाँ संकलित करेंगे और यदि मेरा इलाहाबाद में जम कर रहने का इरादा हो तो मैं उसमें सहयोग दूँ। मैंने हामी भर ली। मेरे दो नौजवान दोस्तों ने यह सुना तो मुझे अश्क के जाल से बचाने के लिए एक लम्बा लेक्चर पिला डाला। मैंने लेक्चर पी लिया और उनको जवाब दिया कि भाई, यह तो बहुत लम्बा काम है। अश्क कोई गड़बड़ (उनके शब्दों में—चार सौ बीसी) करेंगे तो काम छोड़ दूँगा। मैंने उनकी यह सलाह भी स्वीकार

नहीं की कि मैं अश्क से बाक़ायदा लिखा-पढ़ी कर लूँ कि वो उस संकलन पर सम्पादक की हैसियत से मेरा नाम भी दे। क्योंकि सम्पादन तो अश्क ही को करना था, मुझे तो महज़ अनुवाद करना था। उन दोस्तों को यह पता नहीं था कि अनुवादक की हैसियत से अपना नाम छपवाने का मोह, मुद्दत हुई, मैं त्याग चुका हूँ। मेरी अस्सी प्रतिशत अनूदित कहानियों के साथ मेरा नाम नहीं छपता। दर्जनों पुस्तकें ऐसी है जिन पर नाम दूसरों का छपा है और काम जिनमें सिर्फ़ मेरा है। हिन्दी में 'ग़ालिब' का दीवान सब से पहले लाने का मुझे गर्व है। पहला संस्करण मेरे ही नाम से छपा भी। पर दूसरा संस्करण छापते समय शायद मेरे मित्र प्रकाशक को यह ख़याल आ गया कि उसे हिन्दी में प्रकाशित करने का श्रेय तो उसको है। मुझे वह मेरी मज़दूरी दे चुका था, इसलिए उसने पिछली भूल का सुधार कर लिया। अब सम्पादक की हैसियत से पहला नाम उस प्रकाशक मित्र का है, नीचे मेरा। मैंने अपने मित्र से सिर्फ़ इतना ही कहा कि यार, तुम्हें अब तो कुछ उर्दू पढ़ ही लेनी चाहिए कि 'ग़ालिब' को 'गालिब' तो न कहो।

अफ़सोस कि वो दोस्त, जिन्होंने अश्क के 'जाल' से मुझे बचाना चाहा था, बाद में स्वयं अश्क के दोस्त बने नज़र आये और मैं उन्हें बता न सका कि अश्क के जाल में तो मैं बुरी तरह फँस गया हूँ। यह दूसरी बात है कि वह जाल धोखे या फ़रेब का जाल नहीं है। यह तो ऐसा जाल है, जिसमें फँसे रहने में ख़ुशी और जिससे रिहा होने के ख़याल ही से तकलीफ़ होती है।

आज अश्क अपेक्षाकृत ख़ुशहाली की ज़िन्दगी गुज़ार रहे हैं। 'नीलाभ प्रकाशन' का काम दिनों-दिन तरक़्क़ी पर है। आज अश्क के ख़िलाफ़ बातें करने का फ़ैशन भी ख़त्म हो चुका है। यह तो नही कहा जा सकता कि उनके प्रति अब भी बहुत से दोस्तों की ईर्ष्या ख़त्म हो गयी होगी, पर मेरे सामने अब ऐसी बातें नहीं होती। सम्भव है इसका यह भी कारण हो कि मुझे ऐसी बातें सुनने का समय नही मिलता या यह हो कि मुझ पर अश्क के ख़िलाफ़ प्रोपेगण्डे का कभी असर नहीं हुआ और मेरे दोस्त मुझसे निराश हो चुके हों। लेकिन सच्ची बात यह है कि आज अश्क जो कुछ हैं, वह उनकी और उनकी, सच्चे मानों में, जीवन संगिनी श्रीमती कौशल्या देवी के अथक परिश्रम और अनवरत संघर्ष का फल है। अश्क ने जिस दृढ़ता से कठिन परिस्थितियों का सामना किया, कामियाबी की मंज़िल की तरफ़ बढ़ते हुए जिन दुर्गम रास्तों को पार किया, लेखन-कार्य हो या प्रकाशन-कार्य, अश्क ने सोलह-सोलह और बीस-बीस घण्टे जिस तरह लगातार मेहनत की, उसे देखते हुए उनकी सफलता न कोई चमत्कार है, न बड़े आश्चर्य की बात। क्योंकि हम-आप भी इतनी मेहनत

करें, अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ऐसी ही दृढ़ता से संघर्ष करें तो हम-आप भी सफल हो सकते हैं। मगर मुश्किल यह है कि हम इमारत की बुलन्दी को देखते हैं, नींव की उन ईंटों पर हमारी नजर नही जाती, जिनके सहारे इमारत खड़ी होती है। हमने किसी को तरक़्क़ी करते देख कर जलना सीखा है, उसकी तरक़्क़ी का राज़ जानने की कोशिश करना नहीं सीखा। अश्क को जब सरकार ने ऋण दिया था तो लोगों को सरकार की बेवक़ूफ़ी पर ग़ुस्सा आया था, पर यह जानने की किसी ने कोशिश नही की कि अश्क ने किस तरह सरकारी ऋण ब्याज सहित समय पर चुकता कर दिया।

मैंने अश्क की इलाहाबाद की ज़िन्दगी, उनके परिश्रम और उनके संघर्ष की चर्चा की है। लेकिन इससे पहले की ज़िन्दगी का हाल तो अश्क की ज़बानी सुन कर लुत्फ़ आता है। अश्क की पूरी ज़िन्दगी एक संघर्ष का नाम है। अश्क भी प्रकाशकों के शोषण का शिकार बने है; अश्क ने भी थोड़े दाम के बदले बहुत काम किया है; अश्क ने कष्ट सहे है; तकलीफ़ें उठायी हैं, लेकिन उनकी कामियाबी का राज़ यह है कि उन्होंने ज़िन्दगी के हर तजरुबे से शिक्षा प्राप्त की। एक ठोकर खायी तो दूसरी से बचने की कोशिश करते रहे। अश्क ने कंजूस कहलाना पसन्द किया, लेकिन पैसे बचाने की आदत नहीं छोड़ी। बम्बई में उनके साथी फ़र्स्ट क्लास में सफ़र करते रहे, पर अश्क इसे फ़ज़ूलख़र्ची समझते रहे। और उनकी यही दूर-अन्देशी थी कि जब वो यक्ष्मा से पीड़ित हुए तो उनकी बचायी हुई रक़म ही उनकी सब से बड़ी सहायक सिद्ध हुई। अश्क कहते हैं कि उन्हें उनकी पत्नी ने मौत के मुँह से निकाला। लेकिन आज की व्यवस्था में कोई सत्यवान टी० बी० का शिकार हो जाये तो सावित्री का सारा तपोबल उस रोग के भयानक कीटाणुओं को नष्ट नहीं कर सकता। पैसा ही सावित्री के सुहाग की रक्षा कर सकता है।

और यहाँ मुझे अश्क का प्यारा दोस्त, उर्दू का महान कथाकार मण्टो याद आता है। उसकी बम्बई की शानदार ज़िन्दगी, उसका लाहौर का दयनीय जीवन और उसकी मौत याद आती है। मण्टो ने बम्बई में फ़िल्मों से हज़ारों रुपये कमाये और उन्हें उड़ाता रहा। लेकिन अपनी इस शाहख़र्ची या फ़ज़ूलख़र्ची के कारण उसने अपनी ज़िन्दगी के आख़िरी दिनों में जो तकलीफ़ें उठायीं, उनकी कल्पना से ही दिल लरज़ उठता है। मण्टो ने ख़ुद लिखा है कि उसे रोज़ाना एक कहानी लिखनी पड़ती थी। मण्टो के ऐसे कई संग्रह छपे हैं जो आठ-आठ, दस-दस दिन में तैयार हो गये। वह प्रकाशकों के दफ़्तर में जाता था और काग़ज़-क़लम ले कर कहानी लिखने बैठ जाता था। एक कहानी लिखता था और कभी पच्चीस, कभी तीस रुपये ले कर शराब

और घर का ख़र्च पूरा करता था। आख़िरी उम्र में मण्टो ने बहुत लिखा। लेकिन आप सोचिए कि मण्टो को यह मोहताजी न होती, उसे कल (बल्कि आज) की फ़िक्र न होती तो भी क्या मण्टो को इसी तरह लिखना पड़ता? क्या मण्टो के पास यही प्रकाशक या सम्पादक यदि कहानी लेने जाते तो मण्टो की एक कहानी की क़ीमत तीस रुपये ही ठहरती? मण्टो महीने में तीस कहानियाँ लिखने की जगह चार कहानियाँ लिखता तो उसने 'सुगंधी' और 'टोबा टेक सिह' जैसी कितनी श्रेष्ठ कृतियों का सृजन किया होता?

और इसी के साथ-साथ मुझे यह भी ख़याल आता है कि इतनी तंगदस्ती और बदहाली में भी मण्टो की फ़ज़ूलख़र्ची की आदत नहीं गयी तो अश्क की कंजूसी (यहाँ इस शब्द को सच्चे अर्थ में लेता हूँ) की आदत कैसे चली गयी? कंजूस आदमी तो पैसे आने के बाद और ज़्यादा कंजूस हो जाता है। अश्क तो उस वक़्त भी अच्छा पहनते-खाते थे, बल्कि खिलाते भी थे, जब इलाहाबाद आये थे, जब अपने वर्तमान बॅंगले के सिर्फ़ दो कमरों में रहते थे, उस वक़्त भी, यशपाल आयें या राजेन्द्रसिंह बेदी, कृष्णा सोबती आयें या पृथ्वीराज कपूर या कोई और हिन्दी या उर्दू का लेखक, अश्क के यहाँ मीटिंग रखी जाती और हर मीटिग के पहले या बाद शानदार चाय ज़रूर मिलती थी। किसी भी मौक़े पर, कभी भी तो अश्क के रुख़ से नही लगा कि उन्हें यह ख़र्च खला हो। मेरा ख़याल है कि बम्बई की फ़िल्मी ज़िन्दगी में, जहाँ रुपया पानी की तरह बहाया जाता है, अश्क का संयत जीवन बिताना मण्टो-जैसे दोस्तों को खला होगा और अश्क को 'कंजूस' की पदवी दे दी गयी होगी।

अश्क ज़िन्दगी में सलीक़े, सफ़ाई और नफ़ासत के क़ायल हैं। यही चीज़ें वो अपनी रचनाओं में भी देखना चाहते हैं। अश्क अपनी एक कहानी पर इतनी मेहनत करते हैं, इतना वक़्त ख़र्च करते हैं कि उतने ही समय में दो कहानियाँ और लिख लें। अपनी रचना की नोक-पलक दुरुस्त करने में कितना ही समय लग जाय, पर जब तक वो स्वयं सन्तुष्ट न हो जायें, उसे छपने को न देंगे। और छपने के बाद भी यदि कोई कमी खटकी तो उसे संग्रह में देते समय ज़रूर सुधार लेगे। पत्रिकाओं में छपी उनकी कहानी पढ़िए और उनके संग्रह में वही कहानी पढ़िए, आपको कुछ-न-कुछ परिवर्तन ज़रूर मिलेगा। यही नहीं, उसी संग्रह का दूसरा संस्करण छपते समय भी कुछ संशोधन हो सकता है। अश्क का उपन्यास 'गर्म राख' बहुत लोकप्रिय हुआ। पहला संस्करण समाप्त होने लगा तो दूसरा संस्करण छापने की आवश्यकता पड़ी। आप मानें या न मानें, लेकिन यह बिलकुल सच है कि अश्क ने उसको रिवाइज़ करने में पूरे चार महीने लगा दिये और इन चार महीनों में उन्होंने दूसरा कोई काम नही किया।

गर्म राख' के दोनों संस्करण मिला कर पढ़िए। दूसरा संस्करण पहले की अपेक्षा कहीं अधिक निखरा और सुथरा मालूम होगा। चार महीने में दूसरे लेखक एक नया उपन्यास लिख डालेंगे। अश्क भी इतने समय में उतना वृहत् न सही, लघु-उपन्यास तो लिख ही सकते थे।

अश्क को चीज़ें सम्हाल कर रखने का बड़ा शौक़ है। दूसरों के पत्र हों या भेंट की हुई पुस्तकें, अश्क उन्हें बड़ी ही सावधानी से रखते है। अश्क की लायब्रेरी देख कर मुझे भी ईर्ष्या होती है। पुस्तकों और पत्रिकाओं के मामले में अश्क सचमुच उस कथा-कहानियों के रवायती कंजूस से भी कही आगे है, जिसके पास दस-बारह वर्षो का पुराना गुड़ था, लेकिन जब किसी ने थोड़ा-सा गुड़ माँगा तो यह कह कर उसने साफ़ इनकार कर दिया था कि भाई अगर यों माँगने पर लोगों को गुड़ देता रहता तब तो यह कब का ख़त्म हो चुका होता। कोई एक उर्दू पत्रिका अश्क के पास देख कर मैंने दो रोज़ के लिए माँगी तो अश्क ने ज़रा बेरुख़ी से साफ़ इनकार कर दिया था। मुझे बुरा लगा था, पर पुराने गुड़ की बात याद कर के मैंने उन्हें माफ़ कर दिया। सोचा कि अगर अश्क भी पुस्तकें और पत्रिकाएँ बाँटते होते तो इतना बड़ा संग्रह कहाँ से होता। और मैं सोचता हूँ कि मैंने भी अपने दोस्तों के साथ ज़रा-सी बेरुख़ी बरती होती तो आज मेरी भी एक छोटी-सी लायब्रेरी होती। मुझे बड़े प्यार से मण्टो ने अपना पहला कहानी-संग्रह भेजा था, मुझे मजाज़ ने बड़ी मुहब्बत से अपना कविता-संग्रह दिया था। दोनों नही रहे। काश मैंने उनकी यादगार सम्हाल कर रखी होती! अश्क के पास अपनी हर छपी हुई लाइन के कटिंग है और मेरे पास मेरी अपनी अनूदित या सम्पादित पुस्तक की कोई प्रति नहीं, मैंने जिन पत्रिकाओं का सम्पादन किया, उनका कोई अंक नही। और मैं एक दिन अश्क के यहाँ यह देख कर खुशी से उछल पड़ा कि मेरी अपनी 'फ़साना' नामक उर्दू पत्रिका के वो सारे अंक मौजूद हैं, जो मैंने उनको दिये थे और मुझे सन्तोष हो गया कि जिस पत्रिका का मेरे पास एक अंक भी नही, उसके सभी अंक अश्क के पास तो सुरक्षित है। और तब मैं किताबें सम्हाल कर रखने लगा। अब कोई दोस्त कोई किताब माँगता है तो उसे गुड़ वाले क़िस्से के साथ-साथ अश्क का क़िस्सा भी सुना देता हूँ।

अश्क बड़े अच्छे दोस्त हैं, लेकिन बहुत बुरे दुश्मन! कोई भलाई करे तो उसे वो ज़िन्दगी भर याद रखेंगे, लेकिन अगर किसी ने बुराई की तो उसको भी कभी नहीं भूलेंगे। उन्हें लड़ाई पसन्द नहीं, इसलिए मामूली-सी छेड़-छाड़ पर उत्तेजित नहीं होंगे। अश्क से कहा जाय कि अमुक पत्र या पत्रिका में तुम्हारे ख़िलाफ़ बड़ा ज़हर

उगला गया है तो सुन कर हँस पड़ेंगे। उन्हें उकसाया जाय कि इसका जवाब दो तो कहेंगे—"छोड़ो यार, कौन दिमाग़ खराब करे। मैं इसे जवाब देने की बजाय एक कहानी या कविता क्यों न लिख डालूँ। उसके लिखने से अपना बिगड़ता क्या है।" साफ़ मालूम हो जायगा कि अश्क प्रतिद्वन्द्वी को हीन समझ कर उसके ओछेपन को नज़रन्दाज़ कर रहे हैं। लेकिन अगर किसी महत्वपूर्ण पत्रिका, ज़िम्मेदार सम्पादक या लेखक ने कुछ लिखा और अश्क को बुरा लगा तो वो उसका जवाब ज़रूर देंगे और बहुत सख्त जवाब देंगे। 'मण्टो : मेरा दुश्मन' के सिलसिले में ऐसा ही हुआ था। अश्क ने लड़ाई के दाँव-पेच अपने पिता से सीखे हैं। उनके पिता का कथन था—'अव्वल मारे सो गुरु का चेला।' इसीलिए अश्क लड़ाई होने पर दूसरे को पहला वार करने का मौका नहीं देते। अश्क मण्टो को बेहद प्यार करते थे। उसके मरने की खबर सुन कर वो बुरी तरह रोये थे। लेकिन मण्टो की ज़िन्दगी में जब तक मण्टो और अश्क का साथ रहा, उनमें चोटें चलती रहीं, अश्क ने कभी भी रिआयत नहीं की।

अश्क को अपनी कोई रचना बहुत अच्छी बन जाने पर बेहद खुशी होती है। लेकिन किसी दूसरे की अच्छी रचना पढ़ कर भी वो बहुत खुश होते हैं। खूब तारीफ़ें करते है, दूसरों से उसको पढ़ने की सिफ़ारिश करते हैं। यह ज़रूरी नहीं कि लेखक अश्क का परिचित या मित्र ही हो। अभी कुछ महीनों पहले अश्क ने उर्दू का एक लघु-उपन्यास पढ़ा। उसकी लेखिका जमीला हाशिमी हैं। कुछ ही दिनों से उन्होंने लिखना शुरू किया है। अश्क ने इससे पहले उनका नाम भी न सुना था। लेकिन उनका लघु-उपन्यास अश्क को पसन्द आया तो उसकी तारीफों के पुल बाँध दिये। अभी पिछले दिनों कृष्णचन्द्र इलाहाबाद आये थे। उनके सम्मान में साहित्यिकों की एक गोष्ठी हुई तो उर्दू कहानी की चर्चा छिड़ने पर अश्क वहाँ भी उक्त लघु-उपन्यास की प्रशंसा किये बिना न रह सके। अश्क किसी लेखक से नाराज़ होंगे, उससे उनकी कितनी ही गहरी लड़ाई हो चुकी होगी, व्यक्तिगत रूप से उसे सख्त नापसन्द करते होंगे, लेकिन यदि रचना अच्छी होगी तो उसकी खुले दिल से प्रशंसा करने में ज़रा भी कृपणता से काम न लेंगे।

अश्क इन्सान हैं, फ़रिश्ता नहीं। उनमें कमज़ोरियाँ भी हैं, जो हर इन्सान में होती हैं। कुछ लोगों को उनमें दोष-ही-दोष नज़र आते हैं, शायद वो गुणों को देख ही नही सकते। मैं इन्सान की खूबियों पर निगाह रखता हूँ, इसे आप मेरा दोष कह सकते हैं। मैं दूसरों की बुराई को नज़रन्दाज़ करने का क़ायल हूँ और अच्छाइयों को अपनाना चाहता हूँ। मैंने अश्क से कुछ सीखा है और बहुत कुछ सीखना चाहता हूँ।

मैंने अश्क के बारे में लिखा है कि वो अपनी रचनाओं पर कितनी मेहनत करते हैं। उसे बनाने-सँवारने में कितना वक़्त लगाते हैं। यह अश्क की बहुत बड़ी ख़ूबी है। मुझे उनकी इस ख़ूबी को अपनाना चाहिए, पर नहीं अपना सका। हो सकता है अपने इसी लेख को मैं दोबारा लिखता, इसे बनाने-सँवारने की कोशिश करता तो शायद यह किसी काम का बन जाता। लेकिन मैंने इसे उर्दू में लिखा और हिन्दी में अनुवाद कर दिया। क्या करूँ, मैं एक अनुवादक जो ठहरा!

अन्तर्दर्शन

पूछते हैं वो कि ग़ालिब कौन है?
कोई बतलाओ कि हम बतलाएँ क्या ?

—ग़ालिब

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

●●●

हल्के-गहरे रंग

साहित्यिक यात्रा के सिलसिले में इलाहाबाद गया तो पता चला कि पन्त जी डॉ० रामकुमार वर्मा और बच्चन के साथ नागपुर गये हैं और श्रीमती महादेवी वर्मा श्री इलाचन्द्र जोशी, दिनकर और गंगाप्रसाद पाण्डेय के साथ दक्षिण-पथ कीय ात्रा पर हैं। दशहरे की छुट्टियाँ थीं, जैसे मैं छुट्टियों में यात्रा पर था, वैसे ही और लोग भी गये थे। निराश न हो कर अपनी भूल मालूम हुई कि ऐसे समय क्यों घर से निकले। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के यहाँ ठहरा था, उन्होंने कहा कि चाहो तो अश्क जी से मुलाकात हो सकती है, क्योंकि वे यहीं हैं। मैं यह सुन कर प्रसन्नता से खिल उठा। अश्क जी से मिलने की साध बहुत दिनों से मन में थी। कुछ ही समय पहले 'नव युग' में उनकी लम्बी कविता 'चाँदनी रात और अजगर' मैं पढ़ चुका था। यक्ष्मा से युद्ध कर के भी ऐसी शक्ति-सम्पन्न कविता लिखने वाले लेखक में कितना बल होगा, उसका व्यक्तित्व कितना तीखापन लिये होगा, यह जानने की मेरी इच्छा और भी तीव्र हो गयी थी। दूसरे ही दिन मिश्र जी से पता ले कर मैं सवेरे आठ बजे अश्क जी के निवास-स्थान, ५ खुसरोबाग रोड, की ओर चल पड़ा।

पूछते-पूछते मैं वहाँ पहुँचा तो देखा कि नंग-धड़ंग, केवल एक अण्डरवेयर पहने, हाथ में खुरपी लिये कॉटेज के सामने, छोटी-सी बगिया में पौधे लगा रहे हैं। उनका छोटा चंचल-चपल लड़का——नीलाभ——पौधे ला-ला कर उन्हें दे रहा था और वे थाला बना कर उन्हें रखते जा रहे थे। मैं चकित-सा खड़ा रह गया तो वहीं धरती पर बैठे-बैठे उन्होंने मेरी ओर आँखें उठायीं। मथुरा में विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सव के

अवसर पर आयोजित कवि-सम्मेलन का सभापतित्व करने जब अश्क जी गये थे तो उनसे मेरा परिचय हुआ था। उस प्रसंग की याद दिलाने पर वे पहचान गये और उन्होंने स्वयं मेरे लिए वहीं एक कुर्सी खींच दी। मैं कुर्सी पर बैठ गया और वे अपनी बाग़बानी में लगे रहे। ऐसा लगता है कि अश्क जी जिस काम का कार्यक्रम बना लेते हैं, उसे पूरा कर के ही छोड़ते हैं। जब वे सब पौधे लगा चुके तो नल से हाथ धो कर दूसरी कुर्सी पर बैठ गये। उसी समय श्रीमती कौशल्या अश्क भी आ गयीं। अश्क जी ने मौसी को (अश्क जी अपनी खाना बनाने वाली बुढ़िया को मौसी कहते हैं।) चाय लाने के लिए कहा।

मौसी चाय ले कर आयी और हम लोग चाय पीने लगे। चाय पीने में कुछ देर हो गयी थी और धूप आने लगी, इसलिए हम लोग उनके ड्राइंग-रूम में लगे तख़्त और मसनद पर जा बैठे। कमरे में दो ऊँचे रैक किताबों से लदे थे और एक लिखने की मेज़ भी थी। आधा कमरा उनकी स्टडी और आधा ड्राइंग-रूम था। मैंने गेट पर लगे हुए बोर्ड को लक्ष्य कर मकान-मालिक की सनक का ज़िक्र किया (जिसने गेट के ऊपर लटके बोर्ड पर बन्द गेट का चित्र दे कर तीन भाषाओं में लिख रखा था, 'कृपा कर गेट अच्छी तरह बन्द कीजिए') कि उसका लाभ मकान-मालिक को हो न हो, पर बाहर से आने वालों को अवश्य है कि मकान ढूँढ़ने में उन्हें कठिनाई नहीं होती। तब मसनद के सहारे लेटे हुए उन्होंने अपने मकान-मालिक की सनक से जो बात शुरू की तो न जाने किस-किस की सनकों का ज़िक्र कर गये। उसी सिलसिले में अपने विवाह और उसके बाद के जीवन की कहानी निःसंकोच भाव से सुना गये और इस बीच में अपनी और अपनी पत्नी की सनकों का ज़िक्र करते हुए वैवाहिक जीवन की समस्याओं का ऐसा विवेचन किया कि मैं दंग रह गया। जीवन में वे इतने गहरे उतरते हैं कि किसी भी समस्या का कोई भी कोना उनकी दृष्टि से बच नहीं पाता। दूसरी बात यह है कि वे सब के सामने अपना हृदय खोल कर रख देते है। किसी प्रकार का दुराव या छिपाव उन्हें पसन्द नहीं। उनके इस स्वभाव के कारण कोई भी उनके निकट पहुँच कर अजनबी तथा अपरिचित अनुभव नहीं कर सकता।

उस दिन घरेलू जीवन पर ही बातचीत चलती रही। साहित्य-चर्चा के लिए दूसरे दिन का समय निश्चित हुआ॥

दूसरे दिन सवेरे मैं ठीक समय पर पहुँचा। अश्क जी अपनी बीमारी के बाद कहीं नौकरी नहीं करते थे। केन्द्रीय सरकार से छह प्रतिशत ब्याज पर ऋण ले कर उनकी पत्नी ने दो साल पहले १९४९ में पुस्तकों के प्रकाशन का प्रबन्ध किया था, पर

पुस्तकें प्रकाशित करना आसान है, उन्हें बेचना मुश्किल और अश्क जी चाहते थे कि सरकार के ऋण की किस्त, लगभग दो हज़ार रुपया वार्षिक, ब्याज समेत बाकायदा चुका दें। दो साल से वे चुका भी रहे थे। इसलिए घर का ख़र्च चलाने को उन्हें इधर-उधर काम करना पड़ता था। लिखते थे, प्रकाशन में अपनी पत्नी को सहायता देते थे, घर का ख़र्च चलाने को रेडियो आदि के लिए काम करते थे, एक मिनट उनका ख़ाली न रहता था। मैं जब पहुँचा तो अश्क जी अपनी किसी पुस्तक के विषय में टाइपिस्ट से बातचीत कर रहे थे। मैं, टाइपिस्ट को काम समझा कर उनके आने की प्रतीक्षा में, चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर में वे आ गये। चाय भी आ गयी। चाय पीते हुए उन्होंने बताया कि उनकी पत्नी ही उनका सारा काम सम्हालती हैं। प्रकाशन-व्यवस्था में उनका बड़ा हाथ है। छपाई से ले कर बिक्री तक में उन्हीं की योजनाएँ काम करती हैं। जब वे अपनी पत्नी की प्रशंसा कर रहे थे, तब मैं हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार सुदर्शन और यशपाल के विषय में सोच रहा था, जिनके निर्माण में उनकी पत्नियों ने पूरा हिस्सा बँटाया है। अश्क जी को तो श्रीमती कौशल्या ने मौत के मुँह से बचाया और अनथक सेवा और श्रम से उन्हें यक्ष्मा के चंगुल से छुड़ा लायीं।

"आप के उपनाम का आप की तबीयत के साथ ज़रा भी मेल नहीं," सहसा मैंने पूछा, "आपने यह उपनाम कैसे रख लिया ?"

"मेरे उपनाम की भी एक लम्बी कहानी है," अश्क जी बोले, "जब कभी लोग कहते हैं कि मेरे हँसमुख स्वभाव के साथ मेरे नाम का मेल नहीं है तो मैं गम्भीर हो जाता हूँ और मेरे मस्तिष्क में मेरे एक मित्र का चित्र आ जाता है, जिनका नाम कश्मीरी लाल था और उपनाम था—अश्क !"

"क्या वे आप के सहपाठी थे ?" मैंने पूछा।

"नहीं, वे मुझ से चार वर्ष बड़े थे।" अश्क जी बोले, "अपने कहानी-संग्रह 'काले साहब' में 'कश्मीरी लाल अश्क' नाम से मैंने एक दर्द-भरा संस्मरण लिखा है। वे हमारे मुहल्ले ही के थे। मेरे भाई उनका बड़ा आदर करते थे। वे उर्दू के अच्छे शायर थे। मैं स्वयं छठे दर्जे ही में पंजाबी बैत कहने लगा था। इसलिए उर्दू शायर के नाते मैं उनके प्रति श्रद्धा-भाव रखने लगा। आठवें दर्जे में मैं बुरी तरह बीमार हुआ तो दसूआ स्टेशन (जो पठान कोट लाइन पर है और जहाँ मेरे पिता जी नये-नये स्टेशन मास्टर हो कर गये थे) हवा-पानी बदलने गया। वहीं कश्मीरी लाल 'अश्क' भी कुछ दिनों के लिए गये और मेरी उनसे घनिष्ठता हो गयी। उन्हीं के कारण मुझे पंजाबी के साथ उर्दू में कविता लिखने का शौक हुआ। उनके दर्द-भरे स्वर में सने

शे'रों ने मुझे उर्दू-काव्य की ओर झुका दिया। उन्हें 'आसी' गयावी का एक शे'र बड़ा पसन्द था :

रीत है इश्क के दरिया की अनोखी कैसी
डूबते हैं वही जो पार उतर जाते हैं।

यद्यपि मुझे यह शे'र बिलकुल पसन्द नहीं था, पर वे इसे बराबर गाते थे। यक्ष्मा से पीड़ित होने पर जब उनका कण्ठ क्षीण हो गया, तब वे इस पंक्ति को और भी दर्द से गाते थे—'डूबते हैं वही जो पार उतर जाते हैं।'...बाद में मालूम हुआ कि वे असफल प्रेमी थे और प्रथम प्रेम की असफलता ही उन्हें ले डूबी। यक्ष्मा से उनकी मृत्यु हो गयी। उन दिनों मेरा उपनाम 'शनावर' था। शनावर तैराक को कहते हैं। इस उपनाम से मैंने पंजाबी और उर्दू में कई चीज़ें लिखी थीं। कश्मीरी लाल के देहान्त के बाद मैंने उन्हीं का उपनाम अपना लिया।"

"यदि अब आपको कोई उपनाम चुनना पड़े तो क्या आप कोई नया उपनाम चुनें ?" मैंने पूछा।

"उपेन्द्रनाथ के साथ उपनाम का पुछल्ला निरर्थक ही-सा लगता है। मैंने जब हिन्दी में लिखना शुरू किया था तो इस पुछल्ले को छोड़ने का प्रयास भी किया था। मैंने छोड़ा भी, पर मित्र अपनाये रहे। मैं अब कोई उपनाम रखना पसन्द नहीं करूँगा।"

"पर यदि रखना पड़े ?" मैंने कहा।

"तो फिर मैं यही नाम रखूँगा।" अश्क जी हँसे।

"आप के हँसी-ठहाकों के साथ तो इस नाम का ज़रा भी मेल नहीं।" मैंने कहा

"जिस तरह दिल के साथ अक्ल के पासबान की ज़रूरत है," उन्होंने कहा, "उसी तरह हँसी-ठहाकों के साथ अश्क की भी आवश्यकता है। जीवन में आँसू न हो तो हँसी-ठहाकों का लुत्फ़ ही शेष न रहे।"

"कश्मीरी लाल-जैसे अनेक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति प्रेम की भेंट चढ़ते रहते हैं," मैंने कहा, "यह प्रेम भी क्या बला है !" और मैं हँसा।

अश्क जी सहसा गम्भीर हो गये।

"प्रेम के कारण कोई आदमी जीवन को यों नष्ट कर सकता है, यह मेरे लिए सदा समझ में न आने वाली बात रही है।" वे बोले, "मैं तो प्रेम को भी एक काल्पनिक चीज़ समझता हूँ। ऐसा प्रेम होता भी है, मुझे विश्वास नहीं आता। पर लैला-मजनूँ और शीरीं-फ़रहाद को छोड़ भी दें तो बीसवीं सदी के मजनूँ—

एडवर्ड अष्टम—की मिसाल सामने है और मेरे तो भतीजे ने मेरे देखते-देखते इसी की वेदी पर अपनी कुर्बानी दे दी। मानना ही पड़ता है।"

और वे अनायास प्रेम के सम्बन्ध में विस्तार से अपनी बात कहने लगे।

"न जाने 'दिल' नाम की चीज़, मस्तिष्क की अपेक्षा कम परिमाण में मेरे पास है या 'शरीर' दिल की अपेक्षा मेरे पास कम रहा है," उन्होंने कहा, "यह भी हो सकता है कि बचपन से निरन्तर सिर पर पड़ने वाली मुसीबतों ने आरम्भ से ही मुझे सतर्क बना दिया है, या फिर मुझे किसी दूसरे की अपेक्षा अपने-आप ही से प्रेम है। जो भी हो, ऐसा प्रेम जिसमें अक्ल दिल की 'पासबानी' बिलकुल छोड़ दे, मुझे कभी नहीं हुआ। मेरा ख़याल है कि मजनूँ हो चाहे फ़रहाद, राँझा हो चाहे पुन्नूँ और चाहे बीसवीं सदी का मजनूँ—एडवर्ड अष्टम—दिमाग़ नाम की चीज़—'दिमाग' से मेरा मतलब उस चीज़ से है, जिसे इक़बाल ने 'पासबाने-अक़्ल'[1] का नाम दिया है—बड़े कम परिमाण में उनके पास होगी या पेट भरा होने के कारण प्रेम ही कदाचित उनकी सब से बड़ी समस्या होगी। मैं ऐसे मजनूँ-सिफ़त इश्क को 'ग़ालिब' के शब्दों में 'ख़लल है दिमाग़ का' ही समझता हूँ। लेकिन फिर भी ऐसे लोग मेरे लिए सदा ईर्ष्या का विषय रहे हैं।"

अश्क जी के प्रेम-दर्शन का परिचय पा कर मुझे उनकी कहानियों और उपन्यासो की एक विशेषता का रहस्य मिल गया। वे भी उर्दू से हिन्दी में आये हैं, पर उनमें हाय-हाय वाला प्रेम नहीं है। आधुनिक उर्दू-लेखकों में यदि कृष्णचन्द्र और अब्बास-जैसे ऊँचे दर्जे के लेखक भी 'मजनूँ-सिफ़त' प्रेम की रंगीनी नहीं छोड़ पाये हैं तो शायद इसीलिए कि अश्क जी का संघर्ष उन्होंने नहीं देखा। संघर्षशील व्यक्ति वस्तुतः ऐसे प्रेम के लिए समय और सुविधा नहीं पा सकता। प्रेम के उनके दर्शन को जान लेने और 'अश्क' उपनाम का रहस्य मालूम कर लेने पर मैंने उनसे पूछा कि आपका साहित्य-सृजन कब और कैसे प्रारम्भ हुआ और उसके लिए आपको प्रेरणा कहाँ से मिली ? अश्क जी ने जो कुछ बताया उससे पता चला कि अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ उन्होंने एक कवि के रूप में किया और पाँचवीं या छठी श्रेणी में ही उन्हें काव्य से लगाव हो गया था। आठवीं श्रेणी में एक पंजाबी कवि-सम्मेलन में कविता पढ़ने पर उन्हें चाँदी का पदक भी इनाम मिला। इस पुरस्कार से उत्साहित

---

१. **अच्छा है दिल के पास रहे पासबाने-अक़्ल,**
लेकिन कभी-कभी उसे तनहा भी छोड़ दे।

—इक़बाल

हो कर उन्होंने लम्बी-लम्बी पंजाबी कविताएँ लिखीं। सातवीं-आठवीं में उन्हें श्री कश्मीरी लाल 'अश्क' से उर्दू शायरी का शौक हुआ।

"लेकिन आप कहानी और उपन्यास की ओर कैसे झुके ?" मैंने सहसा उनकी बातों के क्रम को तोड़ कर कहा।

"बात यह थी कि मैं उन दिनों बड़ी तेज़ी से ग़ज़ल लिखता था," अश्क जी ने कहा, "दोआबा हाई स्कूल में उर्दू, फ़ारसी और ड्राइंग के अध्यापक और दोआबा के प्रख्यात कवि श्री 'आज़र' से इसलाह लिया करता था। लेकिन 'आज़र' साहब के कई शागिर्द थे और कुछ के प्रति उनका पक्षपात भी था। उनमें एक मेरा मित्र 'अख़्तर' था। 'आज़र' साहब 'अख़्तर' की चीज़ें तत्काल ठीक कर देते, बल्कि उसकी ग़ज़लों में कुछ शे'र अपनी ओर से बढ़ा भी देते, लेकिन मेरी ग़ज़लों को वे हफ़्तों डाले रखते। कई बार तो गुम भी कर देते। आख़िर निराश हो कर मैंने तय किया कि मैं कहानी लिखूँगा, जिसे न किसी को दिखाने की आवश्यकता रहेगी, न किसी से संशोधन कराने की। पहली कहानी जो मैंने इस फ़ैसले के तत्काल बाद लिखी, उसका नाम था—'याद हैं वो दिन' कहानी उर्दू में थी, क्योंकि उस समय पंजाब में हिन्दी का नाम कोई न लेता था। यही मेरी पहली कहानी है।"

"उससे पहले क्या आप ने गद्य नहीं लिखा," मैंने पूछा।

"नहीं, आठवें दर्जे में एक जासूसी उपन्यास लिखने की मैंने कोशिश की थी, परन्तु मैं सफल न हुआ। प्रेमचन्द और सुदर्शन को तब पढ़ने लगा था और उन्हें पढ़ने के बाद अचानक जासूसी कहानियाँ तथा उपन्यास मेरी नज़र से उतर गये थे। इसलिए मेरा यह जासूसी उपन्यास भी धरा-का-धरा रह गया।"

"आप की यह पहली कहानी कहाँ छपी ?" मैंने पूछा।

"यह एक प्रेम-कहानी थी, जब यह कहानी मैंने 'अख़्तर' को सुनायी तो उसे बड़ी पसन्द आयी। उसने कहा कि आओ इसे नज़्म करें। हम दोनों ने मिल कर उसे पद्य-बद्ध किया। अधिकांश शे'र मैंने ही लिखे। 'अख़्तर' उसे 'आज़र' साहब के पास ले गया। उन्होंने उसमें सुधार करने के साथ-साथ अपनी ओर से भी दस-बीस शे'र बढ़ा दिये। यह कहानी लाहौर के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'गुरू घण्टाल' में अख़्तर के नाम से छपी। मुझे अपनी रचना को दूसरे के नाम से छपा देख कर बड़ा दुख हुआ, परन्तु यह विश्वास हो गया कि मेरी रचना छप भी सकती है। मैंने एक दूसरी कहानी लिख कर 'प्रताप' लाहौर के सण्डे एडीशन में भेजी। उसी हफ़्ते वह छप भी गयी थी। फिर क्या था। इसके बाद तो बाबू 'उपिन्दरनाथ अश्क जालन्धरी' (प्रेमचन्द की नकल में इसी नाम से मैंने अपनी पहली चीज़ें छपायीं) की कहानियाँ दैनिक प्रताप, लाहौर के सण्डे एडीशन में बराबर छपने लगीं और मेरी वह

पहली कहानी भी 'सत्य संगार' और 'मानसरोवर' नामक दो मासिक पत्रिकाओं में छपी।"

"आपकी पहले की कहानियाँ किसी संग्रह में छपी है?" मैंने पूछा।

"नहीं।" अश्क जी हँसे। "बड़ी कच्ची कहानियाँ थीं। बड़े दिलचस्प उनके नाम थे—'सीरत की पुतली उर्फ़ बावफ़ा बीवी,' 'शहीदे नक़ाब उर्फ़ पर्दे की बला,' 'मुझे मिला—वह कौन!' आदि आदि...

"आप ने अब तक कितनी कहानियाँ लिखी हैं?" मैंने पूछा।

कभी गिनी नहीं, लेकिन पच्चीस वर्ष मुझे लिखते होने को आये हैं और सवा सौ-डेढ़ सौ कहानियाँ मैंने लिखी होंगी।"

"क्या सभी छप गयी हैं?"

"नहीं। बहुत सी मैंने नष्ट कर दीं। छह संग्रह छपे हैं, जिनमें एक में ४२ और शेष में ग्यारह से तेरह तक कहानियाँ हैं।"

"आप की सब से प्रिय कहानी कौन-सी है?"

"जब नयी कहानी लिखता हूँ," अश्क जी बोले, "तो वही सब से प्रिय लगती है, पर चन्द दिन बाद वह मन से उतर जाती है, इसलिए इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है।"

"और नाटक," मैंने पूछा, "नाटक आप ने कब लिखने शुरू किये?"

"नाटक लिखने की भी मेरी इच्छा बचपन से ही रही है," अश्क जी बोले, "बचपन में एक-दो बार रासलीला देखने का सुयोग मिला। तभी से लगता है मन में नाटकों के प्रति उत्सुकता रही। मैं कदाचित आठवीं जमात में पढ़ता था, जब मैंने दसूआ में एक एमेचर क्लब का नाटक 'बिल्व मंगल उर्फ़ सूरदास' देखा। मुझे अच्छी तरह याद है कि मुझे वह बहुत अच्छा लगा था और रामभरोसे का पार्ट देख कर स्वयं मेरे मन में अभिनय करने की इच्छा हुई थी। कॉलेज के दिनों में जालन्धर में एक एमेचर क्लब ने 'बिल्व मंगल उर्फ़ सूरदास' खेला तो मैंने वह इच्छा पूरी की और रामभरोसे का पार्ट किया। फिर 'श्रीमती मंजरी' में जानकीदास का पार्ट भी किया। इस प्रकार लिखना शुरू करने के साथ ही मेरे मन में आरम्भ से ही नाटक लिखने की इच्छा वर्तमान थी, लेकिन टैगोर के एक-दो नाटकों के अनुवाद भले ही किये, पर स्वयं मैं १९३७ तक कोई सफल एकांकी नहीं लिख सका। फिर जब एक बार मैं सफल हुआ तो निरन्तर लिखता रहा। नाटक लिखने में रुचि के अतिरिक्त नाटक लिखने का एक कारण यह भी था कि जब मैंने अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद 'होल टाइमर' के रूप में साहित्य-सृजन शुरू किया तो मेरे लिए सारे समय कहानी लिखना असम्भव था, इसलिए जब कहानी या कविता न लिखता तो नाटक शुरू

कर देता। सभी आधार-भूत विचार और अनुभव कहानी में अच्छी तरह व्यक्त भी नहीं किये जा सकते। अपनी अनुभूतियों और विचारों को मैं सदा बाँट लेता हूँ—कुछ कहानी में, कुछ नाटक में, कुछ कविता में, कुछ उपन्यास में।"

"मैंने सुना है, आप नाटक करते भी हैं," मैंने कहा।

"हाँ करता भी हूँ, यदि आप का मतलब अभिनय करने से हो। कॉलेज के दिनों में नाटकों में अभिनय करता ही था। फ़िल्म में गया तो दो फ़िल्मों में भी अभिनय किया और यदि उस दलदल से निकल न आता तो कन्हैयालाल या सुन्दर, आग़ा या मुकरी ऐसा अच्छा-ख़ासा हास्यरस का ऐक्टर प्रसिद्ध हो जाता। मेरे फेफड़े ही ख़राब हो गये, नहीं तो अब भी अभिनय करता और नाटक कम्पनी तक का आयोजन करता। इलाहाबाद मे कुछ नाटक करवाने का इरादा है। प्रकाशन कुछ चले तो उधर ध्यान दूं।"

"आप को एकांकी लिखना प्रिय है या बड़े नाटक?" मैंने पूछा।

"जिस प्रकार मुझे कहानी के साथ-साथ उपन्यास लिखना प्रिय है, उसी तरह एकांकी के साथ बड़े नाटक भी! थीम जैसी होती है, उसी के अनुसार मैं उसका कलेवर चुनता हूँ। जो मैं कहना चाहता हूँ, यदि एकांकी के द्वारा बेहतर रूप में कहा जा सकता है तो एकांकी लिखता हूँ, नहीं बड़ा नाटक।"

बातों-बातों में बारह बजने को आये थे, कौशल्या जी दो-तीन बार संकेत भी कर गयी थीं। जब फिर आयीं तो अश्क जी ने अचानक अपनी बातों का सिलसिला काट दिया और बोले, "भाई अब बस! देर हो गयी है, दफ़्तर के कुछ काम निबटाने हैं, नहीं खाने को देर हो जायगी। यदि आप कुछ और पूछना चाहें तो कल सुबह बैठेंगे।"

मैंने कहा, "ठीक है, मैं कल उपस्थित हूँगा।"

"आप कोई लिखित प्रश्नावली लाये नहीं," अश्क जी उठते हुए बोले, "और मैं निहायत बातूनी आदमी हूँ। बात दक्षिण से शुरू करूँ तो भटक कर उत्तर-पश्चिम चला जाता हूँ। मेरे-जैसे आदमी से भेंट करने वाले के लिए ज़रूरी है कि लिखित प्रश्न लाये और संक्षिप्त उत्तर लेता जाय।"

"ये तो संक्षिप्त उत्तर ले लें, पर आप दें भी!" कौशल्या जी ने कुछ गम्भीरता, कुछ व्यंग्य और कुछ तीखेपन से कहा।

अश्क जी ज़ोर से हँसे।

"उम्र तो अपनी कटी इश्के-बुताँ में 'मोमिन'
आख़िरी वक़्त में क्या ख़ाक मुसलमाँ होंगे।"

उन्होंने कहा और फिर अपनी पत्नी की ओर देख कर बोले, लेकिन मैं सीख रहा हूँ मुसलमान होना। देखो तुम्हारा संकेत पाते ही उठ बैठा। पहला ज़माना होता तो शाम तक मजलिस लगी रहती।

"ठीक ही संकेत पाते उठे है आप।" कौशल्या जी ने कहा, लेकिन खीझ की जगह उनके होंठों पर व्यंग्य के बावजूद मुस्कान आ गयी।

हम बातें करते हुए बाहर आये और मै फिर दूसरे दिन आने की बात पक्की कर के चला आया।

अश्क कहानी-लेखक हैं, उपन्यासकार हैं, एकांकी लिखते है, नाटक लिखते हैं, कवि हैं, बातूनी हैं। लेकिन उनकी बातों से आदमी ऊबता नहीं और मन्त्र-मुग्ध बैठा रहता है। चार घण्टे बीत गये और पता भी नहीं चला और बातों की उस बहिया में केवल कहानी और नाटक के बारे में ही कुछ उत्तर ले पाया।

यों भी ऐसी बहुमुखी प्रतिभा के लेखक से दो-चार घण्टों में सब-कुछ जाना भी नहीं जा सकता। फिर अश्क जी साहित्यिक से व्यक्तिगत, व्यक्तिगत से सामाजिक, सामाजिक से राजनीतिक क्षेत्र में चले जाते हैं और किस्सों, कहानियों, चुटकुलों और दिलचस्प घटनाओं के बयान की ऐसी झड़ी बाँधते हैं कि जहाँ से चले थे वहाँ फिर पहुँचना मुश्किल हो जाता है। कई बार वे स्वयं भूल जाते हैं कि कहाँ से चले थे। हिन्दी में केवल भगवतशरण उपाध्याय और श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ऐसा बेथकान बोलते हैं।

बातों-बातों में अपनी इसी आदत के बारे में उन्होंने एक दिलचस्प किस्सा सुनाया।

"मैं इस आदत से बड़ा परेशान रहा हूँ।" वे बोले, "पहले किसी से मिलने जाते समय मैं सदा प्रण किया करता था कि स्वयं नहीं बोलूँगा और दूसरे को बोलने दूँगा, लेकिन प्रायः ऐसा होता कि जब मैं वहाँ से वापस आता तो पाता कि बातें अधिक मैंने ही कीं। तब बड़ा दुख होता और कई बार अपनी इसी बेतुकी आदत के बारे में सोचते-सोचते मेरी रात की नींद हराम हो जाती। मैंने डेल कार्नेगी भी पढ़ा और मुझे लगा कि मैं तो इस मामले में एकदम गँवार हूँ। मुझे सदा दूसरे की सुनने का प्रयास करना चाहिए। लेकिन इरादे बाँधने के बावजूद मैं कभी सफल नहीं हुआ।"

"तभी शायद १९३६ या १९३७ में एक बार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी अज्ञेय जी के यहाँ कुछ दिनों के लिए लाहौर आये। मैं उनसे मिलने गया और जब मैंने उन्हें बात करते देख लिया तो मुझे लगा कि यह बीमारी केवल मुझे ही नहीं। उस

वक्त हिन्दी में चतुर्वेदी जी की तूती बोलती थी। उन्हें उस तरह बातें करते और ठहाके मारते देख कर मुझे बड़ी तसल्ली हुई और मेरा वह हीन-भाव दूर हो गया।"

मैंने देखा कि अश्क जी अपने दुर्गुणों को कुछ बढ़ा कर बताने के आदी हैं, लेकिन यह भी मैंने महसूस किया कि उन्हें उनका सदैव ज्ञान रहता है और वे उन्हें दूर करने की कोशिश भी करते रहते हैं। और यही शायद उनकी सफलता का रहस्य भी है।

बहरहाल तीसरे दिन मैं कुछ प्रश्न लिख कर ले गया ताकि बातों की उस बहिया को मैं अपने रास्ते मोड़ सकूँ। अश्क जी पूर्ववत् टाइपिस्ट को कुछ लिखा रहे थे। टाइपिस्ट चूँकि पार्ट-टाइम था, कहीं सरकारी दफ़्तर में काम करता था, इसलिए सुबह आता था और अश्क जी सुबह ही उसे लिखाते थे। उसे निबटा कर वे आ गये। कौशल्या जी ने चाय भेज दी।

चाय पीते-पीते मैंने पूछा कि क्या वे भी जैनेन्द्र जी की तरह सदा लिखाते हैं।

"नहीं, मेरे लिए यह ज़रूरी नहीं।" अश्क जी बोले, "टाइपिस्ट की सुविधा हो तो मैं लिखा भी लेता हूँ। विशेषकर नाटक बोल कर लिखाने में सुविधा होती है। लेकिन टाइपिस्ट की सुविधा न हो तो मैं स्वयं लिखता हूँ। टाइपिस्ट की अनुपस्थिति मेरे लिखने की गति को रोकती नहीं।"

"जैनेन्द्र जो लिखाते हैं, प्रायः उसमें काट-छाँट नहीं करते," मैंने कहा "क्या आप जो लिखाते हैं वही अन्तिम मसौदा होता है।"

"मेरा अपना लिखा जब अन्तिम मसौदा नहीं हो पाता तो टाइपिस्ट को लिखाया कैसे हो सकता है ?" वे हँसे, "वास्तव में मुझे पहला मसौदा तैयार करने में बड़ी उलझन होती है। मेरा मन भटकता रहता है। कई बार लिखना छोड़ कर मैं पढ़ने या बातें करने लगता हूँ। मामूली कहानी या एकांकी लिखने में मुझे हफ़्ता-हफ़्ता लग जाता है। टाइपिस्ट सामने बैठा हो तो उलझन नहीं होती और मैं फ़र्र-फ़र्र बोलता जाता हूँ और इस तरह पहला मसौदा जल्दी तैयार हो जाता है। लेकिन प्रायः मैं पहले मसौदे को एकदम बदल देता हूँ या इतना काट-छाँट देता हूँ कि उसका रूप बिलकुल बदल जाता है। कई बार मैं उसे सामने रख कर फिर लिखने लगता हूँ और बिना उसे देखे लिखता चला जाता हूँ और रचना पहले से कहीं अच्छी बन जाती है। दूसरा मसौदा लिखने में मुझे कभी उलझन नही होती और मन एकाग्र हो जाता है।"

चाय पीते-पीते योंही बातें चलती रहीं। जब चाय समाप्त हो गयी तो मैंने प्रश्नावली निकाली।

"तो आप लिख लाये!" अश्क जी हँसे। "अच्छा किया आप ने, नहीं आप इण्टरव्यू इस जन्म में न ख़त्म कर पाते।"

"श्री गिरिजाकुमार माथुर ने 'वीणा' में वर्षों पहले लिखा था," मैंने शुरू किया, "कि आप कथाकार और उपन्यासकार से पहले कवि हैं। आप स्वयं क्या मानते हैं? आपकी मूल प्रेरणा कवि की है, कथा-लेखक की अथवा नाटककार की?"

"यह कहना तो कठिन है। मैंने अपना साहित्यिक जीवन कवि के रूप में आरम्भ किया, यह ठीक है और यह मानने में भी मुझे इनकार नहीं कि मुझे कविता लिखना बड़ा प्रिय है। इसे मैं अपने जीवन की ट्रेजिडी कहूँ कि जो काम मुझे प्रिय है, वही मैं कम कर पाया हूँ।"

"आप इसका क्या कारण समझते हैं?"

"मै कविता सदा उस समय कर पाता हूँ, जब मुझे कोई दूसरी उलझन न रहे। या फिर दूसरी उलझन इतनी बड़ी हो कि मन न नाटक में लगे, न कहानी में। है तो यह कुछ विरोधाभास ही-सा, पर कभी-कभी मन इतना दुखी होता है कि सिवा काव्य के कहीं सुख अथवा सान्त्वना नहीं पाता। तभी मैं कविता करता हूँ। चलता-फिरता, उठता-बैठता, ताँगे-रिक्शे में बैठा कविता करता हूँ और भावनाओं के आवेग को काव्य के सुपुर्द कर हल्का हो जाता हूँ।"

"तो इसका मतलब हुआ कि आप दुख के कवि हैं।"

अश्क जी हँसे, "नही यह बात नहीं! कविता, कम-से-कम मेरे लिए, मन की ऐसी स्थिति चाहती है, जब सब ओर से हट कर मन उसी में लग जाय। पूरा अवकाश हो अथवा भावनाओं का प्रबल आवेग—दोनों स्थितियों ही में ऐसा सम्भव है। मेरा जीवन बड़ा संघर्षमय रहा है, पूरा अवकाश सिवा बीमारी के मुझे कभी नहीं मिला। इसलिए कविता ज़्यादा नहीं हो सकी।

"आप पहले पंजाबी में कविता करते थे, फिर उर्दू में ग़ज़ल लिखते थे, हिन्दी में आप कैसे लिखने लगे?"

"हिन्दी में शायद मैं कभी कविता न करता, यदि १९३६ में लम्बी बीमारी के बाद मेरी पत्नी का देहान्त न हो जाता। तब मन कुछ ऐसा दुखी था और भावनाओं का कुछ ऐसा आवेग था कि कविता के सिवा कहीं और त्राण न था। लेकिन हिन्दी कविता मुझे आती न थी। तो भी श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' से (जो उन दिनों लाहौर ही में थे।) मैंने एक छन्द सीख लिया और उसी में पन्द्रह-बीस कविताएँ लिख डालीं। जब आवेग चुक गया तो मैं कहानी-नाटक की ओर मुड़ा।"

"आप की पहली हिन्दी कविता कहाँ छपी?"

"पहली ही कविता—विदा—मैंने 'विशाल भारत' में भेजी। न केवल व छप गयी, बल्कि श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने उसकी बड़ी प्रशंसा की औ मेरी तीसरी कविता 'विशाल भारत' के पहले पृष्ठ पर छपी।"

"अपने खण्ड-काव्यों में आप किसे अच्छा समझते हैं?—'बरगद की बेटी को या 'चाँदनी रात और अजगर' को?"

"मुझे दोनों प्रिय हैं। हाँ 'बरगद की बेटी' में सोज़ अधिक है और 'चाँदनी रात और अजगर' में शक्ति।"

कहानी, नाटक, कविता की बात कर मैं उपन्यासों पर आया और मैंने प्रश्न किया, "आपके उपन्यास 'गिरती दीवारें' की इधर बड़ी निन्दा-स्तुति हुई है। आप उससे कितने सन्तुष्ट हैं?"

"वह उपन्यास अधूरा है," अश्क जी बोले, "कभी पूरा कर सका तो तुष्टि की बात करूँगा, अभी क्या कहूँ? आलोचकों की बात मैं नहीं जानता, पर पाठक उसे बेहद पसन्द करते हैं, इतनी मँहगी पुस्तक है, पर मेरी रचनाओं में सब से ज़्यादा बिकती है।"

"आगे क्या आप 'गिरती दीवारें' का दूसरा भाग ही लिखेंगे या और कोई दूसरा उपन्यास?" मैंने पूछा।

"लिखना तो 'गिरती दीवारें' का दूसरा भाग ही चाहता हूँ, पर वह इस संघर्ष में होगा नहीं। 'गिरती दीवारें' मैंने नौकरी के ज़माने में लिखा है, जब मुझे आर्थिक चिन्ता न थी और मैं धीरे-धीरे लिखता रहता था। अभी शायद उतना समय न मिले। लेकिन दूसरा उपन्यास मैंने शुरू कर रखा है—नाम है—'गर्म राख'। शायद दो-चार लघु-उपन्यास लिख कर फिर 'गिरती दीवारें' को हाथ लगाऊँ।"

साहित्य-सम्बन्धी प्रश्न जब चुक गये तो मैंने उन लेखकों का नाम पूछा जिनका उनके साहित्य पर प्रभाव पड़ा है।

"मैंने पाँचवीं-छठवीं में देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास पढ़े," अश्क जी बोले, "लेकिन नवीं-दसवीं में मैं प्रेमचन्द और सुदर्शन की कहानियाँ पढ़ने लगा और प्रकट है कि उनके प्रभाव में जासूसी और तिलस्मी उपन्यास मेरी नज़र से उतर गये। बी० ए० में मापासाँ की एक कहानी पढ़ी, फिर कई वर्ष बाद तुर्गनेव, चैखव, रोमां रोलां और गाल्ज़वर्दी पढ़े।"

"तालस्ताय, गोर्की और दास्तवस्की आप ने नहीं पढ़े?" मैंने पूछा।

"पढ़े हैं, लेकिन अभी कुछ ही वर्ष पहले। तालस्ताय का 'वार एण्ड पीस'

मैंने १९४७ में अपनी लम्बी बीमारी के दौरान में पढ़ा। दास्तवस्की को १९५० में और गोर्की को १९५१ में। यों इन महान लेखकों की छिट-पुट कहानियाँ मैंने १९३८-३९ में पढ़ी थीं, पर उनका गहरा अध्ययन करने का अवसर नहीं मिला।

"नाटककारों में आप किन से प्रभावित हुए ?"

"मैंने शुरू में टैगोर के नाटक पढ़े। फिर पहले मैंने पश्चिम के लगभग सभी एकांकीकारों को पढ़ा और तब बैरी, ओ-नील, इब्सन, स्ट्रिंड बर्ग, पिरेन्देलो, शॉ, प्रीस्टले, मैत्रलिंक और चैख़व के बड़े नाटक पढ़े। शॉ बड़ा विटी है और पढ़ने में अच्छा भी लगता है, पर वह कदाचित मेरी रुचि से मेल नहीं खाता। उसकी अपेक्षा चैख़व, ओ-नील, प्रीस्टले मैत्रलिंक, मुझे सदा नाटक लिखने की प्रेरणा देते हैं। शिल्प मैंने उनसे सीखा है, अनुभूतियाँ अपनी दी है।"

"क्या हिन्दी के किसी नाटककार का प्रभाव आप पर नहीं पड़ा ?"

"यदि डी० एल० राय को भी हिन्दी का नाटककार मान लिया जाय—मान ही लेना चाहिए, क्योंकि उनके लगभग सभी नाटक हिन्दी में हो चुके हैं! 'दुर्गादास' तो मैंने शायद नवीं श्रेणी में पढ़ा था—तो मै कहूँगा कि हिन्दी नाटकों का मुझ पर प्रभाव अवश्य पड़ा। मेरे ऐतिहासिक नाटक 'जय पराजय' पर श्री राय और प्रसाद का प्रभाव है। इसके बाद मैंने आधुनिक नाटक लिखे और आधुनिक नाटक, तब की बात दूर रही, अब भी हिन्दी में अच्छे नही लिखे जाते।"

इसी सिलसिले में अन्य साहित्यकारों की बात चली। उन्होंने कहा कि मुझे कृष्णचन्द्र का स्टाइल, राजेन्द्रसिंह बेदी के मूलभूत विचार की सूक्ष्मता, मण्टो और बलवन्त सिंह की सरलता पसन्द है। हिन्दी में मुझे यशपाल और अज्ञेय पसन्द हैं।

"क्या आप को जैनेन्द्र जी की कहानियाँ पसन्द नही ?"

"जैनेन्द्र जी की कुछ पहले की कहानियाँ मुझे बड़ी ही पसन्द हैं। लेकिन 'जैनेन्द्र के विचार' के बाद उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसमें वे उत्तरोत्तर उलझते गये हैं। कभी-कभी सोचता हूँ कि उनका साहित्यिक राजनीतिज्ञों से होड़ लेने की न सोचता तो हिन्दी का बड़ा हित होता।"

"नाटककारों में आप किन्हें मानते हैं ?"

"मुझे डॉक्टर रामकुमार वर्मा, श्री उदयशंकर भट्ट और विष्णु प्रभाकर के कुछ एकांकी बड़े रुचे है। श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने जितना समय आई० सी० एस० को दिया है, यदि उससे चौथाई भी नाटकों को दिया होता तो न जाने कितने सुन्दर नाटक हिन्दी-साहित्य को मिलते। उनका बड़ा नाटक 'कोणार्क' और एकांकी 'रीढ़ की हड्डी,' मेरे ख़याल में, कला के उत्तम नमूने हैं।"

"प्रयोगवाद के बारे में आप के क्या विचार हैं ?"

"प्रयोग के बिना गति नहीं," अश्क जी ने कहा, "जब एक धारा कुछ समय तक चलती रहती है तो मन उससे ऊबने लगता है और आदमी अभिव्यक्ति के नये मार्ग खोजता है। लेकिन प्रयोग के पीछे यदि अन्तर की इच्छा या प्रेरणा न होगी तो वह सफल नही होगा। केवल भेड़-चाल के लिए या अपने-आप को दूसरों से विशिष्ट सिद्ध करने के लिए प्रयोग करना, मेरे ख़याल में, श्रेयस्कर नहीं है। बड़ा कवि सदा अन्तःप्रेरणा से विवश हो अभिव्यक्ति की नयी राहें खोजने का प्रयास करता है, लेकिन दूसरे दर्जे के लोग सदा भेड़-चाल के कारण ऐसा करते हैं। निराला हों, पन्त हों, महादेवी हों, वच्चन हों, अज्ञेय हों, शमशेर हों--सब ने प्रयोग किये हैं। बच्चन ने गीतों ही की दुनिया में कई तरह से सफल प्रयोग किये। अज्ञेय को थोड़ा चौंकाना, थोड़ा अपने-आप को दूसरे से विशिष्ट बताना पसन्द है, पर उनकी कविता के प्रयोग में उनके अन्तर की प्रेरणा और आकुलता नहीं, ऐसा मैं नही मानता।"

"आपने स्वयं भी अपनी कविता में प्रयोग किये?"

"कविता की ओर मैं उचित ध्यान नही दे पाया। लेकिन तो भी १९४० में मैंने एक कविता लिखी थी--हम मिले--जिसमें अपनी तब की धारा से मैं हट गया था। तब वह किसी पत्रिका में न छप पायी थी, पर बाद में मेरी बड़ी ही लोकप्रिय कविता सिद्ध हुई। यहाँ तक कि विदेशी भाषाओं में उसका अनुवाद भी हुआ। 'दीप जलेगा' और 'चाँदनी रात और अजगर' में भी कई तरह के प्रयोग है। लेकिन मेरा उद्देश्य केवल अपनी बात को सशक्त रूप से कहना भर रहा है, मात्र प्रयोग करना नहीं।"

"सफल कलाकार में आप क्या गुण मानते हैं?"

"मेरी दृष्टि में सफल कलाकार में तीन बातें होनी चाहिएँ--प्रतिभा, अनुभूति और फिर उस अनुभूति को रचना में व्यक्त करने की शक्ति। इसमें प्रथम गुण के बिना तो कुछ हो ही नही सकता। अनुभूति की बात भी ऐसी है कि गूँगा भी महसूस करता है। मूल वस्तु है अभिव्यक्ति। उसी में कला-कौशल-शिल्प आ जाते है। अभिव्यक्ति की शक्ति जन्म-गत भी होती है और साधना तथा अध्यवसाय-गत भी। कृष्णचन्द्र और जैनेन्द्र में वह जन्म-गत है तो यशपाल और अज्ञेय में साधना-गत।

"अपने बारे में आप का क्या ख़याल है?"

"मैं जीनियस नहीं हूँ। जो पाया, निरन्तर अध्यवसाय से। लिखा और चीज़ अच्छी बन गयी, मेरे यहाँ ऐसा कम ही हुआ। जब तक चीज़ मन-पसन्द नहीं बनी, मैंने कभी कलम नहीं छोड़ा।"

"आप की दृष्टि से आप की श्रेष्ठ कृतियाँ कौन-सी हैं?"

"यह बड़ा टेढ़ा प्रश्न है। जिस समय जो चीज़ लिखी जाती है, अच्छी लगती है। बाद में वह मन से उतर जाती है।"

"आप अपनी कृतियों के लिए सामग्री कहाँ से जुटाते हैं? और फिर कैसे लिखते हैं?"

"मुझे थीम के लिए भटकना नहीं पड़ता। सामान्य जीवन की बातें ही मेरे लिए उपयोगी हो जाती हैं। लिखने में शाम के वक्त कम मेहनत पड़ती है। वैसे मैं दिन-भर सोचता हूँ और लिखता हूँ, लेकिन दिन-भर में अगर मैं दो पृष्ठ लिखूँ तो शाम को घण्टे-भर में चार लिख लेता हूँ।"

"आप क्या एक ही बैठक में एक चीज़ लिख लेते हैं?"

"प्रायः नहीं! मैं लगातार लिखता हूँ। लगातार बैठता नहीं। यों एक सिटिंग में नहीं लिख पाता, पर ज़रूरत पड़ जाय तो एकाग्रता हो जाती है और मैं एक ही सिटिंग में चीज़ पूरी कर लेता हूँ। 'पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ' कमरा बन्द कर के एक ही सिटिंग में मैंने लिखा। ऐसा ही 'लक्ष्मी का स्वागत' और 'चमत्कार' के सम्बन्ध में हुआ। लेकिन ये सब अपवाद हैं। प्रायः मैं कई बैठकों ही में कोई चीज़ लिख पाता हूँ।"

"आप क्या सदा लिखते हैं अथवा कुछ ऐसे दिन या महीने भी आते हैं, जब आप कुछ नहीं कर पाते?"

"मैं सदा लिखता रहता हूँ। सभी मौसमों में, सभी समय! मूड का मैं ग़ुलाम नहीं। मैं बिना लिखे रह नहीं सकता।"

"आप की हॉबी क्या है?'

"हॉबी की फ़ुरसत ज़िन्दगी ने नहीं दी। कैरम का शौक है। पर समय नहीं मिलता। प्रीत नगर में था तो बैडमिंटन खेलता था, फ़िल्म में था तो पिंगपांग, लेकिन यक्ष्मा के बाद संघर्ष इतना बढ़ा कि उसकी फ़ुरसत नहीं मिलती। बाग़बानी के अलावा क्रिकेट के मैच की कमेन्ट्री सुनना पसन्द है, पर कई बार उसके लिए भी समय नहीं मिलता। एक बात ज़रूर है और वह यह, कि मैं पुस्तकें ख़रीद कर पढ़ता हूँ। काफ़ी बड़ी लायब्रेरी है। समय मिले तो पढ़ने का शौक है। मैं सिगरेट नहीं पीता, पान नहीं खाता और न सिनेमा ही देखता हूँ (याने बाक़ायदा) केवल पुस्तकें ख़रीदने और पढ़ने का शौक है!"

आज तो बड़े लेखक भेंट की पुस्तकें ही पढ़ते हैं और बहुत-से तो ऐसे हैं जो अपने समकालीनों की कृतियों को पढ़ने में गौरव-हानि समझते हैं। इस दृष्टि से अश्क जी की यह हॉबी बड़ी महत्व की लगी।

कौशल्या जी दो-तीन बार आकर संकेत कर गयी थीं कि वे उठ कर नहा लें, खाने का समय हो गया है। इसलिए मैं उठा। लेकिन चलते-चलते मैंने पूछा—"आप ने प्रकाशन शुरू किया है, ऐसा तो नहीं कि आप के साहित्य पर इसका बुरा प्रभाव पड़े और आप केवल प्रकाशक बन कर रह जायँ। अथवा अपने प्रकाशन का पेट भरने के लिए कुछ हल्के स्तर का लिखने लगें?"

"डर तो है, मुझ से ज्यादा मेरे मित्रों को! लेकिन पहले तो यह कि प्रकाशन का अधिकांश काम कौशल्या करती है, फिर यदि प्रकाशन मेरे साहित्य के मार्ग में बाधा बन जाय तो मैं इसे छोड़ दूँगा। जब मैं फ़िल्म को छोड़ सकता हूँ तो प्रकाशन को क्यों नहीं छोड़ सकता? मेरा तो ख़याल है कि अब, जब कृतियों के प्रकाशन की चिन्ता नहीं रही, मैं पहले से बेहतर लिखूंगा।"

अश्क जी में बेतकल्लुफ़ी कूट-कूट कर भरी हुई है। श्रीमती कौशल्या अश्क ने उनके विषय में लिखा है—'अश्क जी कपड़ों के विषय में बड़े बेपरवाह हैं। लोगों ने इन्हें हर प्रकार के लिबास में देखा होगा, पर सूट-बूट, अचकन-टोपी, कमीज़-शलवार, धोती-कुर्ता आदि सब भूषाओं के बावजूद, इन्हें तहमद पहने नंगे बदन रहना पसन्द है। सीमाएँ इन्हें रुचिकर हैं, कभी इस सीमा पर और कभी उससे विपरीत दूसरी सीमा पर! कभी इतने फक्कड़ कि क्या पहनते हैं, इसका ध्यान नहीं, क्या कहते हैं इसकी परवाह नहीं, पर दूसरे अवसर पर इतने नफ़ासतपसन्द कि भूषा की छोटी-से-छोटी तफ़सील (डीटेल) का ध्यान रखने वाले और इतने संस्कृत और संकोचशील कि मुँह से हरेक बात तोल कर निकालने वाले! कभी ऐसे उदार कि बड़ी-से-बड़ी बात क्षमा कर दें और कभी इतने संकीर्ण कि छोटी-से-छोटी बात से रातों की नींद हराम कर लें और जब तक उसका बदला न ले लें चैन न पायें! कभी ऐसे कंजूस कि कष्ट सह कर पैसा-पैसा जोड़ें और कभी ऐसे फ़ज़ूल-खर्च कि इतने कष्ट से संचित पूंजी क्षण-भर में नष्ट कर दें!' अश्क जी में आदमी को वश में कर लेने की शक्ति ग़ज़ब की है। वे अपनी निश्छलता से दूसरे का हृदय जीत लेते हैं। साथ ही स्वाभिमानी भी परले सिरे के हैं। बड़े-से-बड़े व्यक्ति के द्वारा किये गये अपमान को वे नहीं सहते और उससे बदला लेने पर तत्पर हो जाते हैं और यह चिन्ता नहीं करते कि इसका फल क्या होगा। जैसा कि श्रीमती कौशल्या अश्क ने लिखा है, अनेक प्रकार के विरोधाभासों के बावजूद अश्क जी एक कलाकार हैं और कलाकार भी मस्त, फक्कड़, आँख खोल कर बाहर-भीतर देखने वाले तथा परिश्रम से अपना स्थान बनाने वाले!

[यह इण्टरव्यू मैंने अश्क जी से दस वर्ष पहले लिया था। इस बीच में न केवल ५, खुसरोबाग़ रोड की उस कॉटेज के अतिरिक्त आधी बड़ी कोठी को भी उन्होंने घेर लिया है, उन्होंने अपने प्रकाशन को हिन्दी के प्रमुख प्रकाशन-गृहों के समकक्ष ला खड़ा किया है, वरन् जैसा कि उन्होंने कहा था, अपने साहित्य को भी उन्होंने आँच नहीं आने दी। उसे सजाया-सँवारा है और उसकी श्रीवृद्धि की है। इस बीच में उनके तीन नये उपन्यास, तीन कहानी-संग्रह, चार नाटक-संग्रह, तीन बड़े नाटक, एक खण्ड-काव्य, दो संस्मरण और एक निबन्ध-संग्रह छपे हैं। 'हिन्दी : संकेत' नाम से आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रतिनिधि संकलन-ग्रन्थ उन्होंने संकलित और सम्पादित किया है और 'उर्दू : संकेत' के संकलन में जुटे हुए हैं। अपने तीन बड़े नाटक उन्होंने इलाहाबाद में स्टेज किये हैं। उनकी कई पुस्तकों पर केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने पुरस्कार दिये हैं। उनका नाटक 'अलग-अलग रास्ते,' चार कहानियाँ, सात कविताएँ और दो एकांकी रूसी भाषा में छपे हैं। उनके उपन्यास 'गिरती दीवारें' के संक्षिप्त संस्करण 'चेतन' का अनुवाद प्रसिद्ध इंडौलोजिस्ट श्री बारान्निकोव ने स्वयं रूसी भाषा में किया है, जो अश्क जी की अर्ध-शती के अवसर पर वहाँ प्रकाशित हुआ है। इधर उनकी दो कहानियाँ अमरीका के प्रसिद्ध साहित्यिक त्रैमासिक 'लिट्रेरी रिव्यू' में भी छपी हैं और आज उनका नाम हिन्दी-साहित्य में प्रेमचन्द और प्रसाद के बाद लिया जाने लगा है और इधर एक व्यसन भी (अपने कथनानुसार) उन्होंने पाल लिया है—अब वे पान बाक़ायदा खाने लगे हैं।]

रवीन्द्र श्रीवास्तव

●●●

टेढ़ी-सीधी राहें

[अश्क जी १९४८ में इलाहाबाद आये। तीन महीने अपने मित्र श्री श्रीपत राय के यहाँ और लगभग तीन ही महीने साहित्यकार संसद में रहने के बाद, वे ५ खुसरो बाग़ रोड में बड़े बंगले के पीछे, छोटी-सी कॉटेज में उठ आये। तब उस कॉटेज के एक ही कमरे में उनकी लिखने की छोटी-सी मेज़, पुस्तकों के ऊँचे-ऊँचे लकड़ी के रैक और बैठने के लिए दरी-जाजम और तकिये लगे रहते थे, पर १९५६ से वह कमरा अपने लड़के को दे कर, वे स्वयं बड़े बँगले के आधे भाग मे आ गये, जिसके एक बड़े कमरे में अत्यन्त सुन्दर आलमारियों में उनका पुस्तकालय है; कमरे की दीवारों पर आर्टिस्टों द्वारा चित्रित औरिजिनल चित्र तथा देश-विदेश के घरेलू उद्योग-धंधों के सुन्दर नमूने है; बैठने का दीवान और मोढ़े हैं, जिनके कीमती कवरों से गृह-स्वामी और उनकी संगिनी के कलाकार स्वभाव का पता चलता है। कार्निस पर श्रीमती कौशल्या अश्क का, उनके पति द्वारा खीचा हुआ, बड़ा चित्र फ्रेम में लगा है। दरवाज़ों पर भारी पर्दे है।

इस पुस्तकालय+ड्राइंगरूम के साथ एक छोटा-सा कमरा है, जिसकी खिड़की बँगले के गेट और तिकोने बग़ीचे की ओर खुलती है। इस कमरे के बीचोंबीच एक बड़ी मेज़ और घूमने वाली कुर्सी है। दीवारों के साथ दो तरफ़ लोहे के रैक है, तीसरी तरफ़ एक बड़ी बर्मा-टीक की केबीनेट है और दूसरी ओर एक खानेदार रैक है। रैक के ऊपर के बड़े खाने में अट्ठाइस-तीस शब्दकोष हैं और निचले खानों में मसौदों की फ़ाइलें। केबीनेट, रैक और मेज़

किताबों और पत्र-पत्रिकाओं से अटे पड़े हैं। अश्क जी इसी कमरे में काम करते हैं। प्रायः सुबह साढ़े आठ-साढ़े नौ बजे मेज़ पर आ बैठते हैं, नाश्ता भी प्रायः यहीं लेते हैं। दोपहर को खाना खाने के बाद लगभग नियमित रूप से घण्टे-दो-घण्टे ड्राइंगरूम में सोते हैं। शाम की चाय और कई बार डिनर भी फिर इसी सृजन-कक्ष में लेते हैं और ख़ुसरो बाग़ रोड से आने-जाने वालों को कई बार रात के बारह-बारह बजे तक उनके इस कमरे की बत्ती जलती दिखायी देती है। प्रस्तुत इन्टरव्यू इन्हीं दो कमरों में लिया गया--अश्क जी के अत्यधिक व्यस्त जीवन के उन क्षणों में, जब वे चाय पीते रहे, नाश्ता करते रहे अथवा आराम करते रहे! प्रायः कुछ प्रश्नों के उत्तर पूरे तौर पर कई-कई दिनों में लिखाये गये।

प्रश्न सभी मेरे नहीं हैं। पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों तथा पाठकों की ओर से प्रश्न आते रहे हैं, कुछ के उत्तर गये हैं, कुछ के नहीं गये। कुछ प्रश्न नये भी हैं।

उन सभी प्रश्नों तथा उत्तरों को, जो उनके व्यक्ति-साहित्यकार के सम्बन्ध में है, मैंने संकलित कर दिया है।]

प्रश्न : क्यों न यह इण्टरव्यू इस आम प्रश्न से ही शुरू किया जाय--आप कब लिखने लगे और आप की पहली रचना कब और कहाँ छपी?

उत्तर : जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, मैं पाँचवीं-छठी ही से लिखने लगा था। मेरी पहली रचना ११ मार्च १९२६ को दैनिक मिलाप, लाहौर के साप्ताहिक संस्करण में छपी। उस वक्त मैं नवीं कक्षा में पढ़ता था।

प्रश्न : कौन-सा संयोग था जिससे आप लिखने की ओर प्रवृत्त हुए?

उत्तर : यह तो बताना कठिन है। याद पर ज़ोर डालता हूँ तो एक घटना सामने आती है--मेरी माँ एक दिन दालान साफ़ कर रही थी तो एक पुराने सन्दूक से पिता जी के सहेज कर रखे हुए ढेर-से किस्से निकले--मिलखीराम, मोतीराम, हाशिम शाह और उस ज़माने के प्रसिद्ध किस्सा लिखने वालों के; बुल्ले शाह की काफ़ियाँ; टी-सी गुजराती की 'सी-हर्फ़ी'--साथ ही एक बड़ी-सी पुस्तक निकली--अलिफ़ लैला। ये पुस्तकें मैंने और मेरे बड़े भाई ने चोरी से पढ़ी। इन किताबों को पढ़ कर और किताबें पढ़ने का शौक हुआ। भाई साहब महन्तराम बुकसेलर की दुकान से किराये पर पुस्तकें ला कर पढ़ने लगे। बाबू देवकीनन्दन खत्री की लिखी 'चन्द्रकान्ता सन्तति' और 'भूतनाथ' पढ़ीं और दूसरी जासूसी पुस्तकें भी! इन्हीं किस्सों को पढ़ कर मैंने पंजाबी में बैत लिखने की कोशिश की

और आठवीं कक्षा में एक जासूसी उपन्यास भी शुरू किया। उन्हीं दिनों, मुझे याद है, लाहौर के राजपाल एण्ड सन्ज़ से 'आर्य भजन पुष्पांजलि' निकली, जिसके भजन हम आर्य-समाज के जुलूसों में गाते थे। उन्हीं को पढ़ कर, तुक-से-तुक मिला कर मैं भजन भी लिखने लगा।

प्रश्न : 'आर्य भजन पुष्पांजलि,' मिलखीराम या मोतीराम के किस्से, अलिफ़ लैला या चन्द्रकान्ता सन्तति तो हजारों लड़कों ने पढ़ी होंगी। उनमें से कितनों के मन में लेखक बनने की प्रेरणा जगी होगी ? आप ही के मन में कैसे जग गयी ?

उत्तर : आप ठीक कहते हैं। यदि पुस्तकें पढ़ने ही से लोग लिखने लगें तो हज़ारों-लाखों लोग कवि और लेखक बन जायें। भाई साहब ने मेरी अपेक्षा कहीं ज़्यादा पढ़ा, पर कभी चार सतरें ठीक से नहीं लिख सके। जब इस प्रश्न पर सोचता हूँ तो पाता हूँ कि लिखने की ओर मेरे प्रवृत्त होने का कारण मेरा दुर्बल स्वास्थ्य, अति भावप्रवणता और घर का अत्यन्त आतंक-पूर्ण और कलुषित वातावरण हीं था। पिता मेरे बड़े दबंग थे। खूब पीते थे, खूब शोर मचाते थे और खूब पीटते थे। जब वे आते तो घर क्या, मुहल्ले भर में आतंक छा जाता था। मुझे ज़रा-सी बात भी लग जाती थी। पिता जी ने बचपन में इतना पीटा था कि स्वास्थ्य चौपट हो गया था। मुहल्ले के लड़के अत्यन्त उद्दण्ड, लड़ाके और गुण्डे थे। उनके खेलों में भाग ले पाना मेरे बस में न था। इन्हीं कारणों से बचपन ही में शायद मैं अन्तरोन्मुख हो गया और लिखने में सुख पाने लगा।

प्रश्न : कहते हैं, जवानी में हर आदमी प्रेम करता है और हर प्रेमी कवि अथवा कथाकार होता है, पर जो आदमी जीवन-भर लिखे, उसकी प्रेरणा का स्रोत कोई दूसरा ही होना चाहिए। आप गत तीन दशकों से सृजन-रत हैं। क्या आप बतायेंगे कि लेखन को ही अपने जीवन का ध्येय बनाने की प्रेरणा आप को कहाँ से मिली ?

उत्तर : मैं समझता हूँ कि यदि इस लेखन-कार्य को मैं अपने जीवन का ध्येय बना पाया और हर स्थिति और हर संकट में एक-निष्ठ हो कर उसमें रत रहा, तो इसका श्रेय, आज मैं इस बात को अच्छी तरह समझता हूँ, मेरे उन्हीं पिता को है, जिनसे बचपन और जवानी में मैं लगभग नफ़रत करता था।

मेरे पिता अपनी तरह के अकेले आदमी थे। स्टेशन मास्टर थे। लड़कपन ही में पीने लगे थे। पीते ही न थे, जुआ भी खेलते थे और दसियों तरह रुपया उड़ाते थे। बात के धनी और दरिया-दिल ! घर

कैसे चलता है और छह बेटे कैसे पलते हैं, इसका भार बीवी पर छोड़े, हर तरह की चिन्ता-फ़िक्र से मुक्त, मौज उड़ाते थे। दोस्त-यार और खाने-पीने को बने हुए 'बेटे' उन्हें घेरे रहते थे। 'कौड़ी न रख कफ़न के लिए' उनका नारा था और जब परलोकगामी हुए तो सचमुच घर में कफ़न के लिए कौड़ी न थी।

लेकिन जब कभी थोड़ी पिये रहते और मौज में होते तो सभी बेटों को बैठा कर कुछ नसीहतें देते। न जाने कितनी बार मैंने वे नसीहतें सुनीं कि अचेतन रूप से मन पर नक्श हो गयीं—और मैं समझता हूँ कि आज जो मैं हूँ, दिमाग़ में उन चन्द नसीहतों के अमिट रूप से अंकित हो जाने के कारण ही हूँ।...'A man can do what a man has done—याने किसी माई के लाल ने जो काम कर दिखाया है, कोई दूसरा माई का लाल भी, चाहे तो, उसे निश्चित रूप से सरअंजाम दे सकता है।' पहली नसीहत थी, जो वे दिया करते थे और मिसालें दे कर उसे समझाया करते थे।

'असम्भव का शब्द मूर्खों के शब्दकोश में है'—नेपोलियन के हवाले से यह दूसरी नसीहत देते थे। आदमी यदि सोच-समझ कर अपना ध्येय बनाये, उस ध्येय पर पहुँचने वालों की जीवनियाँ पढ़े, उनके गुण ले ले और दुर्गुण छोड़ दे और एक-निष्ठ हो कर उसमें लग जाय तो वह निश्चय ही उस ध्येय पर पहुँच जायगा।—ऐसा वे समझाते थे।

'कस्बे-कमाल कुन कि अज़ीज़े-जहाँ शवी'—तीसरी नसीहत थी, जो वे बार-बार देते थे और इस पर सब से ज़्यादा ज़ोर देते थे। चूँकि हम में से कोई भी फ़ारसी न समझता था, इसलिए इसका मतलब भी व्याख्या सहित समझाते थे। 'एक कस्ब में, पेशे में या हुनर में यदि कोई आदमी निपुणता प्राप्त कर ले तो वह अपने-आप लोकप्रिय हो जायगा,' वे कहा करते थे, 'कोई काम करो, पर उसे कमाल तक पहुँचा दो!' ...मेरे दो छोटे भाई कसरत करते थे, खूब हृष्ट-पुष्ट थे। उन्हें वे लड़ाई और गुण्डई के गुर बताते थे और कहते थे कि लड़ाके या गुण्डे बनो तो शहर के सब से बड़े गुण्डे कहलाओ। लोग देखें और कहें कि 'यह पण्डित माधोराम का लड़का शहर का सब से बड़ा गुण्डा है।'...मैं कुछ शे'र-वेर कहता था। मेरे शे'र सुनते थे; पीठ ठोंकते थे और कहते थे कि बेटा, शायर बनो तो शेक्सपियर और टैगोर को मात करो! तुम अपने-आप हर-दिल-अज़ीज़ हो जाओगे। —कस्बे-कमाल कुन कि अज़ीज़े-जहाँ शवी!

चौथी नसीहत वे यह देते थे कि तुम लोगों को हर बात का कुछ-न-कुछ ज्ञान होना चाहिए—'Be a Jack of all trades, लेकिन एक काम में तुम्हें कमाल हासिल करना चाहिए—Be master of one.'

मेरी माँ अत्यन्त धर्म-भीरु, कर्तव्य-परायण तथा पतिव्रता स्त्री थीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि वे न होतीं तो पिता जी कहीं जेल में होते और हम छह-के-छह भाई अपढ़, अशिक्षित, पान-बीड़ी या सोडा-वाटर बेचते अथवा कोई छोटा-मोटा व्यापार करते (कि मुहल्ले के अधिकांश लोग अब भी यही करते हैं।) उन्होंने किस कठिनाई से हम सब को पढ़ाया और पिता जी का कोई व्यसन नहीं लगने दिया, यह लम्बी कहानी है। पर वे बेहद सन्तोषी थीं—'रूखी-सूखी खाय के ठण्डा पानी पी, देख परायी चोपड़ी, न तरसाये जी!' उनका कथन था और वे समझाती थीं कि दूसरों के महल देख कर अपनी झोपड़ी नहीं ढानी चाहिए। वे चाहती थीं कि हम छह-के-छह भाई इकट्ठे रहे, टोकरी ढो कर भी एक-एक रुपया रोज़ कमा कर लायेंगे तो छह रुपये होंगे।. . .लेकिन पिता जी की बातों से मन में ऐसी दुर्दमनीय महत्वाकांक्षा अंकुरित हो चुकी थी कि एक दिन जब वे यही उपदेश दे रही थीं (मैं छठी कक्षा में पढ़ता था) मैंने उनसे कह दिया कि मै या बड़ा आदमी बनूँगा या ख़त्म हो जाऊँगा! और बी० ए० पास करते ही मैं दस रुपये माँ से ले कर लाहौर चला गया और फिर घर की ओर नहीं पलटा।

प्रश्न : क्या शुरू ही से बड़ा साहित्यिक बनने का विचार आप के मन में पैदा हो गया था?

उत्तर : नहीं! बड़ा आदमी बनूँगा, यह मैंने तय कर लिया था, पर कैसा बड़ा आदमी बनूँगा, इसका कोई स्पष्ट रूप तब दिमाग़ में नहीं था। मैं अध्यापक बनना चाहता था, वक्ता बनना चाहता था, रंगमंच का अभिनेता, फ़िल्म-ऐक्टर, पत्रकार, साहित्यिक, फ़ौजदारी का वकील—सब कुछ बनना चाहता था। अपने इस पेंतीस वर्ष के कैरियर में मैंने इन सब का कुछ-न-कुछ अनुभव प्राप्त किया है। मुझे असफलता कहीं नहीं मिली; लेकिन लिखने में, वह भी साहित्य-सृजन में, जो सुख मिला, वह दूसरे किसी पेशे में नहीं मिला। चूँकि सब तरह के काम करता हुआ भी मैं साथ-साथ हमेशा लिखता रहा हूँ, इसलिए दोनों तरह के सुखों की तुलना भी करता रहा हूँ। परिणाम यह हुआ कि १९४६ में जब मैंने अपना अन्तिम पेशा—फ़िल्म—छोड़ा तो फिर कोई और काम नहीं किया। १९४६ से मैं पूरे वक्त

लिखता हूँ, या लिखे हुए को सुरुचि से छपवाने और मार्केट करने में अपनी पत्नी की सहायता करता हूँ। यही कारण है कि लेखन की तुलना में बड़े-से-बड़े प्रलोभन को भी मैं नकार सका।

प्रश्न : क्या माँ की शिक्षा का आप के जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा ?

उत्तर : कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, यह कैसे कहा जा सकता है ? यदि मैं रेडियो और फ़िल्म की चकाचौंध से निकल आया और ज़रूरत होते हुए भी, कुछ वर्ष पहले, एक बड़ी नोकरी से इनकार कर सका तो इसीलिए कि थोड़े में सन्तोष की शिक्षा माँ ने दी थी और चाहे चेतन रूप से मैं उसका विरोध करता रहा, पर अचेतन रूप से उस शिक्षा में ज़रूर मेरा विश्वास रहा। फिर यदि मैं ज़रूरत पड़ने पर अख़बार बेच सका, विज्ञापन बाँट सका, एल-एल० बी० होने के बावजूद, भाई की दुकान में झाड़ू लगा सका या पानी भर सका और जब पत्नी ने १९४६ में प्रकाशन का काम शुरू किया तो स्वस्थ होते ही, किताबों का बैग हाथ में लिये-लिये देश के कोने-कोने में घूम कर दुकानदारों से सीधा सम्पर्क स्थापित कर सका (लेखक होने के दम्भ को छोड़ कर, बिना शर्म या संकोच किये) तो इसीलिए कि माँ बार-बार कहती थी कि बेटा, अपने पाँव धोती हुई कोई बाँदी नही कहाती !

प्रश्न : क्या आर्थिक आवश्यकताओं का आप के साहित्य की प्रेरणा में कोई हाथ नही ?

उत्तर : आर्थिक आवश्यकता मेरे लिखने की कभी प्रेरणा नही रही ! अच्छा लिख कर आज भी, जब प्रकाशकों की कमी नही, कोई पेट भर खा सकता है और बीवी-बच्चों का पेट पाल सकता है, विशेषकर उस हालत में, जबकि वह अत्यन्त ख्याति-प्राप्त न हो, इसमें मुझे सन्देह है। जिन दिनों मैंने लिखना आरम्भ किया था, पारिश्रमिक का रिवाज नहीं था। स्वान्तः सुखाय लिखता था और कोशिश करता था कि लिखे हुए का कुछ-न-कुछ पारिश्रमिक मिल जाय ! आज यद्यपि पारिश्रमिक अच्छा मिलता है तो भी स्वान्तः सुखाय ही लिखता हूँ, लेकिन किसके लिए लिखता हूँ ? इस प्रश्न पर विचार करने से स्वान्तः सुखाय के साथ जन-सुखाय और जन-हिताय की भावना भी चेतन रूप से कुछ-न-कुछ शामिल हो गयी है।

प्रश्न : क्या आप ने कभी पैसे के लिए नहीं लिखा ? कहने का मतलब यह कि जब लिखने की प्रेरणा केवल आर्थिक रही हो।

उत्तर : आरम्भिक जीवन में कुछ ऐसे भी दिन आये, जब मैंने केवल अर्थ-प्राप्ति के लिए लिखा, किन्तु वे रचनाएँ साहित्य के अन्तर्गत आने योग्य नहीं हैं, यह

मैं अब भी मानता हूँ और तब भी जानता था। मैं समझता हूँ कि साहित्य के इतिहास में, जिन लेखकों ने आर्थिक विवशता से लिखा और उच्च कोटि का साहित्य सृजा, तो उस सृजन के मूल में आर्थिक विवशता की अपेक्षा उनकी अन्तः प्रेरणा ही अधिक थी।

प्रश्न : साहित्यकार के रूप में अपने ध्येय पर पहुँचने के लिए आप को किन संघर्षों से जूझना पड़ा ?

उत्तर : जहाँ तक संघर्षों का सम्बन्ध है, मुझे निरन्तर पाँच-छह मोर्चों पर एक साथ जूझना पड़ा है—शिक्षा, स्वास्थ्य, जीविका, घर, साहित्य और आत्म (याने अपने दोषों) के फ़्रण्ट पर !

ऐसे निम्न मध्यवर्गीय परिवार में, जिसमें छह भाई हों और पिता कभी-कभी सारे-का-सारा वेतन जुए में उड़ा दें, किसी महत्वाकांक्षी लड़के के संघर्ष की कल्पना की जा सकती है। कई बार फ़ीस के लिए पैसे न होते थे, किताबों के लिए पैसे न होते थे, कपड़ों के लिए पैसे न होते थे, दाख़िले के लिए पैसे न होते थे। मैंने हमेशा पुस्तक-विक्रेताओं से दोस्ती बनाये रखी और दुकानों के पिछले हिस्सों में बैठ कर अध्ययन किया। कपड़ों की कमी के कारण सारा-सारा दिन केवल एक तहमद बाँध नंगे बदन रहा हूँ। मैट्रिक तक नंगे पाँव स्कूल जाता रहा और साइकिल न होने से एफ़० ए० में, दुर्बल स्वास्थ्य के बावजूद, एक बरस तक तीन-साढ़े-तीन मील पैदल चल कर कॉलेज जाता रहा हूँ।

प्रश्न : शिक्षा सम्बन्धी संघर्ष से आप का क्या अभिप्राय है ? क्या आपको आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ा ?

उत्तर : शिक्षा के सम्बन्ध में सब से कठिन संघर्ष तो पहले मुझे अपनी इस भावना पर विजय पाने के लिए करना पड़ा कि मेरा दिमाग अच्छा नहीं। मेरे छोटे भाई पढ़ने में बड़े तेज़ थे। हमेशा फ़र्स्ट-सेकिण्ड आते थे। मैट्रिक तक तो गणित मेरी जान खाये रहा। एफ़० ए० में मैं सेकिण्ड डिवीज़न में आया। बी० ए० मे मैंने घोर श्रम किया; पढ़ने का शौक भी बहुत हो गया; रस भी मिलने लगा, पर परीक्षा में उत्तर कैसे लिखने चाहिएँ, यह न जानने के कारण थर्ड डिवीज़न में पास हुआ। ऐसी निराशा मुझे कभी ज़िन्दगी में नहीं हुई, लेकिन लाहौर में तीन बरस नौकरी करने के बाद मैं फिर लॉ कॉलेज में दाखिल हुआ। बड़े भाई जिस जगह मरीज़ों के दाँत निकालते थे, उसके ऊपर छोटी-सी परछत्ती पर मैं पढ़ता था। फ़ीस जुटाने के लिए ट्यूशन करता था और हर सप्ताह पाँच रुपये पर एक साप्ताहिक के लिए

कहानी लिखता था, इस पर मेरी पहली पत्नी को यक्ष्मा हो गया, उसकी सेवा-शुश्रूषा करता था। मुझे परीक्षा की तैयारी के लिए पौने दो महीने मिले, पर इस बीच में योग्य लड़कों की संगति से, मैंने दिन-रात पढ़ने और बीमार न होने तथा ठीक से प्रश्न-पत्र देने के सभी गुर सीख लिये और एल-एल० बी० में ७०० लड़कों में सातवें या आठवें नम्बर पर पास हुआ।

साहित्यिक के लिए ज्ञान-प्राप्ति हमेशा की समस्या है। मुझे अफ़सोस है कि जीवन के अभावों ने मुझे शुरू में सत्साहित्य पढ़ने का उतना सुयोग नहीं दिया, लेकिन मैंने हिम्मत नहीं हारी। १९३८ में, याने लिखना शुरू करने के बारह साल बाद, मैंने विदेशी साहित्य पढ़ना शुरू किया। १९४७ में मैंने ताल्स्ताय का 'वार एण्ड पीस' पढ़ा और 'आना कैरानिन' तो अभी गत सप्ताह ख़त्म किया है और मेरा यह संघर्ष जारी है।

प्रश्न : स्वास्थ्य क्या आप का पहले से कमज़ोर रहा कि आप को शुरू से इस फ़्रण्ट पर संघर्ष करना पड़ा ?

उत्तर : हाँ, स्वास्थ्य मेरा बचपन ही से कभी ठीक नहीं रहा। पाँच बरस का था कि पिता की मार के कारण आँतों के भयानक रोग का शिकार हो गया। मैट्रिक तक मैं प्रायः बीमार रहा। आठवीं में बीमारी के कारण परीक्षा में नहीं बैठ सका। लेकिन कॉलेज में जाने के बाद मैंने अगले दस वर्ष तक लगातार व्यायाम अथवा सैर से स्वास्थ्य बनाये रखा। फिर घोर संघर्ष और श्रम के कारण १९४१ ही से मेरा स्वास्थ्य ख़राब रहने लगा। अज्ञान ही उसका एक मात्र कारण था। उस वक्त, जब मुझे ख़ूब आराम करना और पौष्टिक भोजन लेना चाहिए था, मैं व्यायाम करता था और उबली सब्ज़ियाँ खाता था। पहले मुझे शूल-रोग हुआ। फिर टी० बी०। पर जब मुझे एक बार ग़लती का पता चल गया, मैंने उसे सुधारा। स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं रहता, पर मैं उसे सम्हाले रखने का प्रयास करता हूँ।

प्रश्न : रोज़ी के लिए आप का अधिक संघर्ष तो साधारण निम्न मध्यवर्गियों का-सा ही होगा या उसमें भी कुछ भिन्नता रही ?

उत्तर : किंचित् ! यदि केवल रोज़ी की बात हो तो मैं समझता हूँ कोई कठिनाई नहीं। मेहनती आदमी अपना और अपने कुटुम्ब का पेट पालने भर को हमेशा कमा सकता है। पर मेरे साथ समस्या रही है, स्वाभिमान के साथ, अपने साहित्यिक की रक्षा करते हुए, रोज़ी कमाने की ! और इसीलिए मैंने दसियों काम और दसियों नौकरियाँ कीं। मुझे कभी बेरोज़गारी का

सामना नही करना पड़ा, क्योंकि मैंने दयानतदारी से श्रम करने में किसी तरह की शर्म और संकोच से काम नहीं लिया।

प्रश्न : आपत्ति न हो तो घरेलू फ़्रण्ट पर अपने संघर्ष का भी कुछ ब्योरा दीजिए।

उत्तर : घरेलू फ़्रण्ट पर संघर्ष घोर रहा है। पुरानी और नयी मान्यताओं के संघर्ष से पैदा होने वाली परिस्थितियों से भी जूझना पड़ा है। पहली पत्नी अपढ़ थी। किसी योग्य हुई तो टी० बी० के घातक रोग में ग्रसित हो गयी। हमारे मुहल्ले में यक्ष्मा से बीमार औरत पाँच-छह महीने से ज़्यादा नहीं जीती, पर मैं दो साल तक अपनी पत्नी की बीमारी को खींच ले गया। उस अभाव-ग्रस्त ज़माने में किसी-न-किसी तरह सात महीने तक मैंने उसे सेनेटोरियम में भी रखा और पहाड़ पर भी ले गया। वह नहीं बची। फिर मैंने पाँच बरस तक विवाह नही किया। विचार था, अब विवाह नहीं करूँगा। लेकिन हमारे समाज में कुँआरे या रँडुवे के साथ बीस कलंक-कहानियाँ जुड़ जाती हैं—विशेषकर यदि वह कवि और लेखक भी हो। इन्ही जुगुप्साओं से बचने और शान्ति से रह पाने के लिए १९४१ में मैंने दूसरी शादी की। एक ही महीने मे पता चल गया कि सख़्त ग़लती हो गयी है, इस शादी को निभाने का मतलब ग़लतियाँ करते जाना और साहित्यिक बनने के स्वप्न को तिलांजलि देना है—सो उसे छोड़ने का फ़ैसला किया। नौकरी छोड़ी और दिल्ली आया। वहाँ तीसरी शादी की। पत्नी बहुत पढ़ी-लिखी, समझदार, प्रबल इच्छा-शक्ति वाली, पर मेरे सामाजिक स्तर से किंचित् ऊँचे स्तर वाली निकली। उसके साथ निभाने के लिए भरसक संघर्ष किया है। अपने-आपको काफ़ी बदला है। बीस वर्ष निकल गये हैं। कोशिश कर रहा हूँ कि शेष भी अपेक्षाकृत सुख से निकल जायँ !

प्रश्न : इन सब परिस्थितियों में आप ने अपने साहित्यिक को कैसे बचाये रखा ?

उत्तर : मुझे सन्तोष है कि और मोर्चों पर चाहे मैं किंचित् असफल भी रहा, इस मोर्चे पर मैं यथेष्ट सफल हुआ हूँ। पंजाब में जन्म लेने वाले अधिकांश ब्राह्मण युवकों की तरह मैंने छठी तक उर्दू और उसके बाद हिन्दी पढ़ी। हिन्दी के नम्बर तब डिवीज़न में शामिल नहीं होते थे। एफ़० ए० और बी० ए० में केवल ५० नम्बर की हिन्दी थी। मैं कितनी हिन्दी जानता था, इसकी कल्पना आप इस एक बात से कीजिए कि जब १९३३ में मैंने हिन्दी में भी साथ-साथ लिखने का फ़ैसला किया तो 'प्रिय' को मैं 'प्रीय' लिखता था और 'लगन' और 'लग्न' का अंतर तो मैं १९४६ तक नहीं जान पाया। लेकिन न केवल घोर श्रम से मैंने उर्दू सीखी, उर्दू कथाकारों

की प्रथम पंक्ति में जा खड़ा हुआ, वरन् जब हिन्दी मे लिखने लगा तो उसी श्रम से मैंने हिन्दी भी सीखी और यह 'सीखना' अभी तक जारी है। मेरी कोई ही रचना होगी, जिसको मैंने तीन-चार बार न लिखा हो और कुछ रचनाएँ तो मैंने पाँच-पाँच बार भी लिखी हैं। मुझे काटने-छाँटने और सॅवारने में रस भी मिलता है। मुझे इस बात का पूरा अहसास है कि मेरे पास उल्का की तरह साहित्याकाश पर छा जाने वाली प्रतिभा नहीं है, पर मुझे अपने श्रम और ग्रहणशीलता पर पूरा भरोसा है, पुराने और नये लेखकों, आलोचकों—विशेषकर निन्दकों—तथा पाठकों की सम्मतियों से मैंने सदा लाभ उठाया है। आत्मालोचन की हिस मैंने बड़ी साधना से पैदा की है और जो मेरे पास नही है, श्रम और साधना से उसे पा लेने का मुझे पूरा-पूरा विश्वास है।

लेकिन जैसा कि मैंने कहा, सब से बड़ा संघर्ष जीवन में मुझे अपने साथ करना पड़ा है और इस संघर्ष का अन्त मुझे दिखायी नहीं देता। आदमी प्रायः अपने दोषों को नही जानता और अपेक्षाकृत सुखी रहता है। मेरा दुर्भाग्य है कि मै अपने दोषों को भी जानता हूँ। जो लेखक दूसरे व्यक्तियों के दोषो पर निर्मम प्रहार करता है, वह खुद को कैसे क्षमा कर सकता है? मेरे कुछ ऐसे दोष थे जो मेरे आगे बढ़ने के मार्ग की वाधा थे। उनमें से कुछ पर मैंने अधिकार पाया और कुछ को गुणों में परिवर्तित कर लिया कि लोगों को मेरे वे दोष (जो निश्चित रूप से दोष हैं) गुण दिखायी देते हैं, लेकिन अहं-गत, सेक्स-गत और स्वभाव-गत मेरे कुछ ऐसे दोष है, जो मेरे खून का अंग है, जन्म-गत है, उन पर विजय पाना बड़ा ही कठिन है। निरन्तर मैंने उनके साथ संघर्ष किया है। मुझे यह स्वीकार करने में संकोच नही कि मैं सफल नही हुआ! तो भी इतना सन्तोष ज़रूर है कि उस हानि को, जो उनसे सम्भव थी, मैंने इस संघर्ष से कम ज़रूर किया है।

प्रश्न : आप के जीवन में सब से बड़ा संकट क्या था और उस पर आप ने कैसे विजय पायी?

उत्तर : चूँकि आदमी को अपनी ज़िन्दगी सब से प्यारी है, इसलिए मैं उस संकट को सब से बड़ा समझता हूँ, जो प्राणों पर आता है। १९३६ में जब मेरी पूरी कोशिशों के बावजूद, लगभग दो साल की लम्बी बीमारी के बाद, मेरी पहली पत्नी का देहान्त हो गया तो मेरा मन बेहद उदास हो गया था और कभी-कभी उस उदासी में जीवन एक-दम बेकार और बेरस लगता था और मन आत्महत्या की सोचता था। ऐसे घोर अवसाद के क्षण में मैंने

शान्ताराम की फ़िल्म 'आदमी' देखी, जिसका अंग्रेज़ी शीर्षक---लाइफ़ इज़ फ़ार लिविंग---था। उस कहानी के नायक की समस्या भी कुछ मेरी समस्या जैसी ही थी और शान्ताराम ने जो हल सुझाया, उसने जैसे मेरी आँखों के आगे से पर्दा-सा हटा दिया। चूँकि मन साहित्य-सृजन में भी न लगता था, इसलिए मैंने वक्त काटने के लिए उर्दू में लिखे जाने वाले हिन्दी गीतों का संकलन करना शुरू कर दिया। दिन-दिन भर पत्र-पत्रिकाओं के दफ़्तरों में घूमा करता और गीतों का संग्रह करता। मेरी पुस्तक---उर्दू काव्य की एक नयी धारा---उसी ज़माने की याद है। उस फ़िल्म अथवा उसमें निहित नसीहत का प्रभाव मुझ पर हमेशा रहा। दूसरी बार १९४६ में जब मैं बीमार हुआ और बाइस दिन के० ई० एम० अस्पताल (बम्बई) में रहने और निरीक्षण कराने के बाद पता चला कि मुझे राज-यक्ष्मा है तो मैं विचलित नहीं हुआ। उसी शाम को मैंने तय कर लिया कि मैं मौत की बात नहीं सोचूँगा, ज़िन्दगी की बात सोचूँगा और मैं कविता लिखने लगा। दूसरी शाम जब मेरी पत्नी मुझ से मिलने आयी, मैंने उसे कविता के पहले बन्द लिखा दिये। मुझे उठ कर बैठने की मनाही थी। मैं लेटा-लेटा याद के बल पर कविता करता और दूसरी सुबह या शाम पत्नी को कविता लिखा देता। अस्पताल से घर आने पर भी मैंने यह क्रम जारी रखा और तीन सप्ताह में अपनी प्रसिद्ध कविता 'दीप जलेगा' लिखी। (मेरे पास इस बीच में मित्रों और पाठकों के कई पत्र आये हैं कि इस कविता से उन्हें बल मिला है और इसने उन्हें अपनी बीमारी से जूझने की प्रेरणा दी है। मुझे सन्तोष है कि उस कविता से मुझे ही नहीं, दूसरों को भी लाभ पहुँचा) बम्बई से पंचगनी के सैनेटोरियम में गया तो वहाँ छह महीने तक मुझे उठने की इजाज़त नही मिली। लेकिन 'दीप जलेगा' लिख कर मैं 'बरगद की बेटी' लिखने लगा और वह पूरे-का-पूरा खण्ड-काव्य मैंने उसी तरह लेटे-लेटे याद के बल पर लिखा। फिर मुझे उठ कर बैठने और बैठे-बैठे काम करने की आज्ञा मिल गयी। बीमारी के पौने दो साल में मैंने जो पुस्तकें लिखीं, उन्हीं के बल पर इलाहाबाद के पहले वर्ष, जब मेरे पास पूँजी का सर्वथा अभाव था, मेरा काम चला।

प्रश्न : अपने किस काम में आप को सर्वाधिक सन्तोष मिला ?

उत्तर : ज़िन्दगी में सर्वाधिक सन्तोष मुझे एल-एल० बी० की परीक्षा में ७०० छात्रों में से सातवें नम्बर पर आने और अपने साथ पढ़ने वाले अपने एक

मित्र को (जिसने एफ़० ई० एल० में रिकार्ड तोड़ा था और जो मेरा मज़ाक उड़ाया करता था) एक नम्बर से पीछे छोड़ देने में मिला। एल-एल० बी० की तैयारी और परीक्षा मेरी ज़िन्दगी के बड़े ही दुखद प्रसंगों में से एक है। यहाँ उसे पूरी बारीकी से बयान करना कठिन है। संक्षिप्त रूप में यों समझ लीजिए कि जब मैं लाहौर में पढ़ता था, मेरी कहानियाँ और कविताएँ हर सप्ताह छपती थीं और मैं अपने-आप को कुछ समझता भी था, एक दिन अचानक मुझे मालूम हुआ कि मेरे ससुर पागल हो गये हैं; उनके भाई ने उन्हें लाहौर के पागलखाने में भरती कर दिया है; मेरी सास जेठ से लड़ कर लाहौर चली आयी है और उसने एक सेठ के यहाँ सात रुपये महीने पर रोटी पकाने और बर्तन आदि धोने का काम कर लिया है, ताकि लाहौर में रह कर पति की देख-भाल कर सके। मैं स्तम्भित रह गया। मुझे यह किसी तरह स्वीकार न हुआ कि मेरी सास महरी (आप उसे पुरोहिताइन कह लीजिए, पर काम वह महरी ही का था) की नौकरी करे। पर जब मैं उस सेठ के यहाँ गया, (उन्होंने मेरी बड़ी आव-भगत की) मैंने देखा कि मेरी सास ख़ुश है। सोचा तो मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि उस सूरत में जब वह लड़की के घर का अन्न नहीं छू सकती, मुझे इस कर्मठता की प्रशंसा करनी चाहिए कि जेठ के यहाँ अपमान सहने के बदले वह स्वाभिमान से जीवन-यापन कर रही है। लेकिन दुर्भाग्य कि मेरे मुहल्ले ही के एक ऐसे समकक्ष की सगाई उस सेठ की लड़की से हो गयी, जो उसी वर्ष मैजिस्ट्रेट हुआ था और जिससे मन-ही-मन मैं स्पर्धा भी करता था। मेरे लिए वह स्थिति एकदम असह्य हो उठी। बार-बार मुझे ख़याल आने लगा कि जब उसकी शादी होगी तो मेरी पत्नी की स्थिति क्या होगी ? महरी की लड़की की ही ना ! और मेरी ?—महरी के दामाद की ! मैं चाहता था, मेरी सास वहाँ से नोकरी छोड़ दे। पर वह बड़ी सुखी थी। तब मैंने तय किया कि डिप्टी-कलक्टरी के कम्पीटीशन में तो मैं नहीं बैठ सकता (मेरी उम्र ज़्यादा हो गयी थी) पर मैं सबजजी के कम्पीटीशन में तो बैठ सकता हूँ। मेरी पत्नी उस घर में जाय तो जज की पत्नी की हैसियत से जाय, केवल महरी की लड़की की हैसियत से नहीं।

मैं बी० ए० में थर्ड डिवीज़न में पास हुआ था। कम्पीटीशन में बैठने और सफल होने के लिए न केवल फ़र्स्ट डिवीज़न में आने की, बल्कि ऊपर के चन्द लड़कों में स्थान पाने की ज़रूरत थी, क्योंकि कुल ग्यारह लड़के चुने जाने थे। मैं ख़ूब मेहनत से पढ़ने लगा, पर मैं एफ़० ई० एल० ही में

था कि बच्चे के जन्म के बाद मेरी पत्नी बीमार हो गयी। परीक्षा की तैयारी की छुट्टियाँ मैंने उसके पास ही गुज़ारीं, उसका इलाज-उपचार, सेवा-शुश्रूषा भी करता और पढ़ता भी। मैं फ़र्स्ट डिवीज़न में आया, पर मेरा नम्बर सौवाँ था। तब मैंने उस लड़के से मैत्री की, जिसने एफ़० ई० एल० में रिकार्ड तोड़ा था। पढ़ने के और परीक्षा-पत्रों के उत्तर देने के सभी गुर सीखे, लेकिन मेरी पत्नी को डॉक्टरों ने टी० बी० बता दी। मैं उसे लाहौर ले आया और पंजाब के वर्तमान वित्तमन्त्री डा० गोपीचन्द भार्गव की मदद से मैंने उसे सैनेटोरियम में भरती करा दिया। अब मैं ट्यूशन भी करता, एक साप्ताहिक में कहानी भी लिखता, आठ मील दूर पत्नी को सप्ताह में दो दिन देखने भी जाता और पढ़ाई भी करता। मेरे मित्रों को मेरे पास होने में सन्देह था। और मैं उन सभी को पीछे छोड़ने की कसम खाये था। लेकिन एक दिन सैनेटोरियम में डाक्टर ने मेरी पत्नी के बचने के सम्बन्ध में निराशा प्रकट की। पढ़ने का मेरा सारा उत्साह भंग हो गया। जिसके लिए मैं यह सब कर रहा था, जब वही न रहेगी तो मैं काहे को एल-एल० बी० करूँ और काहे को सबजज बनूँ? बार-बार यही बात दिमाग़ में आने लगी। दो-तीन दिन तक मैं बेहद परेशान रहा। लेकिन परीक्षा निकट आ गयी थी, तैयारी की छुट्टियाँ होने वाली थीं। तब मैंने तय किया कि मैं पूरी मेहनत से पढ़ूँगा (बावजूद इसके कि एल-एल० बी० करने में कोई तुक न था) और अच्छे नम्बरों से पास हो कर अपने मित्रों, अपने भाइयों और सब से ज़्यादा अपने पिता को दिखा दूँगा कि मैं भी परीक्षा में डिस्टिंक्शन ले सकता हूँ। सच्ची बात यह है कि मैं अपनी मिट्टी को भी परखना चाहता था। तैयारी की छुट्टियों के उन पौने दो महीनों और परीक्षा के दिनों में मैंने सोलह से अठारह घण्टे की औसत से, अन्तिम सप्ताह बाइस घण्टे रोज़ और आख़िरी परीक्षा के दिन २४ घण्टे पढ़ा। ख़याल था पर्चा मुश्किल आयेगा, लेकिन पर्चा बेहद आसान आया, जल्दी में पेपर नहीं पढ़ा, पहला ही सवाल ग़लत कर आया, नहीं चौथे नम्बर पर आता। तो भी जब रिज़ल्ट निकला और मैं सातवें नम्बर पर आया तो उस दुखद परिस्थिति के बावजूद मुझे जितनी ख़ुशी और सन्तोष मिला, वह मुझे ज़िन्दगी में कभी नहीं मिला। पत्नी छह महीने बाद परलोक सिधार गयी। सबजजी के कम्पीटीशन में बैठने का सवाल ही न उठता था। किताबें मैंने बेच दीं और मन को साहित्य-सृजन में लगा दिया।

प्रश्न : गहरी उदासी के क्षण में आप को किस बात से प्रेरणा अथवा उत्साह मिलता है ?

उत्तर : गहरी उदासी प्रायः असफलताओं अथवा मुसीबतों ही में आती है। पहले मैं ऐसे क्षणों में उदास भी हो जाता था, लेकिन मेरी माँ ऐसे अवसरों पर ठंडे दिमाग़ से सोचने की आदी थीं। मैंने भी ऐसे क्षणों में आवेग-रहित हो कर सोचना और अपनी मुसीबतों और असफलताओं से लाभ उठाना सीख लिया। (ज़िन्दगी की कोई ही ऐसी विपत्ति होगी, जिससे मैंने लाभ न उठाया हो और जिसके बल पर मैं एक कदम आगे न बढ़ा होऊँ) विपत्ति में मेरा दिमाग़ गहरी उदासी में डूबने-उतराने की अपेक्षा बड़ी तेज़ी से सोचता है और मैं कोई-न-कोई रास्ता निकाल लेता हूँ। उदास मैं प्रायः तब होता हूँ, जब मेरी कोई रचना मनोनुकूल नहीं बनती या एक-दो सप्ताह तक मैं कुछ नहीं लिख पाता। तब मित्रों से गप लगाने या दूसरों का साहित्य पढ़ने के बाद जब मैं फिर मेज़ पर बैठता हूँ तो मेरा कलम चल निकलता है।

प्रश्न : भाग्य के उतार-चढ़ाव में स्थिर और शान्त रहने का कोई ऐसा अचूक उपाय बताइए जिसे जीवन के अनुभव से आप ने पाया हो।

उत्तर : मैं तो मुसीबतों ही में पला हूँ। बचपन ही से घर पर आये दिन कोई-न-कोई मुसीबत आयी रहती थी। मेरी माँ, जैसाकि मैंने कहा, उन मुसीबतों का शान्त मन से मुक़ाबिला करती थीं और सोच कर कोई-न-कोई रास्ता निकाल लेती थीं। मैं भी अजाने, वैसा करना सीख गया हूँ तो भी दो ऐसे वाक्य हैं जिन्होंने भाग्य के उतार-चढ़ाव में अपेक्षाकृत शान्त रहने में सहायता दी है। एक वाक्य पिता जी का है और दूसरा माँ का।

'अच्छे-से-अच्छे की आशा रखो और बुरे-से-बुरे के लिए तैयार रहो—Hope for the best and prepare for the worst !' पिता जी कहा करते थे और सच ही जब आदमी बुरी-से-बुरी स्थिति के लिए मन को तैयार कर लेता है तो वह शान्त और स्वस्थ हो जाता है और फिर वह उस स्थिति में, जो भी बेहतर हो सकता है, उसकी आशा करने लगता है।

'हमेशा नीचे की ओर देखो—उनकी ओर जो हम से बुरी दशा में है।' मेरी माँ कहती थीं और सच ही जब सख़्त-से-सख़्त मुसीबत या बीमारी में मैंने इर्द-गिर्द निगाह दौड़ायी है तो लोगों को अपने से बुरी मुसीबतों और बीमारियों में ग्रसित पाया है और मन अपेक्षाकृत शान्त हो गया है।

मेरे दिमाग़ पर कॉलेज के ज़माने में सुनी या पढ़ी एक घटना का बड़ा असर है। जहाज़ के डूब जाने पर कुछ लोग एक किश्ती में बच निकले। तूफ़ान का प्रबल वेग था और किश्ती के किसी क्षण भी जल-मग्न हो जाने की आशंका थी। ऐसे में एक व्यक्ति बार-बार सिगरेट जलाने का प्रयास कर रहा था। उसके एक साथी ने झल्ला कर कहा––"तुम क्या कर रहे हो ? किश्ती किसी क्षण भी ग़र्क़ हो सकती है।"

"पर यदि मैं उससे पहले एक सिगरेट पी लूँ तो क्या बुरा है!" उसने उत्तर दिया।

और मैं समझता हूँ उस आदमी का दर्शन भाग्य को चुनौती देने वाला दर्शन है और मैंने अजाने ही इसे भी अपना लिया है।

अर्धशती-प्रसंग

दुख - व्रती निर्माण - उन्मद
ये अमरता नापते पद

—महादेवी

सुरेन्द्रपाल

●●●

अर्धशती-प्रसंग

दो-ढाई साल पहले की बात है, एक दिन मैं आया तो देखा कौशल्या जी भैरव भाई (श्री भैरवप्रसाद गुप्त) के साथ किसी योजना की रूप-रेखा तैयार करने में व्यस्त है। उस समय मैं केवल इतना ही समझ सका कि अश्क जी के सम्बन्ध में कोई ग्रन्थ सम्पादित किया जाने वाला है, उसके सिनाप्सिस के सम्बन्ध में बातें हो रही है।

बाद में मैंने अश्क जी से इसकी चर्चा की तो वे बोले, "यार कुछ नहीं, ये भैरव और कौशल्या. . .बैठे-बैठाये इन्हें बेकार की सूझती है। मेरी पचासवीं वर्षगाँठ पर ये लोग मुझे एक पुस्तक भेंट करना चाहते हैं, उसी के पीछे अभी से लट्ठ लेकर पड़े हैं।"

मैंने पूछा, "क्या अभिनन्दन-ग्रन्थ ?"

"ये लोग कुछ वैसी ही चीज़ तैयार करना चाहते हैं और मेरी राय है कि यदि कुछ करना ही हो तो कोई ऐसी चीज़ तैयार की जाय, जो जनरल रीडर के इंट्रेस्ट की हो। अभिनन्दन-ग्रन्थ-व्रन्थ न कोई ख़रीदता है और न पढ़ता है—माल ग़रीब अश्क का मुफ़्त में पानी हो जायगा और हाथ लगेगी ऐसी चीज़ जो या तो फोकट में बँटेगी या बेकार पड़ी-पड़ी सड़ेगी।" और अश्क जी ने ठहाका लगाया।

कौशल्या जी और भैरव जी की बातों से लगा था कि जिस पुस्तक की वे चर्चा कर रहे हैं, वह अवश्य चार-छह महीने में तैयार हो जायगी, छपे चाहे साल-डेढ़ साल बाद ही। लेकिन अश्क जी की बात सुन कर मैं समझ गया कि उस तरह की पुस्तक

का छप पाना टेढ़ी खीर है। और हुआ भी वही। अश्क जी ने कुछ ऐसी उल्टी-सीधी बातें कीं कि उक्त योजना की तात्कालिक गम्भीरता ही समाप्त हो गयी और उसकी चर्चा भी कुछ दिनों के लिए बन्द हो गयी। फिर कभी बातों-बातों में उसका प्रसंग चलता तो आगे न बढ़ पाता। मुझे लगा कि कौशल्या जी अपने पति की पचासवीं वर्षगाँठ के प्रति अत्यधिक भावुक हैं, लेकिन स्वयं अश्क जी उसे कुछ वैसा महत्व देना नहीं चाहते ! यह देख कर मेरे सामने रेत पर खेलते हुए दो बच्चों का चित्र आ जाता, जिनमें से एक घण्टों बड़ी लगन से घरौंदा तैयार करता है और दूसरा बड़ी लापरवाही से उसे मिनटों में मिटा देता है। कौशल्या जी योजनाएँ बनातीं और अश्क जी एक-दो वाक्य कह कर ही उन्हें छू मन्तर कर देते। लगता कि अन्दर-ही-अन्दर कौशल्या जी अपनी ज़िद पर अड़ी हैं और अश्क जी अपनी। लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, इस सम्बन्ध की सरगर्मी कम होती गयी और मुझे लगा कि कौशल्या जी ने अपना इरादा छोड़ दिया है।

अश्क जी के पचासवें जन्म दिन को जब केवल चार-छह महीने रह गये तो यह चर्चा फिर उठी, लेकिन अश्क जी ने कहा कि अब तो उस तरह का ग्रन्थ तैयार हो पाना मुश्किल है—उपन्यासों पर मदान साहब की पुस्तक छप ही रही है—जितना रुपया तुम लोग उस बेकार की चीज़ पर खर्च करते, वही लगा कर मेरा कविता-संग्रह शानदार ढंग से छपवा दो—ज़रा मित्रों के जलने का लुत्फ़ ही लिया जाय।

कौशल्या जी इस अवसर पर कुछ अतिरिक्त ख़र्च करना चाहती थी ओर अब अश्क जी का सुझाव मान लेने के अतिरिक्त और कोई चारा न था। कविता-संग्रह की पाण्डुलिपि लगभग तैयार थी, इसलिए दिल्ली से काफ़ी क़ीमती काग़ज़ मँगवा लिया गया और छपाई का काम इलाहाबाद के सब से अच्छे हिन्दी-प्रेस—सम्मेलन मुद्रणालय—में शुरू हो गया। ऐसा कर के कौशल्या जी ने एक तरह से हार स्वीकार कर ली थी और अश्क जी अपनी 'कारगुज़ारी' से सन्तुष्ट थे।

लेकिन ऐसा समझना मेरी भूल थी—कविता-संग्रह शानदार ढंग से छापने की बात मान कर कौशल्या जी ने अपनी योजना में अतिरिक्त वृद्धि ही की थी—अश्क जी की पचासवीं वर्षगाँठ के अवसर पर वे कुछ ऐसा करना चाहती थीं, जो किंचित् चौंका दे, लेकिन वह क्या हो, इसके बारे में वे निश्चय न कर पा रही थीं। और वे किसी निश्चय पर न पहुँच सकें, इस सम्बन्ध में अश्क जी पूरी तन्मयता से अपना सहयोग प्रदान कर रहे थे। कौशल्या जी कोई चीज़ व्यक्तिगत स्तर पर करना चाहती थीं, जो कुछ स्थायी महत्व की हो—उसे सार्वजनिक-समारोह का रूप देने की कल्पना उनके मन में कतई नहीं थी। उनकी ऐसी योजनाओं का ढंग यह है कि उसकी सारी आरम्भिक कार्यवाही ऐसे गुप्त रूप से हो कि उसका उद्घाटन

होने पर दूसरा पक्ष सहसा चकित हो जाय। Pleasurable surprise (सुखद आश्चर्य) देना कौशल्या जी को विशेष पसन्द है। उनके रुख़ से लगता था कि अश्क जी की पचासवीं वर्षगाँठ के सम्बन्ध में भी कोई ऐसी ही चकित करने वाली योजना उन्होंने बना रखी है।

अश्क जी के जन्म-दिवस—१४ दिसम्बर—को कुछ ही महीने रह गये थे कि एकाएक पता चला कि रूस के हिन्दी-प्रेमियों द्वारा उस दिन लेनिनग्राद में अश्क-अर्धशती मनाने का आयोजन हो रहा है। उसी अवसर पर उनके उपन्यास 'गिरती दीवारें' के संक्षिप्त संस्करण का रूसी अनुवाद प्रकाशित करने की योजना है, जिसे श्री बारान्निकोव तथा उनकी पत्नी तैयार कर रही हैं। यह ख़बर अत्यन्त अप्रत्याशित थी और यहाँ के साहित्यिक क्षेत्रों में कुछ दिन तक यह चर्चा का विषय बनी रही। लेकिन पन्द्रह-बीस दिन बाद ही इन ख़बरों से भी अधिक अप्रत्याशित ख़बर यह सुनी गयी कि प्रयाग में अश्क जी की अर्धशती मनाने के लिए सर्वश्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय (तत्कालीन मेयर) सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, डा० एजाज़ हुसेन, डा० उदयनारायण तिवारी, प्रकाशचन्द्र गुप्त, श्रीकृष्णदास, श्रीपतराय, डा० जगदीश गुप्त, डा० रघुवंश, मार्कण्डेय, वाचस्पति पाठक, भैरवप्रसाद गुप्त इत्यादि की एक समिति बनी है। अश्क जी के 'सद्प्रयास' से तो नहीं, लेकिन इस नयी स्थिति से कौशल्या जी की योजना अवश्य खटाई में पड़ गयी। उनका आयोजन इस नये आयोजन की तुलना में नक्कारख़ाने में तूती की आवाज़ से अधिक भला क्या सिद्ध होता!

प्रयाग के साहित्यकारों द्वारा जो योजना बनायी गयी थी, उसे केवल स्थानीय स्तर तक सीमित रखा गया था—क्या-क्या किया जायगा, इस सम्बन्ध में कुछ तय नहीं हुआ था—बस इतना तय था कि १४ दिसम्बर को अश्क जी के ५० वें जन्म-दिवस पर बधाई देने के साथ-साथ उन्हें सम्मानित भी किया जायगा। कैसे किया जायगा, इसकी रूप-रेखा पहले-पहल पन्त जी ने सुझायी। उन्होंने कहा कि उस दिन प्रयाग के नागरिकों तथा साहित्यकारों की ओर से अश्क जी को एक अभिनन्दन-पत्र भेंट किया जाय— न केवल यह, बल्कि उन्होंने अभिनन्दन-पत्र का आलेख भी स्वयं तैयार कर देने का वचन दिया। कुछ लोगों को यह बड़ा अजीब-सा लगा कि पन्त जी जैसा वरिष्ठ साहित्यकार अपने से कनिष्ठ साहित्यिक को अभिनन्दित करने में इतना सक्रिय उत्साह दिखाये। जो लोग यह न जानते थे कि पन्त जी मन में अश्क जी को कितना स्नेह करते हैं तथा उनके संघर्षमय जीवन और साहित्य-साधना को

कितनी प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं, उन्हें इस बात से थोड़ी कुढ़न भी हुई। और इस सारे आयोजन से अश्क जी को यदि प्रसन्नता थी तो मित्रों की इसी कुढ़न का आनन्द लेने की। अन्यथा इन सारी चीज़ों को वे अत्यन्त प्रिज़म्प्चुअस (Presumptuous) मानते थे। उनका कहना था कि भाई मित्रों को जलाने की दृष्टि से तो 'यह ख़याल अच्छा है' लेकिन इसे गम्भीरता से नहीं लिया जा सकता। अभी न मेरी आयु ही इसके उपयुक्त है और न कीर्ति ही। आठ-दस साल साहित्य के क्षेत्र में मैं और डॅड़-वॅड़ पेल लेता तो यह सब करना कुछ ठीक भी लगता। यही कारण था कि श्री भैरवप्रसाद गुप्त तथा श्री वाचस्पति पाठक ने (जो इस योजना के सूत्रधार थे) उस समय तक इसकी भनक अश्क जी के कान में नहीं पड़ने दी, जब तक कि पन्त जी के सहयोग से समिति का गठन नहीं हो गया और सदस्यों की स्वीकृति नहीं आ गयी।

इसी बीच लोगों को ख़याल आया कि इस अवसर पर अश्क जी के सम्बन्ध में व्यक्तिगत निबन्ध लिखे जायँ। यहाँ सोचा ही जा रहा था और उधर साप्ताहिक हिन्दुस्तान में जालन्धर के श्री रवीन्द्र कालिया का एक संस्मरण प्रकाशित भी हो गया! इसके कुछ ही महीने पहले नयी कहानियाँ में श्री फणीश्वरनाथ रेणु ने अश्क जी के व्यक्तित्व को ले कर एक अत्यन्त रोचक लेख दिया था। श्री रेणु और श्री कालिया के लेखों से लोगों को बड़ी प्रेरणा मिली और अश्क जी को निकट से जानने वाले प्रयाग के साहित्यकारों में संस्मरणात्मक लेख लिखने की होड़-सी लग गयी।

सब से पहले बड़े उत्साह से मैंने ही लेख लिखना शुरू किया था और सब से पहले मैंने उसे पूरा भी कर दिया, लेकिन उसे जब आरम्भ से अन्त तक पढ़ा तो वह मुझे ही नहीं जॅचा। बात यह थी कि उस एक ही लेख में मैंने अश्क जी के बारे में बहुत-सारी बातें लिख देनी चाही थी--विशेष कर उनके व्यक्तित्व के दोनों पहलुओं याने उनकी तेज़ी और सादालौही के बारे में। परिणाम यह हुआ था कि वह चूँ-चूँ का मुरब्बा बन कर रह गया था। एक-दो लोगों को मैंने पढ़ कर सुनाया तो उन्होंने कहा कि लेख बन तो बहुत अच्छा सकता है, लेकिन अभी इसमें बिखराव और असम्बद्धता बहुत है और फ़ालतू मैटर काफ़ी आ गया है। इसे फिर काट-छाँट कर लिखो तो शायद बन जाय। जल्दी-से-जल्दी लेख तैयार कर देने के उत्साह में मैंने कटाई-छॅटाई भी शुरू कर दी। इसी बीच पता चला कि मार्कण्डेय जी ने अपना लेख पूरा कर दिया है। यह एक अजीब ख़बर थी--कम-से-कम मेरे लिए--क्योंकि उन्होंने तो कभी यह चर्चा तक न की थी कि वे इस तरह का कोई लेख लिखने वाले है। एकदम चुपचाप उन्होने लेख लिख कर पूरा कर दिया था। और वह भी इतना अच्छा कि जिसने भी पढ़ा या सुना उसी ने तारीफ़ की। मैं अपनी उत्सुकता न दबा सका, अपना लेख मैंने बीच ही में छोड़ा, मार्कण्डेय जी वाला प्राप्त किया और उसे

पढ़ डाला। लेख वास्तव में बेहद अच्छा था—वह मात्र संस्मरण न होकर अपने-आप में एक अत्यन्त उत्कृष्ट साहित्यिक कृति थी। इसके बाद मेरा लेख कुछ ऐसा गड़बड़ाया कि 'मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की' वाली बात हो गयी। अन्त में झुँझला कर मैंने उसे एक ओर रख दिया कि अब इस अवसर पर तो यह तैयार होता नहीं, फिर कभी फ़ुर्सत से लिखूँगा। लोग मेरे वाले लेख के बारे में पूछते तो मैं कह देता कि लिखने वाला था, लेकिन लिखा नहीं।

लेखों का सिलसिला जो चला तो चलता ही गया। इलाहाबाद के साहित्यिकों के अतिरिक्त बाहर के भी कुछ साहित्यिकों ने यह सूचित किया कि वे अश्क जी के सम्बन्ध में संस्मरण लिख रहे है। दूरस्थ प्रदेशीय एक युवक बन्धु ने तो लिखा कि वे इस अवसर पर पहले ही से पधार कर हर तरह का योग देंगे। फिर एकाएक पत्र-पत्रिकाओं में वे लेख यदा-कदा प्रकाशित भी होने लगे। इस सब के पीछे भैरव जी के निरन्तर पत्राचार का भी हाथ था, इसमें सन्देह नहीं।

इसी बीच 'नीलाभ प्रकाशन' ने भी एक कारगुज़ारी की। अश्क जी के ज्येष्ठ पुत्र, श्री उमेश अश्क ने अभी हाल ही में 'नीलाभ प्रकाशन' के काम में विशेष सहयोग देना आरम्भ किया था। नयी-नयी योजनाएँ कार्यान्वित करने में उनके उत्साह का अन्त नहीं था। उन्होंने अश्क जी की अर्धशती के सम्बन्ध में भी झट एक योजना बना डाली। अपनी योजना के अनुसार उन्होंने एक परिपत्र छपवाया, जिसमें इस बात की सूचना के साथ कि आगामी चौदह दिसम्बर को अश्क जी की अर्धशती पड़ रही है, इस बात का भी संक्षिप्त उल्लेख था कि रूस में उक्त अवसर पर कैसा समारोह होने जा रहा है, ओर फिर अश्क-साहित्य का परिचय था और अन्त में यह घोषणा थी कि 'नीलाभ प्रकाशन' इस उपलक्ष में अश्क-साहित्य के प्रचार के लिए ख़रीदारों को क्या विशेष सुविधाएँ प्रदान कर रहा है। इस प्रचार-परिपत्र की हज़ारों प्रतियाँ छपवा कर उमेश जी ने पूरे देश के कितने ही प्रमुख व्यक्तियों तथा संस्थाओं को भिजवा दीं। 'नीलाभ प्रकाशन' को तो ख़ैर तात्कालिक घाटा ही हुआ, लेकिन इस प्रचार-पत्र से हिन्दी-जगत में एक सनसनी ज़रूर फैली—विशेषकर इस ख़बर से कि रूस में अश्क जी की अर्धशती मनायी जा रही है। अब यहाँ भी लोगों को अपने कर्त्तव्य का भान हुआ और जगह-जगह से अश्क जी की अर्धशती मनाने के समर्थन में पत्र आने लगे। एक पत्र (या सम्भवतः तार) पंजाब सरकार के भाषा-विभाग से भी आया कि वे लोग पंजाब में अश्क जी की स्वर्ण जयन्ती मनाने की योजना बना रहे हैं। फिर पंजाब की कई साहित्यिक संस्थाओं की ओर से भी उक्त आशय के पत्र आये। लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। इलाहाबाद में चौदह दिसम्बर सम्बन्धी

सारे कार्यक्रम की रूप-रेखा तैयार हो चुकी थी, इसलिए अश्क जी ने लिख दिया कि भाई पंजाब मेरी जन्म-भूमि अवश्य है, लेकिन इलाहाबाद के प्रति भी मेरा कुछ कर्त्तव्य है—आप ने पहले सूचना दी होती तो मैं चौदह दिसम्बर को वहाँ पहुँच जाता। अब तो मैं उक्त तिथि को यहीं रहूँगा, क्योंकि यहाँ का कार्यक्रम टाला नहीं जा सकता; हाँ, अगर आप बाद में किसी तिथि को अपना कार्यक्रम रखें तो मैं आने का प्रयास अवश्य करूँगा। अन्त में पंजाब वालों ने अश्क जी के गृह-नगर जालन्धर में १९ से ले कर २५ तक लगभग एक सप्ताह का कार्यक्रम उनकी स्वर्ण जयन्ती मनाने के सम्बन्ध में निश्चित कर लिया।

महादेवी जी ने प्रयाग के समारोह की अध्यक्षता स्वीकार कर ली और पन्त जी ने अभिनन्दन-पत्र का आलेख तैयार कर दिया—वह छपने के लिए भेज दिया गया। अश्क जी का कविता-संग्रह 'सड़कों पे ढले साये' तथा डा० इन्द्रनाथ मदान की पुस्तक 'उपन्यासकार अश्क' दोनों तेज़ी से छप रही थीं और कौशल्या जी का प्रयास था कि दोनों पुस्तकें १४ दिसम्बर तक अवश्य तैयार हो जायें। भैरव भाई अश्क-अर्धशती सम्बन्धी सरगर्मियों के चलते-फिरते कार्यालय बने हुए थे। लोगों को धड़ाधड़ पत्र लिख रहे थे, पत्र-पत्रिकाओं को प्रकाशनार्थ लेख तथा चित्र भिजवा रहे थे, चन्दा इकट्ठा कर रहे थे और लोगों से मिल-जुल रहे थे। लेकिन एक बात की उन्हें चिन्ता थी—वे चाहते थे कि उक्त अवसर पर अश्क जी का कोई नाटक भी हो और उसकी कोई व्यवस्था न हो रही थी। इसी बीच एक दिन उन्होंने डा० लक्ष्मीनारायण लाल से इस बात की चर्चा की कि क्यों नहीं इस अवसर पर वे अपनी संस्था 'नाट्य-केन्द्र' की ओर से अश्क जी के किसी नाटक या एकांकी को अभिनीत करते। उन्हें आशा तनिक भी नहीं थी कि वे उनके इस प्रस्ताव को स्वीकार करेंगे, क्योंकि उन का ख़याल था कि डा० लाल किसी बात पर अश्क जी से बेहद नाराज़ हैं। लेकिन उन की आशा के प्रतिकूल लाल साहब ने बड़े उत्साह से उनके प्रस्ताव को मान लिया और उसी दिन से अश्क जी के एकांकी 'पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ' के अभिनय की तैयारी बड़े ज़ोर-शोर से शुरू कर दी।

साहित्यिक क्षेत्रों में अश्क जी आत्म-प्रचार के लिए बदनाम हैं, इसलिए कुछ मित्रों का ख़याल था कि यह सारा आयोजन वे स्वयं करवा रहे हैं, पर जो लोग बीच की स्थिति जानते थे, उन्हें अच्छी तरह मालूम है कि जब कौशल्या जी के सामने यह प्रस्ताव आया कि 'नीलाभ प्रकाशन' की ओर से भी इस अवसर पर कुछ ख़र्च हो तो अश्क जी ने उसका सख़्त विरोध किया। "नीलाभ प्रकाशन को अभिनन्दन करना होगा तो वह अपने यहाँ जैसा चाहेगा करेगा," उन्होंने कहा, "आप यदि केवल एक

फूलों का हार पहना देंगे तो वह बहुत होगा, पर इसके लिए मैं एक भी पैसा अपने यहाँ से नहीं ख़र्च करने दूँगा।" और तो और जब डाक्टर लाल ने नाटक के अभिनय के लिए उनके नाटक-संग्रह 'पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ' की कुछ प्रतियाँ माँगीं तो अश्क जी ने इनकार कर दिया। "एक पुस्तक ले कर आप टाइप करा लीजिए।" उन्होंने कहा, "पुस्तकें नीलाभ प्रकाशन से नहीं जायँगी। सवाल पुस्तकों का नहीं, सवाल सिद्धान्त का है।" . . . तभी तय किया गया था कि सभी लेखक चन्दा जमा करें और सब से पहले पाठक जी, पन्त जी और भैरव जी ने चन्दा दिया। समय चूँकि बहुत कम था इसलिए जल्दी-जल्दी में कितनों ही के पास पहुँचा नहीं जा सका, लेकिन जिन साहित्यिकों या साहित्यिक रुचि रखने वालों से चन्दा माँगा गया, उन्होंने इनकार नहीं किया। पन्त जी ने चन्दा देने के साथ-साथ यह सुझाव दिया कि चन्दे से जो धन प्राप्त हो, उसमें से अभिनन्दन-पत्र भेंट करने के लिए लकड़ी के स्टैण्ड में जड़ी कीमती रजत-मंजूषा (कॉस्केट) ख़रीदी जाय, जिसमें रख कर अभिनन्दन-पत्र भेंट किया जाय।

यह एक अजीब बात थी कि न केवल अश्क जी के स्नेही तथा समर्थक ही इस आयोजन से उत्साहित थे, बल्कि उनके विरोधी कहे जाने वाले लोग भी इसमें अपना सक्रिय सहयोग प्रदान कर रहे थे। अभिनन्दन-समिति में ही ऐसे नाम थे, जो परस्पर-विरोधी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते थे। प्रयाग की साहित्यिक गुटबन्दी विख्यात है और किसी भी आयोजन में दोनो गुटों का सहयोग प्रायः सम्भव नहीं हो पाता। इस आयोजन में जो गुटबन्दी एकदम तिरोहित हो गयी, उसके पीछे पाठक जी और भैरव भाई का ही हाथ था।

चौदह दिसम्बर को सुबह आठ-नौ बजे कौशल्या जी ने अपने घर पर एक छोटा-सा अनौपचारिक आयोजन कर रखा था, जिसके सम्बन्ध में कुछ अन्तरंग लोगों को ही सूचना थी। हम मित्रों में तेरह की शाम को ही इस बात की चर्चा थी कि अश्क जी को कल किस तरह बधाई दी जाय। मैंने तय किया कि मैं गेंदे की बड़ी सी फूलमाला और डाक्टर रांगेय राघव की एक पुस्तक अश्क जी को भेंट करूँगा, जिसे कभी मेरे पास देख कर उन्होंने पसन्द किया था।

उस दिन समय पर पहुँचने के लिए अपने नियमित कार्यक्रम के विपरीत मैं तड़के उठ गया और जल्दी-जल्दी तैयार हुआ। लेकिन मैं साइकिल भगाता हुआ अश्क जी के निवास स्थान ५, ख़ुसरोबाग रोड पहुँचा तो पाया कि मुझे काफ़ी देर हो गयी है क्योंकि बैठक का कमरा लोगों से भरा था और अश्क जी तथा दूसरे लोगों के ठहाके गूंज रहे थे। मैं अन्दर पहुँचा तो देखा कविवर सुमित्रानन्दन पन्त और श्री वाचस्पति

पाठक के बीच अश्क जी सामने मसनद के सहारे बड़े ही 'जॉली मूड' में बैठे हैं। उन्होंने पतलून-कमीज़ पर सिलवर ग्रे रंग की किश्तीनुमा गर्म टोपी पहन रखी थी और गले में उनके उसी रंग का स्वेटरकोट और गुलूबन्द था, जो उनके लिए इस अवसर पर विशेष रूप से मिसेज़ डेविस ने बुना था (मिसेज़ डेविस एक वृद्ध अंग्रेज़ महिला हैं, जिन्हें अश्क जी माँ के समान मानते हैं और जो उनके परिवार की सदस्या के रूप में रहती हैं) गोद में अश्क जी के कुछ फूल-मालाएँ पड़ी थीं, जो लोगों ने उन्हें पहनायी थीं और जिन्हें गले से निकाल कर उन्होंने अपनी गोद में रख लिया था। मेरे पहुँचते ही अश्क जी ने बड़ी विनोदपूर्ण मुद्रा में "आ-इ-ए . . . !' कहा और इसके पहले कि वे कोई ऐसी बात कहते, जिस पर लोग ज़ोर का ठहाका लगा देते, मैंने पुस्तक अश्क जी के हाथ में दे दी और वह भारी-भरकम माला उनके गले में डाल दी। गेंदे के ताज़े फूलों का केसरिया रंग पूरे कमरे में भर-सा उठा और मैं अश्क जी के विनोद का लक्ष्य बनते-बनते बच गया और एक क्षण के लिए उनका तथा दूसरे लोगों का ध्यान माला तथा मेरी दी हुई पुस्तक देखने में लग गया।

इतने में फ़ोटोग्राफ़र आ गया और उसने अश्क जी को ठीक से बैठ जाने के लिए कहा और फ़ोकस ठीक करने लगा। अश्क जी ने कहा, "अरे भाई रुको-रुको, ज़रा मुझे अपनी बीवी को तो बुला लेने दो, जिसकी ख़ातिर मैं अपने-आप को यों तमाशा बनाये बैठा हूँ और यह माला-वाला भी पहन लूँ, तब फ़ोटो खींचो !" फिर उन्होंने कौशल्या जी को आवाज़ दी। वे आयीं तो आते ही उन्होंने हँस कर इस बात के प्रति विरोध प्रकट किया कि मेरे वाली माला ने शेष मालाओं को ढक लिया है। अश्क जी ने उस चमकीली माला का सिरा ऊपर निकाल दिया, जिसे नीलाभ प्रकाशन के मैनेजर झा बाबू ने इस अवसर के लिए विशेष रूप से तैयार करवाया था और बोले, "लो अब तो खुश हो—यह सब तुम्हारी ही ख़ुशी के लिए तो है !" और फिर दूसरे लोगों से बोले कि भाई आप लोग भी इधर सरक आइए जिससे सनद रहे और बवक़्त ज़रूरत काम आये। हँसी-मज़ाक के बीच दो-तीन ग्रुप फ़ोटो लिये गये। फिर चाय आ गयी और उसके बाद लोग एक-एक दो-दो कर के उठ चले।

तभी मुझे लगा कि सभी अन्तरंग लोग तो आ गये थे, लेकिन किसी की कमी है जो खल रही है। मैंने ख़याल दौड़ाया कि पन्त जी अपनी भानजी शान्ता जी के साथ आये ही थे, पाठक जी थे ही, भैरव जी, मार्कण्डेय जी, हुनर साहब, लक्ष्मीकांत वर्मा, गुण्ठे जी, शेखर. . .सभी तो थे, फिर रह कौन जाता है ? एकाएक दिमाग़ में कौंध गया. . .चिराग़ तले अँधेरा वाली बात थी. . .लेकिन वे गये कहाँ, इसी अवसर के लिए वे बन्धु सात दिन पहले दूरस्थ प्रदेश से आ कर अश्क जी के यहाँ टिके थे। उनकी अनुपस्थिति के बारे में मैंने अश्क जी से पूछा तो वे ठहाका मार

कर हँस पड़े। बोले, "भाई इस समय वह बनारस में बैठा मेरी अर्धशती मना रहा है।"

मैं कुछ चकित हुआ, "क्या मतलब ?"

अश्क जी हँसे, "भाई उसे बनारस में अपना कोई मामला पटाना था——अब इतनी दूर से वह महज़ मेरी अर्धशती मनाने तो आया नहीं।"

"लेकिन वे तो कहते थे . . ."

"हाँ वह यही कहता है। पर भाई मेरी अर्धशती के लिए 'मुआमला' तो नहीं छोड़ा जा सकता न !" और अश्क जी फिर ठहाका मार कर हँस पड़े। मैंने मन-ही-मन उन मित्र की चाबुकदस्ती की प्रशंसा की कि देखिए एक तीर से दो (या अनेक) शिकार करने में उनका हाथ कितना साफ़ है। अश्क जी के बारे में प्रसिद्ध है कि वे एक तीर से दो के बदले तीन-चार शिकार करते हैं। उनके ये श्रद्धालु निश्चय ही उनसे दो कदम आगे जायेंगे, इसका मुझे विश्वास हो गया।

वहाँ से विदा हो कर मैं सीधा घर पहुँचा कि फिर शाम वाले समारोह के लिए समय पर पहुँच सकूँ।

"पाँच बजे शाम से कार्यक्रम था, इसीलिए मैं घर से चार बजे के करीब चल पड़ा। अश्क जी के यहाँ पहुँचा तो मुझे यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वे दूरस्थ प्रदेशीय मित्र डटे बैठे हैं। खैर सुबह का भूला शाम को घर आ जाय तो उसे भूला नहीं कहते——उधर बनारस में (अपने कथनानुसार) वे 'मुआमला' भी पटा आये थे और अश्क जी की अर्धशती में शामिल होने के लिए वक्त से पहुँच भी गये थे।

तभी चलने की तैयारी होने लगी और एक अजीब अफ़रा-तफ़री मच गयी। जिसे जो भी सवारी मिली, उसी पर बैठ कर प्रयाग महिला विद्यापीठ के साउथ मलाका वाले हॉल की ओर चल पड़ा। अश्क जी को लिवाने के लिए कार आ गयी। संयोग कुछ ऐसा हुआ कि कार में जगह न रह गयी थी, इसलिए मैं और वे दूरस्थ-प्रदेशीय बन्धु एक ही रिक्शे पर बैठ कर रवाना हुए। मेरा ध्यान तो इस बात में लगा था कि यह कमी रह गयी, वह नहीं हो सका, भैरव भाई कहेंगे कि लो तुम पर अमुक-अमुक काम छोड़े और तुम्हारी लापरवाही से उन्हीं में खामी रह गयी और इधर वे बन्धु थे कि अपनी कुहनी से ठहोका लगा कर बार-बार पूछ रहे थे, "तो सुरेन्द्र भाई, किस जगह लगी है नुमाइश ?" मैंने एकाध बार कहा भी कि जहाँ चल रहे हैं उसके पास ही लगी है, पर इससे ज़्यादा नुमाइश के बारे में मैं उस परेशानी में उन्हें तब कुछ नहीं बता सका। . . .और हम साउथ मलाका पहुँच गये। . . . हॉल बाहर-भीतर सजा हुआ था और लोगों का ताँता लगा था। हॉल में पहुँच कर

मैं व्यवस्था सम्बन्धी काम में उलझ गया और उन दूरस्थ-प्रदेशीय बन्धु से मेरा साथ छूट गया और नुमाइश के सम्बन्ध में उनका ज्ञान-वर्धन करने की बात अधूरी रह गयी।

हॉल में कुर्सियों पर प्रयाग के साहित्यिकों और नागरिकों का समूह बैठा था और सामने मंच पर अश्क जी, पन्त जी, महादेवी जी, डा० उदयनारायण जी तिवारी और प्रकाशचन्द्र जी गुप्त बैठे थे—भैरव जी का पता नहीं लग रहा था कि कहाँ छिपे हैं और कौशल्या जी महिलाओं के बीच में एक ओर इस तरह बैठी थीं जैसे वे दर्शक मात्र हों।

समारोह की कार्यवाही भारती वन्दना से आरम्भ हुई, जिसके बाद मॉरिशस से आये हुए श्री रामेश्वर ओरी ने अश्क जी के अभिनन्दन में एक कविता पढ़ते हुए मॉरिशस-वासियों की ओर से उन्हें अर्धशती सम्पन्न करने पर बधाई दी। इसके बाद डॉ० उदयनारायण जी तिवारी ने अश्क जी का संक्षिप्त-सा परिचय देते और अपनी शुभकामनाएँ प्रकट करते हुए कहा—"प्रयाग-निवासियों का यह सौभाग्य है कि जिस नगर में कविवर सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा तथा निराला जी का वास है, वहीं पर अश्क जी भी आ कर बस गये हैं।"

फिर प्रकाशचन्द्र जी गुप्त ने इस अवसर पर आये हुए बधाई के तार तथा पत्र पढ़ने शुरू किये। जब गुप्त जी तार पढ़ रहे थे तो उन्हें बीच में रोक कर दो तार और दिये गये जो उसी समय हाल में ही डिलिवर हुए थे। एक तार श्री बारान्निकोव द्वारा रूस के हिन्दी-प्रेमियों की ओर से भेजा गया था और दूसरा बनारस से उर्दू के कुछ प्रमुख साहित्यकारों के पर्यटक दल का था, जिसे भेजने वालों में सर्वश्री सज्जाद ज़हीर, कृष्णचन्द्र, ख्वाजा अहमद अब्बास, महेन्द्रनाथ, साहिर लुधियानवी, कैफ़ी आज़मी, प्रकाश पण्डित . . . आदि के नाम थे। लोगों को इस बात पर बड़ा आश्चर्य हुआ कि रूस वालों ने जो तार भेजा, वह यहाँ ठीक १४ तारीख़ को ऐन उस समय मिला जब अभिनन्दन की कार्यवाही शुरू थी। गुप्त जी ने जो संदेश पढ़े, उनमें सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, जगदीशचन्द्र माथुर, राजा राधिका-रमणप्रसाद सिंह, राय कृष्णदास, डॉक्टर नगेन्द्र, बच्चन, लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के हिन्दी-अध्यक्ष प्रोफ़ेसर बिस्क्रोवनी, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, हंसराज रहबर, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, शमशेरबहादुर सिंह, गोपालप्रसाद व्यास, डॉ० बच्चन सिंह, विनयमोहन शर्मा, डॉ० रामदरस मिश्र, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, अजित, दुष्यन्त-कुमार, राजेन्द्रसिंह बेदी, विक्टर बालिन (मास्को), श्री मोहनलाल भट्ट (वर्धा), श्री गो० प० नेने (पूना), एस० एन० मूर्ति (मद्रास), ब्रिगेडियर रामसिंह, एरिया
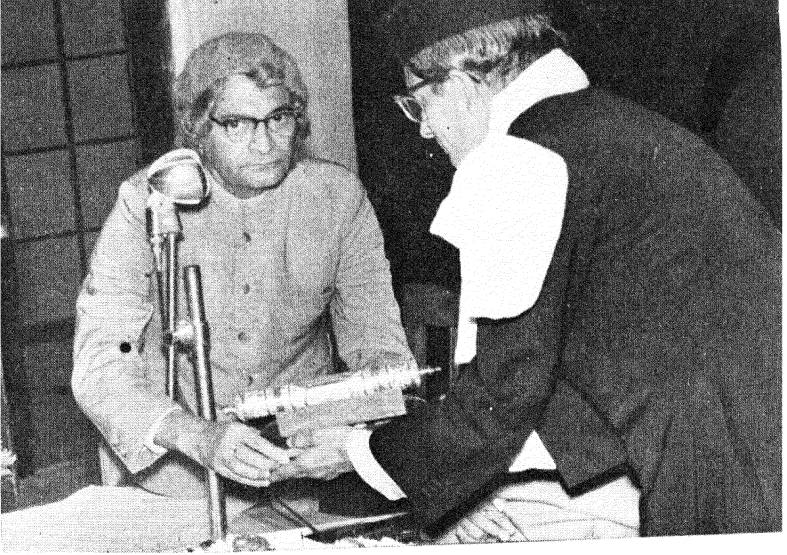
अर्धशती-समारोह में कविवर पन्त अश्क जी को रजत-मंजूषा भेंट करते हुए

अश्क :
कृतज्ञता-प्रकाश

पचासवीं वर्ष-गाँठ की सुबह : मित्रों की शुभकामनाएँ
कविवर पन्त, अश्क, पाठक जी, भैरव, मार्कण्डेय, गुण्ठेजी, सुरेन्द्रपाल

अश्क स्वर्ण-जयन्ती पर
जालन्धर में
उपशिक्षा-मन्त्री
श्री यश संदेश पढ़ते हुए
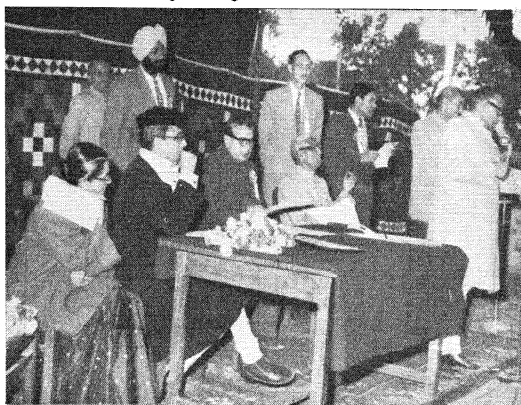
साहित्य-संगम
जालन्धर
की ओर से
अभिनन्दन :
अश्क शिक्षा-मन्त्री
अमरनाथ जी
विद्यालंकार के साथ

कमांडर (लखनऊ), श्री बी० पी० ठाकुर (सेलम), श्री गिरिराज किशोर (अहमदाबाद), रेवती रंजन सिनहा (कलकत्ता) के नाम प्रमुख हैं।

इसके बाद कविवर सुमित्रानन्दन जी पन्त खड़े हुए, एक बार उन्होंने सिर को हल्का-सा झटका दिया और बड़ी ही मीठी वाणी में अभिनन्दन-पत्र पढ़ना शुरू किया :

साहित्य-शिल्पी प्रवर,

आज आप की पचासवीं वर्ष-गाँठ के शुभ अवसर पर इस विश्व-संघर्ष के संक्रान्ति-युग की अर्द्धशती पार कर लेने पर, नव वर्ष के सुनहले सोपान पर आप को चिर प्रसन्न मुख आगे बढ़ते देख कर, हम आप के साहित्य-प्रेमी, प्रशंसक एवं पाठक तथा आप के अभिभावक, सुहृद और साथी——जिन की संख्या निर्धारित करना सरल नहीं——अपने उन्मुक्त स्नेहोच्छ्वसित हृदय की अनेकानेक शुभ कामनाओं तथा मंगल भावनाओं के साथ आपका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

जीवन के अश्रान्त पथिक,

अपने संघर्ष निरत जीवन के अनेक संकटापन्न मोड़ों तथा परिस्थितियों को लाँघ कर, एक सुज्ञ, प्रबुद्ध विजेता की तरह उनसे अदम्य बल, साहस तथा प्रेरणा ग्रहण कर, आप साहित्य की कृच्छ साधना में निरन्तर अपने अप्रतिहत उत्साह से अग्रसर होते रहे——यह आगे की पीढ़ियों के वाणी-पुत्रों के लिए सदैव एक आदर्श तथा उदाहरण के रूप में रहेगा। अनेक कष्टप्रद रोगों से आक्रान्त रहने पर भी आप की अपराजित जीवन-चेतना तथा अतुल प्राण-शक्ति ने युग की विफलताओं के खंडहरों के ऊपर अपने दृढ़ संकल्प तथा अविराम ध्रुव लगन से मानव-जीवन के गहन वैचित्र्य तथा अनुभूतियों के सौन्दर्य से पूर्ण साहित्य का विराट् प्रासाद उठा कर उसके स्वर्णिम शिखर पर अपनी अक्षय कीर्ति की विजय-ध्वजा फहरायी——नवयुग की किरणें उसकी शुभ्रिमा से लिपट-लिपट कर बार-बार उसका अभिनन्दन करती है।

कला के अक्लान्त श्रमिक,

आप की बहुमुखी उर्वर प्रतिभा के प्रकाश से उर्दू तथा हिन्दी साहित्य अपने को गौरवान्वित अनुभव करते है। अपने श्रेष्ठ उपन्यासों, कहानियों, नाटकों, निबन्धों, आलोचनाओं तथा कविताओं द्वारा, युग-जीवन के विविध पक्षों का गम्भीर चित्रण कर आपने इस क्षोभ-संशय, ह्रास-विघटन, विकास

तथा निर्माण के परिवर्तनशील संधिकाल के मानव-जीवन के जटिल रहस्यों का नवीन दृष्टि से उद्‌घाटन कर, उसे समझने, सुलझाने तथा सँवारने में जो सहायता दी है, वह इस धरती के जीवन-यथार्थ के प्रति आप की अविचल, अपराजेय आस्था का जीवन्त प्रमाण है। मानव-सत्य के मूल्यों को जीवन-वास्तविकता के गहरे कर्दम में से खोज-निकाल कर आपने उसे मानव-हृदय के सुख-दुख, आशा-निराशा, कटुता-मधुरता तथा अन्धकार-प्रकाश की समग्रता में सॅवारा और संक्रान्ति-युग की परिस्थितियों के अश्रु-स्वेद-रक्त से नवीन सामाजिकता के बीज को सींच कर उसे विशाल प्रच्छाय वट वृक्ष में परिणत किया है; उसकी ऊँचाइयाँ जहाँ मानवता की रश्मियों से मण्डित है, वहाँ उसकी जड़ें नवीन क्षमताओं तथा संकल्पों की बाँहों में धरती के प्राणों को बाँध कर नवीन जीवन-मूल्यों की स्थापना करती है। आज के जाति-पाँति-वर्गों, रूढ़ि-रीति-सम्प्रदायों तथा आर्थिक-राजनीतिक स्वार्थों की संकीर्णताओं को अतिक्रम कर आपके लोक-मंगलकारी कलाकार के व्यक्तित्व ने कभी भी प्रगति के वैयक्तिक तथा सामूहिक लक्ष्य को अपनी सत्य-अन्वेषिणी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया।

युग प्रबुद्ध द्रष्टा,

हम किन शब्दों में आप के सिन्धु के समान सृजन-आन्दोलित व्यक्तित्व के प्रति अपने हृदय के आदर-अनुराग को वाणी देकर आपका अभिवादन करें? एक बृहद् पर्वत अधित्यका जिसमें अनेकों ऊँचाइयों-गहराइयों के स्तर, अनेक रश्मि-स्मित शिखर तथा भाव-गहन विषण्ण घाटियाँ, जिसके धूप-छाँह के लोक में अनेक रंग-मुखर पुष्प-पल्लव-कुंज, कँटीली गुल्म-झाड़ियाँ, कलकण्ठ पिक-चातक से लेकर हिंस्र पशुओं तथा रेंगने वाले विषैले कीड़े-मकौड़े तक एक विराट् सन्तुलन में बँधकर लोकोत्तर दृश्य बन गये हों, उसका वर्णन करना सरल नहीं है। आप का कृतित्व इतना पुष्कल एवं प्रभूत है कि इस थोड़े से समय और स्थान की सीमा में उसका मूल्यांकन करना सम्भव नहीं है। आप की अद्‌भुत प्रतिभा ने साहित्य के जिस क्षेत्र में भी प्रवेश किया, जिस विधा को भी अपनाया, उसे नयी दृष्टि, नये चमत्कार तथा नवीन यथार्थ-बोध से छूकर उसमें सर्वांगीण सौन्दर्य तथा चैतन्य की प्रतिष्ठा की। आप ने निःसन्देह कथा-उपन्यास तथा नाटक-साहित्य की परम्परा के नये आयामों को उभार कर, उसे आगे बढ़ाकर, ऊपर उठाया है। आपके कला-प्रवण हाथों का कुशल स्पर्श हिन्दी कथा-साहित्य को नवीन यथार्थ के सौन्दर्य-बोध से मंडित कर सका।

लोकजीवन के स्रष्टा,

सन् १९१० में, १४ दिसम्बर को, पंजाब प्रान्त के जालन्धर नामक नगर में आप का जन्म एक मध्य-वित्त परिवार में हुआ। सन् १९३६ तक जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव देख कर, उनसे शिक्षा, बल तथा अनुभूति का सार संचय कर, आप ने अपने सशक्त मन को सम्पूर्ण समर्पण तथा निष्ठा के साथ साहित्य-सृजन की ओर संलग्न किया। तब से आप अनवरत अनेकानेक श्रेष्ठ कृतियों से उसे सम्पन्न तथा गौरवान्वित करते आ रहे हैं। सन् १९४८ के उपरान्त आप ने साहित्य तथा संस्कृति के शुभ्र-नील संगम-स्थल प्रयाग में आ कर उसके स्नेहांचल को गौरव प्रदान किया और उसके स्फटिक प्रांगण में अखंड प्रदीप की तरह आप की प्रतिभा की शिखा निष्कम्प आलोक बरसाती रही।

सुहृद्‌वर,

आप का कुशाग्र बुद्धि, हास्यप्रिय, उन्मुक्त, सरल स्वभावयुक्त, मिलनसार व्यक्तित्व आप के मित्रों तथा परिचितों को सदैव अत्यन्त प्रिय रहा है। आज हम समवेत रूप से आपके स्वस्थ, सुख-सम्पन्न, दीर्घ जीवन की मगल-कामना करते हुए अपने हृदयों में नवीन आशा, उत्साह तथा उल्लास का अनुभव कर रहे हैं कि आपकी जीवन्त प्रतिभा, सक्रिय प्रबुद्ध मन तथा निरलस कुशल लेखनी द्वारा आने वाले अनेकानेक वर्षों में हिन्दी भारती की महत तथा अतुलनीय सेवा हो सकेगी और आप के मानस-स्पन्दन की प्रतिध्वनि निरन्तर समस्त भारत में तथा अनेक देशों मे भी अधिकाधिक हृदयों में सुनायी पड़ेगी।

आपके सर्वरूप कल्याण की कामना करते हुए हम हैं——

आपके अनन्य प्रेमी, अभिन्न सुहृद; मुक्तकण्ठ प्रशंसक
और तल्लीन पाठक
प्रयाग के साहित्यिक नागरिक

छपने से पहले मैंने इस अभिनन्दन-पत्र को देखा था और मन में कौतूहल था कि ऐसी कठिन शब्दावली वाला यह अभिनन्दन-पत्र आख़िर बिना बार-बार अटके पढ़ा कैसे जायगा। लेकिन पन्त जी जब पढ़ने लगे तो वे कठिन शब्द एक के बाद एक इस तरह सरल और तरल होते गये कि एक लघु निर्झर के प्रवाह का संगीत उत्पन्न हो गया। तभी यह भी लगा कि पन्त जी ने अश्क जी को कितना बड़ा क्रेडिट प्रदान किया है और कैसी प्रतीकात्मक शब्दावली में उनके पुष्कल और प्रभूत कृतित्व का

बखान किया है, जो बिना अश्क जी का पूरा साहित्य पढ़े नहीं किया जा सकता। यह निश्चित था कि यदि पन्त जी के अतिरिक्त कोई दूसरा इसे पढ़ता तो न केवल बार-बार अटक कर इसकी संगीतमयता नष्ट कर देता, बल्कि इसका अर्थ-सौन्दर्य भी भ्रष्ट हो जाता।

पढ़ चुकने के बाद पन्त जी ने रेशमी कपड़े पर छपा हुआ वह अभिनन्दन-पत्र चाँदी के कास्केट में रख कर अश्क जी को भेंट किया।

इसके बाद महादेवी जी अपना अध्यक्षीय भाषण देने खड़ी हुई। उन्होंने कहा कि अश्क जी साहित्यकार से पहले मेरे अनुज हैं और मेरे निकट वे एक नटखट अनुज हैं। उनके नटखटपन के बारे में क्या कहूँ—आज हम लोग उनकी पचासवीं वर्षगाँठ के अवसर पर यहाँ उन्हें अभिनन्दित कर रहे हैं, मुझे डर लग रहा है कि कहीं बाद में यह न कह दें कि मैंने तो यह आप लोगों से मजाक किया है और मैं तो अभी पचास वर्ष का हुआ ही नहीं।

इस पर हॉल में एक ज़ोर का ठहाका पड़ा। महादेवी जी ने इसके बाद अश्क जी की साहित्यिक क्षमता का उल्लेख करते हुए कहा कि पंजाबी अश्क जी की मातृ भाषा है, उर्दू उनकी धातृ भाषा है और हिन्दी उनकी धर्म माता है। जिस साहित्यिक को तीन-तीन माताओं का स्नेह प्राप्त है, उसकी शक्ति अपरिमित है। फिर उन्होंने अश्क जी के शतायु होने की कामना के साथ अपना भाषण समाप्त किया।

अन्त में अश्क जी दो शब्द कहने को खड़े हुए, लेकिन पहला ही वाक्य उन्होंने ऐसा कहा कि सारा हॉल ठहाका मार कर हँस उठा। उन्होंने कहा कि मेरी पत्नी तीन रोज़ से मुझे रिहर्सल करा रही है कि मैं इस अवसर पर यह कहूँ और वह कहूँ और कोई अंट-संट बात मुँह से न निकालूँ! मुझे इस तरह बोलने का अभ्यास नहीं। इस समय जो कुछ मेरे मन में आता है, वह मैं कुछ शब्दों में आपके सामने रख दूँगा, कोई बात अगर ऐसी-वैसी मेरे मुँह से निकल जाय तो आप क्षमा कर दीजिएगा। अपनी जमा-पूँजी राजयक्ष्मा और सामान आदि पाकिस्तान की भेंट हो जाने का उल्लेख करते हुए, अश्क जी ने कहा कि जब मेरे सामने पंचगनी छोड़ने का प्रश्न आया तो मैं योंही प्रयाग नही आ गया। जालन्धर में मेरा मकान था और दिल्ली में मेरे सगे-सम्बन्धी, पर मैं इलाहाबाद इसलिए आया कि मेरे दो घनिष्ठ मित्र यहाँ रहते थे। एक ने मुझे सपरिवार तीन महीने अपने घर में ठहराया और दूसरे ने मुझे इलाहाबाद में जमाने के लिए हर सम्भव सहायता की (स्पष्ट ही अश्क जी का संकेत श्री श्रीपत राय और श्री वाचस्पति पाठक की ओर था) दूसरे मित्रों का भी उन्होंने उल्लेख किया, जिनका स्नेह और सौहार्द उन्हें मिला। 'इतने पर भी', अश्क जी ने कहा, 'मेरा मन यहाँ नहीं जमा और मुझे प्रायः पंजाब की

याद आती रही और मैं कभी-कभी जालन्धर या चण्डीगढ़ जाने की सोचता था। लेकिन मेरी पचासवीं वर्षगाँठ पर इलाहाबाद वालों ने भेद-भाव भूल कर जिस तरह का स्नेह दिया है, उसने मुझे अभिभूत कर दिया है और मैं कह सकता हूँ कि अकबर इलाहाबादी की तरह अश्क भी आगे से जालन्धरी नहीं, इलाहाबादी ही कहलायेगा।'

इस पर हॉल में हर्षभरी तालियाँ गूँज उठीं। अश्क जी ने अन्त में कहा कि मैं ५० वर्ष का हो गया हूँ, इसलिए मुझे कुछ गम्भीर होना चाहिए, यह बात मेरी पत्नी ने कई बार कई तरह से कही है और आप लोगों ने इतना मान-सम्मान दे कर मुझ से गम्भीर बन जाने की अपेक्षा की है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि मेरी आदतें एकदम बदल जायेंगी—मैं गम्भीर बनने की कोशिश ज़रूर करूँगा, लेकिन मैं वादा नही कर सकता।

अश्क जी के भाषण के बाद समारोह की औपचारिकता समाप्त हो गयी और मंच रंगमंच में बदल गया। पर्दा गिर गया और मंच पर बैठे हुए लोग नीचे दर्शकों के साथ आ बैठे। पूर्व निश्चय के अनुसार 'नाट्य-केन्द्र' ने अश्क जी के एकांकी 'पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ' के अभिनय का आयोजन किया था। मंच को रंगमंच में बदलने और अभिनय शुरू करने के लिए चूँकि कम समय था, इसलिए पहले से ही कुछ तैयारी कर रखी गयी थी। तो भी जो थोड़ा-सा समय तैयारी में लगा, उसके बीच इलाहाबाद नगरमहापालिका के युवक सभासद श्री इन्दुभूषण बैनर्जी ने एक कविता द्वारा अश्क जी को उनकी पचासवीं वर्षगाँठ पर बधाई दी।

'पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ' अश्क जी का ऐसा एकांकी है, जिसमें नाटक खेलने वालों की बदहवासियों का व्यंग्य-चित्र प्रस्तुत किया गया है। नाट्य-केन्द्र के पास अभिनय की तैयारी के लिए समय की बहुत कमी थी, लेकिन उनके पास प्रतिभा-सम्पन्न अभिनेताओं की कमी नहीं थी। जब नाटक शुरू हुआ तो उन लोगों ने बिना विशेष तैयारी के ऐसा चमत्कार उत्पन्न किया कि पूरा हॉल हँसते-हँसते लोट-पोट हो गया और एकाध जगह तो स्वयं अश्क जी ने भी अभिनेताओं की मौलिकता की दाद दी।

नाटक समाप्त हुआ तो लोगों ने अभिनेताओं को उनके उत्कृष्ट अभिनय के लिए और डॉ० लाल को उनके सफल निर्देशन तथा अप्रत्याशित अभिनय के लिए बधाई दी। समारोह का उपसंहार हो चुका था और लोग हॉल से बाहर निकल रहे थे कि किसी ने पीछे से आ कर मेरी बाँह पकड़ ली। मैं अकचका कर पीछे मुड़ा तो देखा, वही दूरस्थ प्रदेशीय बन्धु हैं! बोले—"सुरेन्द्र भाई आप कहाँ चले गये थे, मैं

पूरे हॉल में नज़र दौड़ाता रहा, आप दिखायी ही नहीं दिये, आप कह रहे थे, कहीं पास ही लगी है नुमाइश, अब तो आप फ़्री हो गये हैं, चलिए न मेरे साथ दो मिनट के लिए वहाँ तक।" उन्होंने कुछ ऐसी आजिज़ी से कहा कि मैं न 'हाँ' कह सका और न 'ना' कह सका। मैं सोचने लगा कि देखिए, ये बन्धु अश्क जी की अर्धशती मनाने में विशेष योग देने के लिए सात दिन पहले से आ कर उनके यहाँ डटे रहे, लेकिन बेचारे सुबह के आयोजन में भाग लेने का समय नहीं पा सके और इस समारोह में उपस्थित भी हुए तो नुमाइश के ख़याल ने उन्हें परेशान रखा। तभी उधर से अश्क जी गुज़रे तो उन्होंने कहा—"अश्क जी मैं ज़रा सुरेन्द्रपाल जी के साथ नुमाइश तक हो आऊँ अगर. . ." अश्क जी, उनकी बात पूरी होने से पहले ही मुझ से बोले—"हाँ हाँ ज़रूर ले जाओ भाई, ज़रा इनको यहाँ की नुमाइश में घुमा-फिरा दो।" और वे चल दिये।

मेरी इच्छा थी कि ज़रा अश्क जी के यहाँ जा कर थोड़ी देर बैठूँ और उन्हें इस शानदार अभिनन्दन के लिए अलग से बधाई दूँ, लेकिन अब उन बन्धु का साथ देने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था—एक तो उनका अनुरोध ही टाल पाना मुश्किल था, दूसरे अश्क जी ने भी उसकी ताईद कर दी। मैं सोचने लगा कि बेचारे इतनी देर हॉल में तन से ज़रूर बैठे रहे होंगे, पर उनका मन अपने ही मामलों में उलझा रहा होगा। ख़ैर मन मसोस कर मैं उनके साथ नुमाइश की ओर चल दिया और फिर वहीं से घर चला गया।

दूसरे दिन 'नीलाभ प्रकाशन' के कार्यालय में एक समारोह का आयोजन था। यह आयोजन कौशल्या जी ने 'नीलाभ प्रकाशन' की ओर से किया था। बात यह थी कि कौशल्या जी ने अपने मन में अपनी तरह से अश्क जी को उनकी ५० वीं वर्षगाँठ के अवसर पर अभिनन्दित करने की बात एक बार जो धार ली थी, उसे पूरा करने में उन्होंने कोई कसर उठा नहीं रखी। यह एक भ्रम ही सिद्ध हुआ कि चूँकि प्रयाग में अश्क जी का सार्वजनिक रूप से अभिनन्दन होने की बात उठ खड़ी हुई, इसलिए उनकी योजना खटाई में पड़ गयी। उनके लिए इससे केवल-मात्र इतना अंतर पड़ा था कि उन्होंने अपनी योजना में थोड़ा सा परिवर्तन कर लिया था और वह यह कि पहले वे ऐन अश्क जी के जन्म दिन पर १४ दिसम्बर को 'नीलाभ प्रकाशन' की ओर से आयोजन करने वाली थी, लेकिन जब भैरव जी आदि ने उस दिन अपना कार्यक्रम निश्चित कर लिया तो कौशल्या जी ने अपना कार्यक्रम अगले दिन अर्थात् १५ दिसम्बर को रख लिया।

मैं चूँकि कई दिन से काफ़ी दौड़-धूप कर रहा था, इसलिए १५ को अश्क जी के

घर न पहुँच कर शाम को सीधा 'नीलाभ प्रकाशन' के कार्यालय पहुँचा। इलाहाबाद के मेयर श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय और पन्त जी के अतिरिक्त इलाहाबाद के ढाई-तीन सौ साहित्यिक नागरिक उपस्थित थे, जिनकी आव-भगत मिठाई, नमकीन और काफ़ी से की जा रही थी।

चाय के उपरान्त औपचारिक कार्यवाही आरम्भ हुई।

श्री वाचस्पति पाठक ने अश्क जी के प्रति 'दो शब्द' कह कर इस आयोजन का उद्घाटन किया और 'सड़कों पे ढले साये' की प्रति आगत साहित्यिकों के बीच इस उद्देश्य से घुमा दी कि उस पर प्रत्येक व्यक्ति अपना हस्ताक्षर कर के उसे आगे दूसरे व्यक्ति की ओर बढ़ा दे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि यह सुझाव पाठक जी ने दिया था कि पुस्तक की प्रति 'नीलाभ प्रकाशन' की ओर से ही नहीं, आगत सभी साहित्यिकों की ओर से पन्त जी श्री अश्क को भेंट करें और इस पर सब के हस्ताक्षर हों। अश्क जी के नये कविता-संग्रह की प्रति साहित्यिकों के हाथों में होती हुई पन्त जी के हाथ में पहुँच गयी। वह प्रति सिल्क की जिल्द में बँधी थी और उसके बर्मा टीक के बने हुए नक्काशीदार केस पर चाँदी के पचास सितारे झिलमिला रहे थे और वह अत्यन्त मनमोहक लग रहा था। पन्त जी ने पुस्तक की प्रति भेंट करने के साथ अश्क जी के चुलबुले स्वभाव का ज़िक्र किया और उनकी साहित्य-साधना तथा लगन की प्रशंसा की।

इस उत्सव की एक विशेषता यह भी थी कि इसमें उर्दू के अनेक गण्यमान्य साहित्यकार सर्वश्री कृष्णचन्द्र, ख्वाजा अहमद अब्बास, महेन्द्रनाथ, कैफ़ी आज़मी, बन्ने भाई अर्थात् श्री सज्जाद ज़हीर आदि भी सम्मिलित हुए थे, लेकिन सात बजे उन्हें एक दूसरे आयोजन 'शामे अफ़साना' में सम्मिलित होना था, इसलिए वे लोग जल्दी ही चले गये थे। अश्क जी भी 'शामे अफ़साना' में (जिसे जाने भूल से या जानबूझ कर उन्होंने 'शामे ग़रीबाँ' कह दिया और मित्रों के बीच उसका यही नाम चल निकला) निमन्त्रित थे, इसलिए उत्सव की औपचारिकता में उनका मन लग नहीं रहा था। इधर कौशल्या जी इतने उत्साह से उन्हें पुस्तक भेंट कराने में व्यस्त थीं, उधर अश्क जी चुपचाप उन लोगों का एक गुट बनाने में लगे थे, जो उत्सव समाप्त होते ही 'शामे अफ़साना' में सम्मिलित होने के लिए चल दें।

उत्सव समाप्त हो गया तो अश्क जी जल्दी से लोगों को विदा कर के स्वयं विदा होने की भूमिका बाँधने लगे। हॉल लगभग खाली हो चुका था और कौशल्या जी एक ओर खड़ी पन्त जी से कुछ बातें कर रही थीं कि तभी अश्क जी बाहर जाने के लिए उधर से गुज़रे। कौशल्या जी ने कहा—"ज़रा सुनिए!" और फिर मख़मल से मढ़ा हुआ एक बुककेस मँगा कर उन्होंने अश्क जी की ओर बढ़ा दिया और बोलीं,

"यह मेरी ओर से!"—पन्त जी चौंके और अश्क जी भी। केस खोल कर देखा तो उसके अन्दर मख़मली जिल्द वाली 'सड़कों पे ढले साये' की प्रति थी, जिस पर चाँदी के तारों से कढ़ा हुआ पुस्तक का नाम अपनी ज्योति से उस मख़मली आसमान को आलोकित कर रहा था। वास्तव में यही वह तोहफ़ा था जो कौशल्या जी ने इतने गोपनीय ढंग से तैयार करवाया था। और यों वे अश्क जी को सुखद सरप्राइज़ देने में सफल हो गयी थीं। पन्त जी को वह जिल्द और वह केस इतना पसन्द आया कि उन्होंने कहा, यह पुस्तक मुझे ऐसी ही जिल्द बँधवा कर और इसी तरह के केस में मिलनी चाहिए और कौशल्या जी ने वादा किया कि वे ऐसा ही करवा देंगी।

उत्सव की औपचारिक परिसमाप्ति हो चुकी थी, इसलिए अश्क जी ने अपनी टोली की कमान सम्हाली और चल दिये—कुछ लोग रिक्शों पर रवाना हुए, कुछ साइकिलों से। उस टोली में भैरव जी, मार्कण्डेय जी, शेखर जोशी तथा उन दूरस्थ प्रदेशीय बन्धु के साथ मैं भी था। अश्क जी तो खैर हमेशा चुहलबाज़ी के मूड में रहते ही हैं, लेकिन उस दिन दूसरे लोग भी कुछ मौज में थे, इसलिए तरह-तरह के व्यंग्य-वाक्यों का परस्पर आदान-प्रदान करते चल रहे थे। न जाने लोगों को कैसे यह पता चल गया था कि वे दूरस्थ प्रदेशीय बन्धु यह पसन्द नहीं करते कि उनका पूरा नाम ले कर पुकारा जाय। और मित्रगण महज़ छेड़ने के लिए बार-बार उन्हें उनके पूरे नाम से ही सम्बोधित कर रहे थे और अपनी तिलमिलाहट को ज़ब्त करने के प्रयास में वे बन्धु अत्यन्त परिष्कृत भाषा और किंचित् पुरतकल्लुफ अन्दाज़ में बोल रहे थे। सिवा उन बन्धु के बाकी सभी लोग, मय अश्क जी के, चूँकि बड़े नान-सीरियस मूड में थे, इसलिए कब हम सिविल लाइन्स से चल कर कमला नेहरू रोड पर स्थित संगीत-समिति के हॉल के पास पहुँचे गये, यह पता ही नहीं चला।

'शामे अफ़साना' एक ऐसा आयोजन था, जिसमें उर्दू-हिन्दी के प्रगतिशील विचारधारा वाले ख्याति-प्राप्त कथाकार अपनी कहानियाँ स्वयं पढ़ कर सुनाने वाले थे और अधिकांश श्रोता काफ़ी कीमत वाले टिकट ख़रीद कर कहानियाँ सुनने आये थे। हम लोग मंच की तरफ़ से हॉल के अन्दर गये। वहाँ पहुँचने पर मंच पर बैठे हुए लोगों ने अश्क जी का स्वागत करते हुए अर्धशती पूरी करने के लिए उन्हें बधाई दी और फिर सभा के अध्यक्ष श्रीकृष्णदास जी ने माइक पर अश्क जी का परिचय कराते हुए उनकी उपस्थिति के प्रति प्रसन्नता प्रकट की तथा उन्हें पचासवीं वर्षगाँठ पर बधाई भी दी। इसके बाद उन्होंने अश्क जी से भी कहानी पढ़ने का निवेदन किया और बिना तनिक भी तकल्लुफ़ दिखाये वे राज़ी हो गये। उन्होंने अपनी एक नयी व्यंग्यात्मक कहानी 'ख़ाली डिब्बा' पढ़ी, जिससे श्रोताओं का काफ़ी मनोरंजन हुआ। फिर एक-एक कर के दूसरे लोगों ने अपनी कहानियाँ सुनायीं। कहानियाँ

सुनने में मेरा ध्यान बँट गया और जब मैंने अश्क जी वग़ैरह की तलाश में नज़र मंच के एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ायी तो वे लोग ग़ायब थे। मैं समझ गया कि अश्क जी अवश्य उन दूरस्थ प्रदेशीय मित्र का 'मुआमला पटाने' का पुण्य फल लूटने के लिए ही इस तरह चुपचाप खिसक गये हैं और इस समय वे भैरव जी आदि को साथ लिये कहीं परोपकार-रत होंगे। बात यह थी कि वे बन्धु कुछ कहानियाँ-वहानियाँ भी लिखते थे और अश्क जी का ख़याल था कि उनमें ग़ज़ब की प्रतिभा है और केवल इसलिए पिछड़े हुए हैं कि उनके कान्टेक्ट नहीं बने! और जाने अश्क जी ने या किसी और ने उनके मन में यह ग़लतफ़हमी पैदा कर दी थी कि उन्हें कहानीकार के रूप में तब तक मान्यता नहीं मिल सकती, जब तक वे आजकल के कुछ प्रमुख कहानीकारों के कान्टेक्ट में नहीं आते और अश्क जी ने वादा किया था कि वे साथ-साथ रहेंगे तो मौका निकाल कर वे प्रयाग के कथाकारों से घनिष्ठता बढ़ाने के लिए उनका पथ प्रशस्त कर देंगे।

मेरा मन कहानी सुनने में फिर नहीं लगा और मैं घर के लिए रवाना हो गया। रास्ते में मैं सोचता जा रहा था कि पिछले दो दिनों में जो कुछ हुआ है, वह बड़े-से-बड़े फक्कड़ को गम्भीर बना देने के लिए काफ़ी था, लेकिन अश्क जी पर तो इस सब का तनिक भी असर दिखायी नहीं देता—'चुहलबाज़ी ज़िन्दाबाद' अब भी उनका नारा है और शायद ज़िन्दगी भर रहेगा। और मुझे अश्क जी के एकांकी संग्रह 'पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ' का एक शेर याद आ गया :

ग़म के लिए पड़ी है अभी एक उम्र 'अश्क,।'
लेकिन ये चन्द लमहे तो हँस कर गुज़ार दें!

सुरेन्द्रपाल

●●●

अश्क के गृह-नगर में तीन दिन

एक तो यात्रा की थकान दूसरे कड़ाके की सर्दी। रज़ाई में गुड़ी-मुड़ी हो कर पड़ा तो होश न रहा। किसी के पुकारने की आवाज़ कानों में पड़ी तो रज़ाई से सिर बाहर निकाला। देखा सिर को टोपी, गले को मफ़लर और बदन को ओवरकोट से ढके अश्क जी खड़े हैं। "कहो भाई, आज उठने का इरादा नहीं है क्या ?"

तकिये के नीचे से घड़ी निकाल कर देखी, साढ़े नौ बजे थे। हड़बड़ा कर उठा और बाहर जाने के लिए जल्दी-जल्दी तैयार हो गया। बैठक का दरवाज़ा खोल कर बाहर कदम रखा तो अचकचा गया। अरे ! रात को तो यहाँ जाने कैसा लगा था : यह तो चारों ओर ऊँचे-ऊँचे घरों से घिरा सामूहिक आँगन-जैसा एक छोटा-सा चौक है, जो बेतरतीव पतली नालियों से कई आड़े-तिरछे टुकड़ों में विभक्त है। गली के मुहाने पर वह किसी मन्दिर की गोल इमारत न हो कर एक छतदार कुआँ है, जिसके बीच में दोनों ओर हाथ से पानी खीचने के लिए चरखियाँ लगी हुई हैं, जो रात को देवमूर्ति का आभास देती थीं। अश्क जी ने सम्भवत: 'गिरती दीवारें' में इसी कुएँ का ज़िक्र किया है, जहाँ पानी भरते समय मुहल्ले की स्त्रियाँ ख़ूब लड़ती हैं, लेकिन अब तो घरों में नल लग गये हैं और कुएँ पर वह रौनक नहीं है। तभी मैं सोचने लगा, देखें वह सुरंग कैसी है, जिसमें से हो कर हम रात को यहाँ तक आये थे—दिन के उजाले में पता चला कि सुरंग नहीं, वह गली थी—ऐसी तंग गलियाँ थोड़ी-बहुत प्रत्येक शहर में होती हैं, लेकिन इतनी लम्बी तंग गली की इससे पहले मैंने कल्पना भी न की थी।

पिछली रात दस बजे के करीब हम जालन्धर स्टेशन पर उतरे थे––अश्क जी, कौशल्या जी, उनकी बहू और मैं। हमें लेने सिर्फ एक सज्जन पहुँचे थे––जिस अफ़रातफ़री में उन्होंने सामान स्टेशन से बाहर करवाया, उसमें मैं सिर्फ़ क्रीज़हीन कोट-पतलून में छिपे उनके दुबले-पतले छरहरे शरीर का आभास-मात्र ही पा सका। स्टेशन के बाहर पहुँच कर उजेले में देखा तो पहचान गया। अश्क जी के छोटे भाई नरेन्द्र जी थे––कुछ दिनों पहले वे इलाहाबाद आये थे तो परिचय हुआ था। शक्ल से वे बिलकुल कॉमरेड लगते है और हैं भी कॉमरेड। पहले जब मुझे मालूम हुआ कि वे मज़दूर-नेता हैं तो समझा कि शायद नेतागीरी को उन्होंने भी हॉबी के रूप में स्वीकार कर रखा होगा––लेकिन यहाँ आ कर पता लगा कि वे मज़दूरों की भलाई के काम में किस निष्ठा से लगे हैं और खुद अपने को भी न तो एक मामूली मज़दूर से वेहतर समझते है, न बेहतर स्थिति में रखते हैं। रिक्शे वालों ने उन्हें ऐसे घेर लिया जैसे उस्ताद को शागिर्द। धड़ाधड़ दो रिक्शों पर उन्होंने सामान लदवाया और दो पर हम लोग बैठ कर चल दिये। इस रिक्शों की रेलगाड़ी के आगे-आगे इंजन की तरह अपनी साइकिल भगाते हुए नरेन्द्र जी चल रहे थे। सारा काम ऐसा चट-पट हुआ कि किसी को किसी से कोई बात कहने का मौका ही न मिला। मेरे कानों में तो 'ले भई', 'उठा भई', 'रख भई', 'चल भई' की आवाज़ें ही गूँज रही थीं। रिक्शे बिजली से जगमगाती सड़क के दो-तीन मोड़ों पर घूमे और फिर एक अँधेरी गली में घुस गये। मैं सोचता था, कोई छोटी-सी गली होगी, उसे पार कर के फिर रोशनी वाली सड़क पर आ जायेंगे, लेकिन रिक्शे एक और तंग गली में मुड़ गये––फिर तो ऐसा लगा, जैसे हम किसी सुरंग से हो कर जा रहे हों––न रोशनी न चहल-पहल, बस हमारे रिक्शों की खड़र-खड़र ही सुनायी देती थी। रिक्शे वाले अपने साथियों को ऊँची-नीची जगहों से सावधान करते भागे जा रहे थे––मुझे लगा जैसे वह सुरंग मीलों लम्बी है और जाने कब इसका ख़ातमा होगा––मैं यह सोच ही रहा था कि एक धक्का-सा लगा और सारे रिक्शे खड़खड़ा कर रुक गये। लगता था, जैसे सामने कोई रुकावट आ गयी है। यहीं, कुएँ के इधर ही हम लोग रिक्शों से उतर पड़े थे। और हमें ऐसा लगा था, जैसे हम सुरंग के अन्दर ही बने इस मकान में आ गये हैं। रात के घुप्प अँधेरे में सामने की खुली जगह का आभास ही न मिला था। रिक्शे वाले जब सामान रख चुके तो एक बड़ी मजेदार बात हुई। समान की गिनती हुई तो पता चला एक कम है। क्या कम है, यह पता लगाने पर मालूम हुआ कि मेरा ही हैण्डबैग ग़ायब है––हम लोग भी घबराये और रिक्शे वाले भी। रिक्शे वाले घबराये कि झोला न मिला तो मज़दूरी गयी और हम लोग इसलिए घबराये कि उस झोले में मेरा ही सामान न था, छोटा-मोटा सामान सभी का था और छोटा-मोटा

होने पर भी ज़रूरत का था। ख़ैर ग़नीमत यह हुई कि कुएँ के पास ही गिरा हुआ वह मिल गया। शायद नाली पर पहिया पड़ जाने से पीछे वाला रिक्शा उछला था और तभी झोला उछल कर धीरे से गिर पड़ा था। घर पहुँचते ही नरेन्द्र जी की पत्नी स्वर्ण भाभी ने हमें गर्म-गर्म चाय पिलायी और फिर खाना पकाने का आयोजन करने लगीं। अश्क जी ने आने का पक्का पता न दिया था। यह लिखा था कि १९ की शाम को पहुँचेंगे या २० की सुबह को, इसलिए स्वर्ण भाभी ने खाना पकाया न था। लेकिन इस मामले में वे काफ़ी सिद्धहस्त हैं। आध घण्टे में उन्होंने खाना तैयार कर दिया और हम खा-पी कर बिस्तरों में घुस गये।

"चलो यार शेव भी करा आयें और एक-एक प्याला चाय भी पी आयें!" अश्क जी ने कहा था और हम कुएँ की बगल की गली से हो कर दाहिनी ओर की गली में घुस गये थे। रात को हम लोग इसी ओर से आये थे। जिसे मैं सुरंग समझे हुए था, दिन के उजाले में न केवल वह एक गली-सी दिखायी दी, बल्कि बाज़ार-सा लगा। दूर तक दोनों ओर दुकानें ही दुकानें दिखायी देतीं थीं। अश्क जी ने बताया कि यह बाजियाँ वाला बाज़ार है।

"बाजियाँ वाला बाज़ार? लेकिन यहाँ तो एक भी दुकान बाजों की नहीं दिखायी देती?" मैंने पूछा।

मेरे बचपन में इस गली में बैंड वालों की कई दुकानें थी," अश्क जी ने कहा, "जिनमें ढोल, बिगुल, बाँसुरी, क्लारियानेट, शहनाई और दूसरे बाजों पर कलावन्त अभ्यास किया करते थे और बड़ी सुन्दर वर्दियाँ पहन कर शादी-ब्याह तथा दूसरे उत्सवों पर जाते थे।"

नौ बजने को आये थे, लेकिन लगता था जैसे अभी ही सुबह हुई है। लोग निंदासे-निंदासे से आ-जा रहे थे और दुकानदार अपना कार-बार शुरू करने की तैयारी कर रहे थे। कोई भट्ठी सुलगाने में लगा था तो कोई मेज़-कुर्सियाँ करीने से जमा-जुमू रहा था और कोई दुकान की कुछ ख़ास चीज़ें इधर-उधर टाँग-टूँग रहा था। बायीं ओर नाई की एक ख़स्ताहाल दुकान थी, उसी में हम लोग घुस पड़े। अपने ऐतिहासिक उस्तरे से उन नापित महोदय ने जब तक अश्क जी की हजामत बनायी, तब तक मैं खड़े-खड़े जालन्धर से निकलने वाले एक उर्दू अख़बार के पृष्ठ पलटता रहा, क्योंकि कुर्सी वहाँ एक ही थी जो बड़े कष्ट से अश्क जी का ही बोझ सम्हाले थी। मुझे उर्दू बहुत नहीं आती, इसलिए टटोल-टटोल कर पढ़ रहा था। वास्तव में मैं अश्क जी के सम्मान में उस दिन शाम को आयोजित होने वाले समारोह की खबर ढूँढ़ रहा था, लेकिन किसी तरह मिल न रही थी। फिर स्वर्ण जयन्ती

शब्द पढ़ कर उधर दृष्टि दौड़ायी तो पता चला कि वह तो कुछ दिन बाद पंजाब की किसी अन्य विभूति, पता नहीं कौन 'राम' की जयन्ती की पूर्व-सूचना थी। अश्क जी शेव करा के उठे तो अपनी दिक्कत मैंने उन्हें बतायी। वे हँसे, "भाई इसमें ख़बर कैसे छप सकती है, क्योंकि आज के समारोह के आयोजन में इस पत्र के विरोधी दल वालों का हाथ है।" इस दल वाले २५ को मेरा अभिनन्दन कर रहे हैं। तब इसमें ख़बर छपेगी।" फिर उन्होंने एक कोने में उस दिन रात को होने वाले कवि-सम्मेलन की ख़बर दिखायी, जिसकी अध्यक्षता अश्क जी को करनी थी। मैं शेव कराने बैठा तो अश्क जी बगल की दुकान की ओर चल दिये।

हजामत से फ़ुर्सत पा कर बाहर निकला तो देखा कुछ दूर पर अश्क जी खड़े थे, बोले, "चलो यार यही चाय पीते है, अपने वाकिफ़ हैं।" मैंने निगाह ऊपर उठायी, एक सज्जन अँगीठी पर झुके कुछ कर रहे थे और उनके ऊपर तारों से बुनी अंडों की डलिया लटक कर छाया किये हुए थी। अश्क जी बड़े तपाक से उनसे मिले। पता चला वही होटल के मालिक है। सिर पर कन्टोप, आँखों पर चश्मा और बत्तीसी का मध्यभाग झरोखा युक्त——शक्ल देख कर ही मज़ाक करने को मन होता था। अश्क जी ने उनका हालचाल पूछा तो वे अपने रोज़गार की मन्दी का रोना ले बैठे और फिर बेईमानी करने वालों को ठेठ पंजाबी लहजे में पाँच-सात 'मधुर वचन' उन्होंने सहज भाव से सुना डाले। वहीं दूसरे उर्दू अख़बार में अश्क जी की स्वर्ण जयन्ती का समाचार पहले पृष्ठ पर देखा। तभी वहाँ अश्क जी के मुहल्ले के दो नवयुवक आ गये और अश्क जी ने 'सुना भई, की हाल-चाल ए ?' से बात शुरू कर दो। फिर अश्क जी ने होटल वाले सज्जन से बाल-बच्चों के बारे में प्रश्न किया तो उन्होंने बहुत शरमा कर बताया कि छह महीने पहले उन्हें पहली सन्तान की प्राप्ति हुई है। उनके संकोच का कारण शायद उन युवकों की उपस्थिति थी, और अभी उन्होंने अपनी बात ख़त्म भी न की थी कि उन दोनों में से एक ने, जो बिलकुल छोकरे से दिखायी देते थे, चहक कर कहा कि बस एक ही में इसके सारे दाँत झड़ गये—— मुझे देखो, सात बच्चों का बाप हूँ, फिर भी ज्यों-का-त्यों बना हूँ। दूसरे कुछ गम्भीर प्रकृति के गोल-मटोल महोदय थे। उन्होंने इस बात की ताईद की और बताया कि इनकी बड़ी लड़की इस साल इण्टर में है। सुन कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि मैं तो उन्हीं सज्जन को इण्टर का विद्यार्थी समझे हुए था। देखने में वे पच्चीस-छब्बीस साल के लगते थे, लेकिन उम्र उनकी लगभग पैंतालीस की थी—अश्क जी से यह जान कर मैंने उनकी काठी की तारीफ़ की। फिर अश्क जी से वे लोग कुछ ऐसी घरेलू बातें करने लगे जो पूरा सन्दर्भ न जानने के कारण मेरे लिए वैसी बोधगम्य न थीं। फिर जाने कैसे वातावरण गम्भीर हो गया और जो गोल-मटोल-

से युवक थे, वे नथुने फुला-फुला कर अश्क जी से उनके किसी भाई की शिकायत करने लगे। बातें चूँकि बिलकुल ठेठ किस्म की पंजाबी में हो रही थीं, इसलिए समझने में मुझे और भी कठिनाई हो रही थी। कुल मिला कर मैं इतना समझ सका कि मामला लाख रुपये का है और अश्क जी के भाई साहब के कारण पुलिस को उसका पता चला। अश्क जी ने उन सज्जन को आश्वासन दिया कि वे अपने भाई से पूछेंगे कि उसने ऐसा क्यों किया। जब हम लोग वहाँ से चले तो अश्क जी ने बताया कि उन सज्जन के घर वालों ने दंगे के दिनों में मालदार मुसलमानों को लूट कर लाख-डेढ़-लाख के ज़ेवर इकट्ठे कर लिये थे। जिसकी शिकायत, उनका सन्देह है कि अश्क जी के भाई ने पुलिस से कर दी थी और पुलिस वह सारा माल छापा मार कर उठा ले गयी थी। और वे लोग जेल जाते-जाते बचे थे—इसका क़लक उनको अब तक है।

घर पहुँचे तो पता चला कि कोई साहब बैठक में इन्तज़ार कर रहे हैं। हम बैठक में गये तो नमस्कार के बाद उन्होंने अपना परिचय दिया और बताया कि वे अमुक संस्था के मंत्री हैं और अश्क जी को शाम के कार्यक्रम के बारे में सूचना देने आये हैं। कुछ देर तक अश्क जी उन्हें यह कह कर परेशान करते रहे कि भाई आप लोगों ने उतनी दूर से मेरा अभिनन्दन करने के लिए मुझे बुलाया और स्टेशन पर आप का एक आदमी तक नहीं गया—मैं तो अपने साथ हार-वार सब ले कर आया था कि अगर आप लोगों के पास न होंगे तो दे दूँगा। अश्क जी का मज़ाक न समझ पाने के कारण वे बेचारे बड़ी देर तक सफ़ाई देते रहे कि हमें ठीक पता नहीं था कि आप किस गाड़ी से आयेंगे, नहीं तो हमारा इरादा स्टेशन पर ही आपका भव्य स्वागत करने का था, वैसे जिस गाड़ी से आप आये, उस पर भी उप-शिक्षा मंत्री श्री यश जी की कार आप के लिए भेजी गयी थी, लेकिन आप मिले ही नहीं। अश्क जी के उल्टे-सीधे सवालों से वे सज्जन घबरा तो बहुत गये, लेकिन बाद में आश्वस्त हो गये और उन्होंने उस दिन के कार्यक्रम के बारे में विस्तार से बता कर विदा ली।

वे गये तो नरेन्द्र जी ने आ कर कहा कि देर हो रही है, आप लोग चल कर नाश्ता कर लें। इसी बीच वे अश्क जी की लड़की उमा को बस-स्टेशन से लिवा कर आ गये थे। हम नाश्ता करने ऊपर गये तो अश्क जी ने अपनी लड़की से मेरा परिचय कराया। पतली-छरहरी, तीखे नक्श और गेहुआँ रंग—इसी वर्ष उसने बी० एस-सी० की परीक्षा सेकेंड डिवीज़न में पास की है। चूँकि वह अपनी माँ के साथ गुरदासपुर में ही रह कर शिक्षा प्राप्त कर रही है, इसलिए इससे पहले मैंने उसे देखा न था। पहली नज़र में देखने पर वह मुझे बिलकुल मासूम-सी बच्ची लगी—अत्यन्त

संकोची तथा भावुक स्वभाव की। नाश्ता कर चुके तो अश्क जी बोले, "चलो ज़रा छत पर धूप ले लें।"

दूसरी मंज़िल की छत पर पहुँचे तो चारों ओर एक अजब दृश्य दिखायी दिया—दूर-दूर तक जितने मकान थे, सब की छतें एक-दूसरे से सटी दिखायी देती थीं—ऐसी कि कोई चाहे तो एक छत से दूसरी पर फलाँगता दृष्टि की सीमा तक चला जाय। कारण पूछने पर अश्क जी ने बताया कि पहले हमलों के डर से फ़सीलों के अन्दर मकान बनते थे, लाहौर और दिल्ली की पुरानी गलियाँ और बाज़ार भी ऐसे ही हैं। अगल-बगल की छतों पर कितने ही स्त्री-पुरुष, बूढ़े और बच्चे धूप ले रहे थे। वहीं से खड़े-खड़े अश्क जी ने सामने की छत पर खड़ी दो-तीन बूढ़ी औरतों को नमस्कार किया तथा उनका हाल-चाल पूछा और अपना बताया। उन्होंने बराबर वाली नानकशाही ईंटों की बनी तिमंज़िली इमारत को दिखा कर कहा कि यही वह डिप्टी की हवेली है, जिस पर बनी हुई चित्रकारी बचपन में मुझे इतनी मोहक लगती थी कि बार-बार मैं उसका अनुकरण करने का प्रयास करता था। उस ज़माने में इस कोठी और इसमें रहने वालों का रुतबा इस पूरे कल्लोवानी मुहल्ले में सब से बढ़-चढ़ कर था।

तभी नीचे से किसी ने कहा कि बैठक में कुछ लोग मिलने आये हैं। उतर कर वहाँ गये तो देखा पंजाब भाषा विभाग के डायरेक्टर डॉ० परमानन्द तथा उनके एक सहयोगी श्री सत्यपाल जी गुप्त हैं।

वे लोग बड़ी देर तक अश्क जी से 'सप्तसिन्धु' के 'अश्क स्वर्ण जयन्ती अंक' के बारे में विचार-विमर्श करते रहे। डॉ० परमानन्द जी की सादगी और निरभिमानता से मैं बहुत प्रभावित हुआ। उन्हें देख कर शायद ही कोई समझ सके कि वे इतने उच्च अधिकारी हैं। वे लोग गये तो डेढ़ बज चुका था। साढ़े तीन बजे अश्क जी के सम्मान में ग्रीन होटल में एक चाय-पार्टी का आयोजन किया गया था, इसलिए खाना-वाना खा कर हमें जल्दी ही तैयार हो जाना था।

किसी तरह तीन सवा-तीन बजे तक हम लोग तैयार हो सके। तभी जालन्धर के एक युवक साहित्यिक श्री मनसाराम जी 'चंचल' आये और उन्होंने बताया कि कार लगभग दो फ़र्लांग दूर, सईदाँ गेट के पास खड़ी है। गली इतनी सँकरी है कि उतनी बड़ी कार यहाँ तक आ नहीं सकती। सईदाँ गेट तक सब लोग पैदल ही गये फिर वहाँ से कार पर 'ग्रीन होटल' पहुँचे।

हम लोगों को कुछ देर हो गयी थी, इसलिए होटल के बाहर खड़े लोग उत्सुकता से हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। कार से जैसे ही अश्क जी बाहर निकले, लोगों ने उनका ज़ोरदार स्वागत किया और कितने ही लोगों ने (जिनमें उप-शिक्षा-मंत्री

श्रीयश, श्री शमशेर सिंह नरूला, डॉ० इन्द्रनाथ मदान, डॉ० दुर्गादत्त मेनन आदि थे, जो अश्क जी के पूर्व परिचित तथा मित्र थे) उन्हें बधाइयाँ देते हुए बाहों में भर लिया और बड़े ही आत्मीयता से सब होटल के अन्दर आकर अपनी-अपनी जगहों पर बैठ गये। ग्रीन होटल जालन्धर के खूबसूरत होटलों में है, जो दिल्ली या बम्बई के अच्छे होटलों से किसी तरह कम नहीं। उसका शानदार हॉल जालन्धर के प्रतिष्ठित नागरिकों तथा भाषा-विभाग (पंजाब) के अधिकारियों, साहित्यिकों तथा विद्वानों से भरा हुआ था। श्री यश, डॉ० इन्द्रनाथ मदान तथा नरूला जी आदि अश्क जी के साथ एक ही मेज पर बैठे और मिठाइयों तथा नमकीन-समोसों और पनीर-पकौड़ों का स्वाद लेने के साथ-साथ परस्पर हँसी-मज़ाक का भी आनन्द लेते रहे।

ग्रीन होटल से चल कर सब लोग पास ही कम्पनी गार्डेन के बीच में बने टाउन हॉल के विशाल पंडाल में पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही लोगों ने अश्क जी को फूल-मालाओं से लाद दिया। कौशल्या जी कुछ पिछड़ गयी थीं—वे पास पहुँचीं तो लोगों ने उन्हें भी हार पहनाये। तभी एक अजीब-सी धक्कम-धुक्की मच गयी। मैं भी चौकन्ना हुआ कि माजरा क्या है? बात समझ में आ गयी—फ़ोटो खींचा जाने वाला था। किसी तरह मैंने भी यह कोशिश की कि शरीर नहीं तो कम-से-कम मुखारविन्द तो फ़ोटो में आ ही जाय। ख़ैर कैमरे ने क्लिक किया और फिर सब ठीक-ठाक हो गया। अश्क जी और कौशल्या जी के मंच पर पहुँचने के बाद सब से पहले किसी स्थानीय कॉलेज की कन्याओं ने राष्ट्रीय गान गाया। फिर संस्कृत कॉलेज के प्रिंसिपल और प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ पण्डित ख़ैराती राम ने अत्यन्त होव-भाव पूर्वक शुद्ध संस्कृत में अश्क जी को आशीर्वाद दिया और उपेन्द्रनाथ की दसियों व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। वे इतनी सरल संस्कृत बोल रहे थे कि मेरे जैसा नितान्त असंस्कृतज्ञ व्यक्ति भी बहुत कुछ समझ रहा था। अत्यन्त हास-परिहास पूर्ण वातावरण में उनका आशीर्वचन समाप्त हुआ तो समारोह के मंत्री महोदय ने कहा कि अब प्रयाग से यहाँ आये हुए श्री सुरेन्द्र पाल अश्क जी के बारे में कुछ बतायेंगे।

अपना नाम सुनते ही मैं एकदम घबरा-सा गया। मैंने सोचा था कि मुझे शायद अन्त में अवसर दिया जायगा तो दो-चार शब्द कह दूँगा—क्या कह दूँगा यह भी मन में सोचा लिया था। लेकिन शुरू में ही और पण्डित ख़ैराती राम जी के उस अभिनययुक्त आशीर्वचन के तुरन्त बाद बुला लिये जाने के कारण मैं बड़े धर्म-संकट में पड़ा। चूँकि कॉलेज के दिनों में मैं ज़िले का सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी वक्ता माना जाता था, इसलिए हिम्मत कर के मंच पर पहुँचा, लेकिन वहाँ खड़े हो कर क्या कहा क्या नहीं, यह याद नहीं। शायद यह कहा कि इस शुभ अवसर पर आज

स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर कौशल्या, बहू और पुत्री उमा के साथ अश्क
अपनी मातृ-संस्था डी० ए० वी० कॉलेज जालन्धर में प्रिंसिपल तथा अध्यापकों के साथ

त्रर्ण-जयन्ती के अवसर पर ग्रीन होटल जालन्धर में पार्टी
ाश्क के बायीं ओर उनकी पत्नी, श्री यश तथा दायीं ओर श्री सुरेन्द्रपाल
ाामने श्री शमशेर सिंह नरूला और डॉ० इन्द्रनाथ मदान
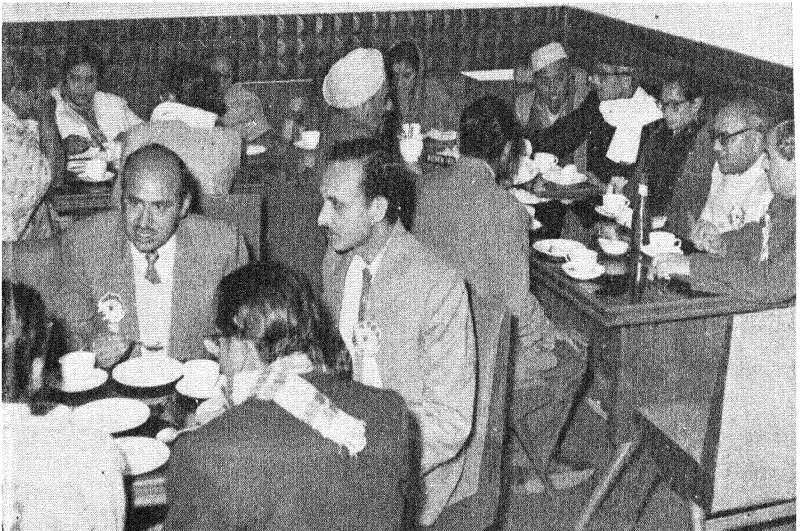
अर्धशती-समारोह में 'नाट्य केन्द्र' प्रयाग द्वारा अश्क के एकांकी का अभिन

अश्क दम्पति
(१४ दिसम्बर १९६०)

अश्क जी के गृह-नगर में उपस्थित हूँ, इसके लिए मुझे बड़ी प्रसन्नता है। अश्क जी जितने जालन्धर के हैं, उतने ही प्रयाग के भी हैं, इसलिए प्रयागवासी होने के कारण जालन्धरवासियों के प्रति मैं अश्क जी के सम्बन्ध से गहरी आत्मीयता का अनुभव करता हूँ, आदि-आदि। पहले मैंने सोचा था कि अपना भाषण मैं बिलकुल नये ढंग से शुरू करूँगा, सो इस हड़बड़ी में नया ढंग मैंने यह बरता कि न सभापति महोदय श्री यश जी को सम्बोधित किया और न श्रोताओं को और अपना आरम्भ-अन्त-हीन भाषण दो मिनट में खत्म करके अपनी जगह पर आ बैठा।

इसके बाद श्री यश खड़े हुए और उन्होंने अपने भाषण में कहा कि अब से पचास साल पहले जब अश्क जी यहाँ पैदा हुए थे तो उनके माता-पिता को ही प्रसन्नता हुई होगी, लेकिन आज वे पंजाब ही नही पूरे भारत की निधि बन चुके हैं और उनके इस जन्म-दिवस पर भारत-भर के हिन्दी-प्रेमियों को प्रसन्नता है। इसके बाद उन्होंने इस बात के लिए खेद प्रकट किया कि पंजाब में उपयुक्त वातावरण के अभाव में यहाँ के प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार अन्यत्र जा बसे। जब तक वे यहाँ रहे, पंजाब ने उनकी क़द्र नहीं की और जब वे बाहर चले गये तो उन्होंने अमित यश अर्जित किया। लेकिन अब ऐसी बात नहीं है। हम लोगों ने उपयुक्त वातावरण बनाने का काफ़ी प्रयास किया है, इसलिए हमारे यहाँ की जो विभूतियाँ बाहर चली गयी हैं, उन्हें यहाँ वापस लौट आना चाहिए।

यश जी के बाद पंजाब की तीन प्रमुख हिन्दी संस्थाओं की ओर से अश्क जी को अभिनन्दन-पत्र भेंट किये गये। इसके बाद डा० इन्द्रनाथ मदान ने अपने नव-प्रकाशित आलोचना-ग्रन्थ 'उपन्यासकार अश्क' की एक प्रति लकड़ी के बने एक सुन्दर बुककेस में भेंट की। उन्होंने अपने छोटे से विनोदपूर्ण भाषण में कहा कि कुछ लोग कहते हैं कि अश्क जी को अश्क बनाने में उनकी पत्नी कौशल्या जी का बहुत हाथ है। अगर यह बात मान ली जाय तो मैं स्वयं इस बात का श्रेय ले सकता हूँ कि अश्क जी और कौशल्या जी का सम्बन्ध कराने का गौरव मेरे गाँव को है। श्रोताओं में से किसी चुहलबाज़ ने ज़ोर से कहा कि ज़रा अपने गाँव का नाम भी बता दीजिए, तो मदान साहब पहले बात टाल गये, लेकिन जब प्रश्न दुहराया गया तो उन्होंने बताया कि उसका नाम रेनाला ख़ुर्द है, जो आज-कल पाकिस्तान में जा पड़ा है। तब बड़े ज़ोर का ठहाका पड़ा। मदान साहब के बाद डी० ए० वी० कॉलेज जालन्धर के संस्कृत-विभागाध्यक्ष डा० मेनन ने अश्क जी की नाट्यकला पर अपने एक लम्बे निबन्ध का सारांश प्रस्तुत किया।

अन्त में अश्क जी बोलने खड़े हुए। यश जी की बात का सूत्र पकड़ते हुए उन्होंने कहा कि मैं पैदा हुआ तो मेरी माँ को ज़रूर ख़ुशी हुई होगी, लेकिन पिता

को नहीं। क्योंकि वे चाहते थे कि उनकी सन्तान भी उन्हीं की तरह हृष्ट-पुष्ट हो। मुझ-जैसे मरियल बच्चे को देख कर उन्हें बड़ी कोफ़्त हुई थी। मैंने अपने पिता को और मेरे पिता ने मुझे कभी पसन्द नहीं किया, लेकिन आज जब मैं पचास वर्ष का हो गया हूँ तो पाता हूँ कि मैं जो कुछ बना हूँ, पिता के ही उपदेशों के कारण बना हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि मेरे जन्म पर उन्हें चाहे ख़ुशी न हुई थी, पर आज यदि वे ज़िन्दा होते और वे देखते कि उनकी शिक्षा बेकार नहीं गयी तो उन्हें ज़रूर ख़ुशी होती।

यह बात कहते हुए अश्क जी अत्यन्त भावुक हो उठे और उनका गला भर आया, लेकिन तत्काल संयत हो कर उन्होंने कहा कि अगर मैं पंजाब में रह सकता तो यहाँ से कभी न जाता। जहाँ मैं हूँ वहाँ की जनता ने न केवल मुझे मान-सम्मान दिया है, बल्कि वहाँ की सरकार ने भी मेरी बड़े आड़े वक्त पर मदद की है और इलाहाबाद के लोगों ने जिस हार्दिकता से मेरे पचासवें जन्म-दिवस पर मुझे अभिनन्दित किया है, उससे मैं उन्हीं का हो कर रह गया हूँ। फिर भी पंजाब मेरी जन्म-भूमि है और जैसा कि यश जी ने कहा है कि यहाँ अब उपयुक्त वातावरण निर्मित हो गया है तो वर्ष में कम-से-कम कुछ महीने मैं यहाँ आप लोगों के बीच अवश्य गुज़ारना चाहूँगा।

यह समारोह लगभग सात बजे ख़त्म हुआ, साढ़े सात बजे से पंजाब सरकार के भाषा-विभाग की ओर से उसी पंडाल में अश्क जी की अध्यक्षता में एक कवि सम्मेलन होने वाला था, इसलिए तय यह हुआ कि हमारे साथ के और लोग तो घर चले जायें और मैं तथा अश्क जी पास ही के एक होटल 'प्लाज़ा' में खाना खा लें, जिससे समय पर वापस आ सकें।

हम लोग चंचल जी के साथ वापस पहुँचे तो हॉल श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ था, बाद में मंच भी कवि गण से भर गया। चूँकि हीटर का प्रबन्ध था, इसलिए सर्दी से कुछ बचाव हो गया था। कवि अधिकतर पंजाब के ही थे। बाद में दिल्ली के श्री देवराज जी 'दिनेश' आ गये। यश जी ने एक बार फिर अश्क जी का परिचय देते हुए उनकी स्वर्ण जयन्ती पर उनका अभिनन्दन किया और अश्क जी ने संक्षेप में यश जी से अपने पुराने सम्बन्ध का उल्लेख किया और कहा कि यश जी के ही प्रयत्नों से मेरा पहला कविता-संग्रह छपा था। अश्क जी ने यह भी बताया कि कवि के रूप में उन्होंने अपने आरम्भिक प्रयत्न पंजाबी में ही किये और अपना एक पंजाबी बैत भी सुनाया, जिसे श्रोताओं ने बहुत पसन्द किया।

कवि-सम्मेलन आरम्भ में खूब जमा, लेकिन रात अधिक बीत चली तो श्रोताओं का मूड उखड़ने लगा। लेकिन भाषा-विभाग के डिप्टी डायरेक्टर सरदार प्रेमप्रकाश सिंह जी बीच-बीच में शुद्ध हिन्दी में इतनी अच्छी कमेण्ट्री करते थे कि श्रोतागण शान्त हो जाते थे। किसी कवि-सम्मेलन का इतना अच्छा संचालन मैंने किसी दूसरी जगह नहीं देखा था। एक कवि महोदय माइक के सामने खड़े हुए तो उन्होंने अपनी एकदम प्रयोगवादी कविता सुनानी शुरू की और श्रोतागण 'हो-हो' करने लगे। प्रेमप्रकाश जी ने झट दूसरे माइक से एक ओर तो उन्हें शान्त करने का प्रयास किया और दूसरी ओर धीरे से कवि महोदय को अपनी कोई ग़ज़ल सुनाने की सलाह दी। उनकी ग़ज़ल ख़ूब जमी और श्रोताओं ने अत्यन्त शान्ति पूर्वक उनके कविता-पाठ का आनन्द लिया। मैं शुरू में ही जालन्धर के दो युवक साहित्यकारों श्री रवीन्द्र कालिया तथा श्री कृष्ण भाटिया के साथ मंच से उठ कर बाहर चला गया था और फिर वे लोग मुझे ग्रीन में काफ़ी पिलाने घसीट ले गये, इसलिए कई कवियों की रचनाओं का आनन्द लेने से वंचित रह गया। बाद में श्री देवराज 'दिनेश' ने अपनी हास्य-व्यंग्य पूर्ण कविता 'काम्प्लेक्स और कुण्ठाएं' सुनायीं, जिसे श्रोताओं ने काफ़ी पसन्द किया।

अन्त में अश्क जी खड़े हुए और उन्होंने अपनी एक पुरानी कविता 'देवि मैं पूछ रहा हूँ तुम से' तथा दो नयी कविताएँ 'सितारे कूद जायेंगे' और 'विशाखा-पट्टम के सागर तट पर' सुनायीं। चूँकि कविताएँ सुनाने से पहले उन्होंने कुछ शरारती श्रोताओं पर दो-चार वाक्यों में छींटाकशी कर दी थी, इसलिए बीच में कोई व्यवधान नहीं पड़ा और लोगों ने अश्क जी के कविता-पाठ का आनन्द बड़े संयत ढंग से लिया।

सर्दी चूँकि बेहद ज़्यादा थी, इसलिए हम लोगों ने सोचा कि पैदल ही घर तक टहलते हुए चलें, जिससे तेज़ हवा का सामना न करना पड़े। रास्ते में अश्क जी की लड़की उमा ने कुछ कवियों की ऐसी खिल्ली उड़ायी कि हम लोग बड़ी देर तक हँसते रहे। पहले वह मुझे बड़ी संकोची लगी थी, लेकिन अब लगा कि वह वैसी अतिरिक्त संकोची स्वभाव की नहीं है। रास्ते में वह अपने कॉलेज के कितने ही दिलचस्प किस्से हमें सुनाती रही। घर पहुँचे तो सब लोग काफ़ी थक गये थे और जल्दी-से-जल्दी बिस्तर की शरण में चले जाना चाहते थे।

दूसरे दिन सुबह मुझे कौशल्या जी के छोटे भाई श्री पुष्पेन्द्रनाथ ने, जिन्हें हम मल्होत्रा जी या पुषी भाई कहते हैं, जगाया। वे रात को ही किसी समय आये थे, इसलिए उन्हें देख कर आश्चर्य हुआ। तैयार हो कर उनके साथ सुबह-सुबह बाजियाँ वाला बाज़ार का एक चक्कर लगा कर और उसी छोटे से होटल

में एक-एक प्याला चाय पी कर हम घर लौटे। वहाँ पहुँचे तो अश्क जी बैठक में डॉ० परमानन्द तथा श्री प्रेमप्रकाश सिंह जी से बातें कर रहे थे। मैं भी वहीं बैठ गया। थोड़ी देर में श्री रवीन्द्र कालिया तथा कृष्ण भाटिया आ गये, जिनके साथ घूमने जाने की बात रात ही को तय हो गयी थी। मैं उन दोनों परिचित मित्रों के साथ घूमने चल पड़ा।

उस दिन दोपहर को मदान साहब ने अश्क जी को अपने यहाँ लंच पर बुलाया था और फिर वहीं से उन्हें तीन बजे डी० ए० वी० कॉलेज जाना था। प्रोफ़ेसर मेनन मदान साहब के यहाँ ही कार ले कर पहुँच गये। जैसे ही कार कॉलेज के गेट पर रुकी, प्रिंसिपल सूरजभान ने बढ़ कर अश्क जी का स्वागत किया। अश्क जी ने जब से कॉलेज छोड़ा, पहली बार वहाँ आये थे, इसलिए चारों ओर उन्होंने बड़ी अजनबी दृष्टि से देखा, क्योंकि वहाँ का तो नक्शा ही बदल गया था। उन्होंने बताया कि उनके सामने तो बस कॉलेज के कुछ कमरे ही बने थे, बाकी सारा हिस्सा उजाड़ मैदान पड़ा था। अब तो वहाँ की चप्पा-चप्पा धरती घेर ली गयी थी। अश्क जी कुछ देर प्रिंसिपल साहब के कमरे में बैठे, फिर कार से ही प्रिंसिपल साहब ने अश्क जी को मीलों के घेरे में फैली हुई कॉलेज की विभिन्न इमारतें, हंसराज महिला कॉलेज, टेकनिकल कॉलेज, लड़कों के नये-पुराने हॉस्टल, ओपेन एयर थियेटर तथा खेल के नये मैदान आदि दिखाये। पाँच बजे चाय का आयोजन था। सो कॉलेज को एक नजर दिखा कर प्रिंसिपल साहब अश्क जी को ले कर कॉलेज की कैंटीन में पहुँचे, जहाँ कॉलेज के अध्यापक तथा उच्च कक्षाओं के छात्रगण अश्क जी का स्वागत करने के लिए खड़े थे। कैंटीन के बड़े हॉल में चाय हुई और फिर उपस्थित लोगों को प्रिंसिपल साहब ने अश्क जी का परिचय दिया और बताया कि अश्क जी इस कॉलेज से १९३१ में बी० ए० पास करने वाले प्रथम छात्रों में से हैं। हमें अपने यशस्वी छात्रों पर उसी तरह गर्व होता है, जैसे बाप को अपने लायक बेटों पर होता है और यह उचित भी है। इसके बाद डॉ० मदान ने अश्क जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा के सम्बन्ध में बताते हुए कहा कि उन्हें कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, संस्मरण, निबन्ध तथा आलोचना आदि साहित्य की लगभग सभी विधाओं पर समान-रूप से सिद्धि प्राप्त है, यहाँ तक कि उन्होंने अपनी पत्नी कौशल्या को भी सिद्ध कर रखा है, इसलिए मैं उन्हें सिद्ध साहित्यकार मानता हूँ। फिर कॉलेज के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर सत्यदेव ने अश्क जी की उपन्यासकला पर एक छोटा-सा भाषण दिया। अन्त में अश्क जी से भी कुछ शब्द कहने का निवेदन किया गया।

अश्क जी बोलने खड़े हुए तो उनकी निगाह सामने लगे हुए डी० ए० वी० कॉलेज के संस्थापक प्रिंसिपल मेहरचन्द की बड़ी कदादम फ़ोटो की ओर चली गयी। प्रिंसिपल मेहरचन्द की चर्चा करते हुए अश्क जी ने कहा कि अपने पिता और कॉलेज के प्रिंसिपल दोनों से मुझे बड़ी शिकायत रही है, लेकिन यह अजीब बात है कि आज जब मैं विचार करता हूँ तो अपने-आप को उन्हीं दोनों की ख़ूबियों पर मुस्तैदी से अमल करते हुए पाता हूँ। और मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि आज मुझे जो सफलता मिली है, बहुत कुछ उन्ही दोनों की बदौलत मिली है। पिता से मुझे दृष्टि की व्यापकता मिली तो प्रिंसिपल मेहरचन्द से अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ आस्था तथा कठिनाइयों से जूझने की प्रबल इच्छा-शक्ति। फिर प्रिंसिपल सूरजभान की बात का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि शिक्षण-संस्थाओं का व्यवहार अपने छात्रों के प्रति पिता-जैसा ही होता है और वे केवल अपने यशस्वी तथा साधन-सम्पन्न छात्रों के लिए ही गर्व अनुभव करती हैं, लेकिन मेरा विचार है कि उन्हें माँ की तरह होना चाहिए, जो अपने कमज़ोर तथा नालायक बच्चों को भी नहीं भुलाती, जिसकी ममता का सम्बल उन्हें भटकने या हताश नहीं होने देता। आज से तीस साल पहले यह बात मेरे मन में आयी थी, जब मेरे स्कूल में ऐसा ही समारोह एक भूतपूर्व छात्र को सम्मानित करने के लिए आयोजित किया गया था, जो मात्र अपनी व्यवसाय-बुद्धि से लखपती बन गया था और यह बात कहने के लिए शायद मैं पिछले तीस साल से इसी अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। मेरा विचार है कि कॉलेज को अपने साधन-सम्पन्न और यशस्वी छात्रों पर गर्व करने के साथ गुमनामी के गर्त में डूबे हुए उन साधन-हीन छात्रों की खोज-ख़बर भी रखनी चाहिए, जो किसी कारण ज़िन्दगी की कशमकश में पिछड़ गये है। इससे उन्हें बड़ा दिलासा मिलेगा और परिस्थितियों से संघर्ष करने का उत्साह उनमें आयेगा।

अगले दिन दोपहर को अश्क जी मुझे अपने कई पुराने मित्रों से मिलाने ले गये।

शाम को अजित अख़बार के दफ़्तर में 'पंजाबी लिखाड़ी सभा' की मीटिंग थी। हम वहाँ पहुँचे तो कुछ लोग बाहर खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे।

जिस कमरे में मीटिंग का आयोजन किया गया था, उसमें लगभग सत्तर-अस्सी कुर्सियाँ लगी हुई थीं, जिनमें से शायद ही कोई ख़ाली थी। सामने एक मेज़ तथा दो-तीन कुर्सियाँ रखी थीं। उन्हीं में से एक पर अश्क जी को बैठाया गया और दूसरी पर सभापति महोदय (खेद है कि उनका नाम मैं न जान सका) बैठे। सामने की अगली सीटों पर हम लोग बैठ गये और सभा की कार्यवाही आरम्भ हुई। जो

सज्जन अश्क जी का परिचय देने खड़े हुए, उन्होंने कहा कि अश्क जी का हिन्दी साहित्य में वही स्थान है जो उर्दू साहित्य में ख्वाजा अहमद अब्बास, कृष्णचन्द्र तथा बेदी और अंग्रेज़ी में मुल्कराज आनन्द का है। उन्होंने यह भी बताया कि यह पंजाबियों की अपनी जातीय विशेषता है कि वे जिस भी क्षेत्र में कदम रखते हैं, अपना शीर्ष स्थान बना लेते हैं। अपनी बात की पुष्टि में उन्होंने कहा कि अभी कुछ वर्ष पूर्व ताशकन्द में होने वाले एशियाई लेखकों के सम्मेलन में जो भारतीय लेखकों का प्रतिनिधि मण्डल गया था, उसमें एक तिहाई विभिन्न भाषाओं के पंजाबी लेखक थे। इसके बाद उन्होंने कहा कि अब मैं अश्क जी से निवेदन करूँगा कि वे स्वयं अपने बारे में कुछ बातें हम लोगों को बतायें। अश्क जी ने उन लोगों के अनुरोध की रक्षा करने के लिए दो-चार बातें अपने बारे में बतायीं, लेकिन फिर वे कुछ परेशान से नज़र आने लगे। बात यह है कि अपने ही गृह-नगर में अपने ही जाति-भाइयों के बीच अपनी करनी का बखान करना उन्हें अवश्य कुछ अजीब लगा होगा—यह सही है कि अगर इलाहाबाद की किसी मीटिंग में उन्हें अपने बारे में कुछ कहने के लिए कहा जाता तो वे ज़रूर ऐसी बातें बताते जिन्हें सुन कर कुछ लोग रीझते, कुछ खीझते, लेकिन यहाँ मामला गम्भीर था, इसलिए वे बड़े धर्म-संकट में फँसे। अन्त में उन्हें अपने मित्र श्री कृष्णचन्द्र का नुस्खा याद आ गया और उन्होंने कहा कि मझे यों भाषण देने की आदत नहीं है, इसलिए आप लोग कोई सवाल पूछें तो मैं उत्तर दे सकता हूँ। पीछे बैठे एक सरदार जी खड़े हुए और उन्होंने प्रश्न किया कि आप इतनी धुली-मँजी पंजाबी बोल लेते है, इसलिए क्या हम आशा करें कि आप थोड़ा-बहुत पंजाबी में भी लिखते रहने की कृपा करेंगे।

अश्क जी ने कहा कि मैं पंजाबी क्षेत्र से दूर हूँ, अतः पंजाबी-साहित्य में भाषा-सम्बन्धी नवीनतम प्रयोगों तथा अन्य गतिविधियों से परिचित रहना मेरे लिए सम्भव नहीं। पंजाबी में मैं लिखूँ तो यह कभी नहीं चाहूँगा कि चीज़ आप लोगों की चीज़ों से घट कर बने। मैं वर्ष में कुछ महीने यहाँ आ कर रहने का प्रोग्राम बना रहा हूँ। अगर सफल हो गया तो अवश्य पंजाबी में भी लिखने की कोशिश करूँगा, क्योंकि वह मेरी मातृ-भाषा है और मैंने अपने आरम्भिक प्रयास इसी भाषा में किये हैं।

फिर एक सज्जन खड़े हुए और उन्होंने प्रश्न किया कि एक लेखक का क्या कर्तव्य होना चाहिए ?

अश्क जी ने कहा कि यह प्रश्न बहुत व्यापक है, इसे कुछ सीमित करें तो मैं बताऊँ। उन्होंने दूसरे शब्दों में फिर जब अपने उसी प्रश्न को दुहरा दिया तो

अश्क जी ने पहले लेखकों के विभिन्न वर्गों का उल्लेख किया और फिर बताया कि अपने उद्देश्य के प्रति पूरी निष्ठा से प्रयत्नशील रहना ही लेखक का कर्तव्य है।

एक सूट-बूट-धारी सज्जन ने, जो किसी कॉलेज के लेक्चरर लगते थे, साहित्य में सामाजिक सोद्देश्यता तथा आदर्श समाज-व्यवस्था की सम्भावना पर प्रश्न उठाया और बड़ी देर तक इस विषय पर कभी अंग्रेज़ी में और कभी पंजाबी में अश्क जी से बहस करते रहे। अश्क जी निरन्तर पंजाबी बोल रहे थे और स्वयं कम तथा उन्हें बोलने का अधिक अवसर दे रहे थे, इसलिए श्रोताओं में से कुछ ने आपत्ति की कि यह पंजाबी लेखकों की सभा है, इसमें किसी अन्य भाषा का व्यवहार न करें और आप संक्षेप में अपनी बातें कहें, स्वयं भाषण न दें।

ख़ैर इसी बीच चाय आ गयी और बहस अधूरी ही रह गयी। इसके बाद अश्क जी ने कहा कि अब मैं आप लोगों से यह जानना चाहूँगा कि पंजाबी-साहित्य की वर्तमान स्थिति क्या है?——वैसे मैं बराबर पंजाबी के नये लेखकों की पुस्तकें पढ़ता रहता हूँ, लेकिन आप लोगों द्वारा मुझे विशेष जानकारी मिल जायगी। जिन सज्जन ने अश्क जी का परिचय दिया था, वही फिर आये और उन्होंने बताया कि नाटक को छोड़ कर पंजाबी-साहित्य अन्य सभी विधाओं में विश्व की किसी भी भाषा के साहित्य का मुकाबला कर सकता है, लेकिन खेद है कि पुस्तकों की बिक्री बहुत कम है। अच्छी पुस्तकों के एक या दो हज़ार के संस्करण मुश्किल से साल भर में बिक पाते हैं। अश्क जी ने कहा कि जहाँ तक पुस्तकों की बिक्री का सवाल है, हिन्दी की स्थिति भी कुछ अच्छी नहीं है। मेरी पुस्तकें हिन्दी में काफ़ी बिकने वाली पुस्तकों में से हैं, लेकिन मुश्किल से साल में उनकी चार-पाँच सौ प्रतियाँ बिकती हैं। इसके बाद उन्होंने हिन्दी-नाटक-सम्बन्धी अपने अनुभवों का उल्लेख करते हुए पंजाबी नाटक-साहित्य की उन्नति के उपायों के बारे में एक लम्बा-सा भाषण दिया और नाटक-क्लबों की स्थापना पर बल देते हुए बताया कि नाटककारों को चाहिए, रंगमंच के कलाकारों को अपना पूरा सहयोग दें और स्त्री-पात्रों की आवश्यकता पड़ने पर अपने घर की औरतों को ही सब से पहले स्टेज पर ले आ कर औरों के सामने उदाहरण प्रस्तुत करें। इस बीच एक बड़ी मज़ेदार बात यह हुई कि जाने कैसे अश्क जी ने पंजाबी छोड़ हिन्दी में बोलना शुरू कर दिया था और अपनी बेख़याली में वे धाराप्रवाह शुद्ध हिन्दी में उन पंजाबी लेखकों को नाटकों के विकास के बारे में प्रवचन देने लगे थे। चूँकि अभी कुछ ही पहले पंजाबी लेखकों की उस सभा में दूसरी भाषा का इस्तेमाल करने के कारण हंगामा होते-होते बच गया था, इसलिए अश्क जी के हिन्दी भाषण को सुन कर मैं सशंकित

हो रहा था कि ज़रूर उन्हें कोई टोक देगा, पर चूँकि बातें अश्क जी काफ़ी परिहास-पूर्ण ढंग से कह रहे थे, इसलिए मेरा सन्देह वृथा साबित हुआ।

मीटिंग ख़त्म हुई तो साढ़े सात बज चुके थे। मुझे गाड़ी पकड़ने की जल्दी थी। अश्क जी की स्वर्ण जयन्ती के सम्बन्ध में सभाओं का कार्यक्रम तो २५ तक था—उस तिथि को इसी सम्बन्ध में स्वयं शिक्षा-मंत्री पधार रहे थे, लेकिन मैं ज़्यादा दिन न रुक सकता था, इसलिए मैं चाहता था कि अब सीधे कल्लोवानी चलें, लेकिन नरेन्द्र जी बगल में ही बना हुआ अपना पार्टी-दफ़्तर दिखाना चाहते थे, इसलिए थोड़ी देर वहाँ रुक जाना पड़ा। लगभग आठ बजे पार्टी के दफ़्तर से बाहर निकले तो रिक्शा सिर्फ़ एक ही मिला। उस पर बैठ कर मैं चल दिया और अश्क जी तथा कौशल्या जी दूसरे रिक्शे का इन्तज़ार करने के लिए रुक गये। मेरे साथ ही साइकिल से नरेन्द्र जी भी आये। घर पहुँच कर जल्दी-जल्दी सामान समेटा और नीचे बैठक में आ गया। नरेन्द्र जी बाहर रिक्शा बुलाने गये तो देखा अश्क जी भी आ गये हैं। वही रिक्शा रोक लिया गया और सामान रख कर मैं चल दिया। साथ कौशल्या जी के छोटे भाई पहुँचाने आये और टिकट ले कर किसी तरह मुझे गाड़ी पर बैठा दिया। मैं ठीक से सामान भी न रख पाया था कि गाड़ी चल पड़ी।

हावड़ा एक्सप्रेस चारों ओर फैले अंधकार को चीरती पूरी रफ़्तार में चली जा रही थी और मैं ऊपर की एक बर्थ पर लेटा विचारों में खोया था—आँखों के सामने अश्क के गृह-नगर की उन सुरंगों-जैसी गलियों, दरबों-जैसे आपस में सटे हुए मकानों और शोर-शराबे के बीच 'गिरती दीवारें' के कितने ही पात्र चलते-फिरते, हँसते-बोलते, लड़ते-झगड़ते और गाली-गलौज करते दिखायी दे रहे थे। और जाने क्यों इस चित्र के साथ जालन्धर की आधुनिक ढंग की चौड़ी सड़कों और आलीशान मकानों वाली नयी बस्तियों का चित्र बिलकुल अजनबी-सा लग रहा था—जैसे आज के जालन्धर में वे भी मेरी तरह चार दिन के मेहमान हों!

परिशिष्ट

Why should we call ourselves men, unless it be to succeed in everything, everywhere? Say of nothing, "This is beneath me," nor feel that anything is beyond our powers. Nothing is impossible to the man who can will.

—Mirabeau

जीवन तथा साहित्य

[काल-क्रमानुसार परिचय]

जब तक अश्क जी पहले उर्दू में लिखते रहे, तब तक की रचनाओं के मूल उर्दू नाम दे कर भिन्न हिन्दी नाम कोष्ठ में दे दिये गये हैं और बाद की रचनाओं के मूल हिन्दी नाम दे कर कोष्ठ में भिन्न उर्दू नाम दिये गये हैं। दो नामों से छपी रचनाओं के भी भिन्न नाम कोष्ठ में हैं।

—सुरेन्द्रपाल

तिथि	जीवन-परिचय	तिथि	रचना-परिचय
	अश्क जी भारद्वाज गोत्र के सारस्वत ब्राह्मण हैं। उनका वंश-वृक्ष उनके पूर्व-पुरुष सज्जन से शुरु होता है, जो शताब्दियों पहले पंजाब के बिलगा नामक गाँव में निवास करते थे। अश्क जी का घराना कई पीढ़ियों तक यजमानी-पुरोहिताई को ही अपना जीविका-धर्म बनाये रहा। इस परम्परा को सब से पहले उनके परदादा ने तोड़ा। वे पटवारी हुए और गाँव से शहर में आ बसे और उन्होंने जालन्धर के कल्लोवानी मुहल्ले में अपना निज का मकान बनवा लिया। उनके चार बेटों में अश्क जी के दादा पं० मूलराज तीसरे थे। उन्होंने भी अपने पिता ही का पेशा अपनाया और कपूरथला रियासत में पटवारी हुए। अश्क जी के पिता पं० माधो-राम तीन वर्ष की ही आयु में मातृ-विहीन हो गये। उस वर्ष प्लेग का		

तिथि	जीवन-परिचय	तिथि	रचना-परिचय
	भयंकर प्रकोप हुआ, जिसमें सारे कुटुम्ब में अश्क जी की परदादी, उनके दादा, पिता और दादा के पागल छोटे भाई ही बचे। पं० मूल-राज बच्चे को कन्धे से लगाये-लगाये रियासत के तूल-अर्ज़ में जरीबकशी करते रहे। इसके बावजूद उन्होंने अपने बेटे को मैट्रिक तक पढ़ाया। पं० माधोराम बड़े मेधावी, लेकिन उतने ही उद्दण्ड थे। तेरह वर्ष की आयु में ही उनका विवाह होशियार-पुर के पं० रुद्रमणि मिश्र की कन्या वसन्ती देवी से हो गया। उनके सात बेटे और एक बेटी हुई, जिनमें पुत्री तथा ज्येष्ठ पुत्र शैशव ही में चल बसे। शेष छह भाइयों में अश्क जी दूसरे हैं। उनके बड़े भाई डॉक्टर और छोटे क्रम से नगरपालिका के एक अधिकारी, वैद्य, स्टेशन-मास्टर तथा मज़दूर-नेता हैं।		
१९१० दिसम्बर १४	अश्क जी का जन्म, जालन्धर के अपने पैतृक मकान में। उनकी जन्म-पत्री में उनका लग्न मीन, राशि वृष और जन्म-नाम इन्द्र-नारायण है— संस्कृतज्ञ पिता को यह नाम कुछ वैसा पसन्द नहीं आया और उन्होंने पूर्वनिश्चयानुसार उनका नाम उपेन्द्रनाथ रखा। अश्क जी के जन्म-कालिक ग्रहों में चार उत्तम हैं— चन्द्र विद्या, प्रतिभा, विवेक एवं ज्ञान-विज्ञान का स्वामी और कल्पनाशील है। मंगल उनके भाग्य का अधिपति है, स्वगृही है, अहंवादी, श्रमशील, निर्भय तथा अदम्य उत्साही है। बुध पत्नी एवं व्यापार-भाव का स्वामी		

तिथि	जीवन-परिचय	तिथि	रचना-परिचय
	है, कर्मोदय में पत्नियों के सहयोग का द्योतक है। शुक्र सौंदर्यप्रिय, ललित-कलाभिरुचि-सम्पन्न तथा उच्छृंखल है। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार वे जो कुछ हैं, इन्हीं ग्रहों के कारण हैं। आठ वर्ष की आयु तक अश्क जी अपने पिता के साथ हिसार, बगवाना और सैला खुर्द आदि स्टेशनों पर रहे। आरम्भिक शिक्षा अपने पिता से उन्होंने घर पर ही ली। पाँच वर्ष की आयु में ही उन्हें संस्कृत के बीसों श्लोक और अंग्रेज़ी के वाक्य-रूप कण्ठस्थ थे।		
१९१९	जालन्धर के साईदास एंग्लो संस्कृत प्रायमरी स्कूल की तीसरी कक्षा में प्रविष्ट हुए।		
१९२१	प्रायमरी स्कूल की अन्तिम परीक्षा उत्तीर्ण की और हाई स्कूल में गये।	१९२१	आरम्भिक तुकबन्दियाँ कीं।
		१९२२	आर्य भजन पुष्पांजलि के अनुकरण में भजन लिखे।
१९२४	दसूआ के एक पंजाबी कवि से औपचारिक दीक्षा ली।	१९२४	'की चाहीदै गुरू बनान लगियाँ'—पहली पंजाबी कविता—लिखी।
१९२५	होली के अवसर पर एक पंजाबी कवि-सम्मेलन में रजत-पदक प्राप्त किया।		
१९२६	जालन्धर के प्रसिद्ध उर्दू-कवि उस्ताद 'आज़र' के शागिर्द बने।	१९२६ मार्च, ४	तूफ़ाने अश्क (पहली प्रकाशित पद्य-रचना) उर्दू मिलाप, लाहौर के रविवासरीय अंक में प्रकाशित।
१९२७	मैट्रिक की परीक्षा में (द्वितीय श्रेणी में) उत्तीर्ण और डी० ए० वी०	१९२७	'याद हैं वो दिन' पहली कहानी का सृजन।

तिथि	जीवन-परिचय	तिथि	रचना-परिचय
	कॉलेज जालन्धर की इण्टर-कक्षा में प्रविष्ट।		
		१९२८ जुलाई, २२	एक विधवा के जज़बात (पहली प्रकाशित गद्य-रचना) प्रताप, लाहौर के रविवासरीय अंक में प्रकाशित। **रचनाएँ**—रिश्ता-ए-उलफ़त; ख़ामोश शहीद; आज़ाद मुतरिब; पर्दे की बला आदि कहानियाँ तथा कुछ ग़ज़लें।
१९२९	इण्टरमीडिएट पास किया (द्वितीय श्रेणी) और अपने ही कॉलेज की बी० ए० कक्षा में प्रविष्ट।	१९२९	**रचनाएँ**—इतने नज़दीक (डाकू) अहसासे फ़र्ज़; सरदार; बुद्धू मियाँ; सीरत की पुतली उर्फ़ बावफ़ा बीवी; तालिबे-अम्न (चैन का अभिलाषी) आदि कहानियाँ तथा कुछ ग़ज़लें।
१९३०	कई नाटकों में अभिनय और मुशायरों में शिरकत।	१९३०	नौ-रतन—पहला उर्दू कहानी-संग्रह प्रकाशित। **रचनाएँ**—फूल का अंजाम; मग़रूर साहिरा (जादूगरनी) वह रो रही थी; मुहब्बत; आख़िरी मुलाकात (चाँद का देवता) आदि कहानियाँ तथा कुछ ग़जलें।
१९३१	बी० ए० की परीक्षा में तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण—अपनी कक्षा में प्रथम रहे, क्योंकि उस वर्ष पैंतीस छात्रों में तेईस अनुत्तीर्ण हो गये। परीक्षाफल निकलने के कुछ महीने पूर्व तथा बाद में अपने ही हाई स्कूल में अध्यापन-कार्य। फिर प्रसिद्ध उर्दू-कवि श्री मेलाराम 'वफ़ा' के साथ लाहौर प्रस्थान और 'भीष्म' लाहौर के सम्पादन-विभाग में कथा-लेखक के रूप में नियुक्ति। सुप्रसिद्ध कथाकार श्री सुदर्शन से परिचय तथा उनकी पत्रिका 'चन्दन' में कुछ कहानियों का	१९३१	**रचनाएँ**—ताँगेवाला; औरत की फ़ितरत (नारी—पहेली) भिश्ती की बीवी; हमारा पहला त्याग-पत्र; लीडर (नेता) जहन्नुम का इन्तख़ाब (नरक का चुनाव) कदामत-पसन्द एडीटर (सैलाब) सूराख़ (अभाव) शिकस्त; शायर की शिकस्त; शायर का अंजाम (दोस्त की ख़ातिर) दो पहलू; तमग़ा; तारीक दीवाली आदि कहानियाँ।

तिथि	जीवन-परिचय	तिथि	रचना-परिचय
	प्रकाशन। उन्हीं के प्रयास से लाला लाजपतराय के दैनिक 'वन्दे मातरम' में कथा-लेखक के रूप में नियुक्ति। इसी बीच प्रेमचन्द जी से पत्र-व्यवहार का आरम्भ तथा उनकी प्रेरणा से हिन्दी की ओर झुकाव।		
१९३२	बस्ती गज़ाँ में शीला देवी से विवाह।	१९३२	**रचनाएँ**—मुजरिम; क़ुर्बानगाहे-इश्क (प्रेम की वेदी=जुदाई की शाम का गीत) जिस तन लागे; होली; क़र्ज़ की लॉनत; ऐरोमा; रुतबा और ग़रूर (नमक ज़्यादा है) चोरी-चोरी; सराब (मरीचिका) गिलट; रिफ़ाक़त; हवाई क़िले; जंग के बाद सुलह; क़फ़्फ़ारा (मानव या दानव) आतिशे-हसद (प्रेम-सभा का मुख़ालिफ़) बेटी; रोशनी और तारीकी आदि कहानियाँ।
१९३३ जून	लाहौर के एक प्रसिद्ध वैद्य के साथ शिमला-प्रवास तथा उनके लिए एक हिदायतनामे की रचना। वहाँ से वापस आ कर 'वन्दे मातरम' की पूरे समय (लगभग १४ से १८ घण्टे प्रतिदिन) की नौकरी से त्याग-पत्र तथा 'वीर भारत' की रात की शिफ़्ट में (केवल छः घण्टे के लिए) नियुक्ति। फिर उसे छोड़ कर 'भूँचाल' नाम से शुरू होने वाले एक नये साप्ताहिक के सम्पादक-पद पर नियुक्ति, किन्तु मतभेद के कारण एक ही महीने बाद त्याग-पत्र। प्रेमचन्द द्वारा एक लघुकथा का जागरण में अनुवाद और दूसरे उर्दू कथा-संग्रह 'औरत की फ़ितरत' की भूमिका।	१९३३	औरत की फ़ितरत (दूसरा उर्दू कहानी संग्रह) प्रकाशित। **रचनाएँ**—दूसरी शादी (केवल जाति के लिए) नज्जिया; निशानियाँ; शादी (पछतावा) नामानिगार (सम्वाददाता) मुसव्विर की मौत (हार-जीत—चित्रकार की मौत) जवानी का रोमान; राजकुमार; हरबा; जन्नत और जहन्नुम; एप्रिल फ़ूल (चैत्र शुक्ल तृतीया) आदि कहानियाँ तथा 'गुलगुले' शीर्षक के अन्तर्गत कुछ मज़ाहिया ग़ज़लें और 'इशाराते अश्क' शीर्षक के अन्तर्गत कुछ लघुकथाएँ।

तिथि	जीवन-परिचय	तिथि	रचना-परिचय
१९३४	लॉ कालेज में प्रवेश। खर्च चलाने के लिए लेखन के साथ ट्यूशन। पहली सन्तान (उमेश) का जन्म। पत्नी की बीमारी का आरम्भ। श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के सम्पर्क में पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी से परिचय तथा उनके साप्ताहिक 'कर्मवीर', खण्डवा में लघु-कथाओं का प्रकाशन।	१९३४	**रचनाएँ**—एक रात का नरक (पहला हिन्दी उपन्यास—अप्रकाशित) तथा आर्टिस्ट; चपत; डाँकी; सेक्रेटरी (प्रचार-मन्त्री) ज़िन्दगी (पागलखाने में) फ़र्ज़ (भाई) वह मेरी मँगेतर थी; सतवन्ती (सतीत्व का आदर्श) क्लर्कों के मज़ाक़; बदरी; जाखू राउण्ड; कुन्ती (फ़रेबे तखय्युल) सलोमी और मनहर; रसपान आदि कहानियाँ।
१९३५	पत्नी की बीमारी के सम्बन्ध में डॉक्टरों द्वारा टी० बी० की घोषणा तथा लाहौर के गुलाबदेवी अस्पताल में उसका प्रवेश।	१९३५	**रचनाएँ**—माया; चंचल; हक़-ब-हकदार रसीद आदि कहानियाँ तथा पहाड़ों का प्रेम-भरा संगीत—निबन्ध।
१९३६ दिसम्बर ११	एल-एल० बी० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण (योग्यता-क्रम सात सौ छात्रों में सातवाँ)। पत्नी का देहान्त।	१९३६	**रचनाएँ**—दोस्ती (गुड़ की अँदरखी) माँ; क्या चारा है (डा० वेदव्यास और उनकी दूसरी पत्नी) तरग़ीबे-गुनाह (पाप का आरम्भ) उम्मीद-ो-बीम (आशा-निराशा) आदि कहानियाँ तथा विदा—पहली हिन्दी कविता।
१९३७	स्वतन्त्र रूप से साहित्य-सृजन।	१९३७	जय-पराजय (पहला हिन्दी नाटक) तथा प्रात-प्रदीप (पहला हिन्दी कविता-संग्रह) प्रकाशित। **रचनाएँ**—गली का नाम; डाची; ये मर्द (पत्नीव्रत) संगदिल (पाषाण) यह इन्सान (मनुष्य—यह!) तहज़ीब (सभ्य-असभ्य) तख़्त-महल (तार बाबू) आदि कहानियाँ और बेसवा (वेश्या) एकांकी तथा कुछ कविताएँ।

तिथि	जीवन-परिचय	तिथि	रचना-परिचय
		१९३८	**रचनाएँ**—कोंपल (अंकुर) नन्हा; गोखरू; मोती; कफ़स (पिंजरा) रोब-दाब; ऐनी शाहिद (आँखों देखी बातें) नहूसत; खुदकुशी (मरुस्थल) आदि कहानियाँ और स्वर्ग की झलक (तल्लवुन=जन्नत की झलक) नाटक तथा लक्ष्मी का स्वागत; अधिकार का रक्षक (हुकूक का मुहाफ़िज़) एकांकी।
१९३९	'प्रीत लड़ी' (प्रीत नगर, पंजाब) के हिन्दी-उर्दू संस्करणों के सम्पादक नियुक्त।	१९३९	डाची (कहानी-संग्रह—उर्दू) तथा स्वर्ग की झलक (नाटक—हिन्दी) प्रकाशित। **रचनाएँ**—अपना-पराया (दो आने की मिठाई) नासूर; फ़तूर आदि कहानियाँ और जोंक; आपस का समझौता; पहेली; देवताओं की छाया में—एकांकी तथा कुछ गुरुमुखी (पंजाबी) कहानियाँ।
		१९४०	सितारों के खेल (उपन्यास—हिन्दी) उर्दू काव्य की एक नयी धारा (समीक्षात्मक अध्ययन तथा संकलन—हिन्दी) छठा बेटा (नाटक—हिन्दी) देवताओं की छाया में (एकांकी-संग्रह—हिन्दी) कोपल (कहानी-संग्रह—उर्दू) तथा वावरोले (बगूले—पंजाबी कहानी-संग्रह) प्रकाशित। **रचनाएँ**—कालू; चट्टान; बैंगन का पौधा आदि कहानियाँ।
१९४१ फ़रवरी	दूसरा विवाह। 'प्रीत लड़ी' से त्याग-पत्र। पत्नी का परित्याग। आल इण्डिया रेडियो दिल्ली में हिन्दी सहायक के रूप में नियुक्ति।	१९४१	पापी (एकांकी-संग्रह—उर्दू) तथा ऊर्म्मियाँ (कविता-संग्रह—हिन्दी) प्रकाशित। **रचनाएँ**—उबाल; झटके; बगूले;

तिथि	जीवन-परिचय	तिथि	रचना-परिचय
सितम्बर	कौशल्या जी से विवाह।		सपने; स्पोर्ट्समैन; काकड़ाँ का तेली आदि कहानियाँ तथा खिड़की; सूखी डाली; चमत्कार (मोजज़े) नया-पुराना—एकांकी।
दिसम्बर	दूसरी पत्नी से कन्या (उमा) का जन्म।		
		१९४२	नासूर (कहानी-संग्रह—उर्दू) तथा चरवाहे (एकांकी-संग्रह—उर्दू) प्रकाशित। **रचनाएँ**—खटक (कहानी) तथा बहनें; कामदा (शादी) मैमूना; चिलमन; चरवाहे; मिकनातीस (चुम्बक) एकांकी।
		१९४३	कफ़स (कहानी-संग्रह—उर्दू) प्रकाशित। **रचनाएँ**—खिलौने (बूढ़ा खिलौने वाला) कहानी और शिकारी (उड़ान) फ़र्ज़ाना (भँवर) सुबह-शाम (अंजो दीदी) अज़ली रास्ते (आदि मार्ग=अलग-अलग रास्ते) नाटक तथा तौलिये—एकांकी।
१९४४	आल इण्डिया रेडियो से त्याग-पत्र। छह महीने के लिए सैनिक-समाचार के हिन्दी-संस्करण का सम्पादन।	१९४४	पिंजरा (कहानी-संग्रह—हिन्दी) तथा चट्टान (कहानी-संग्रह—उर्दू) प्रकाशित। **रचनाएँ**—क़ैदे हयात (क़ैद) नाटक तथा पक्का गाना—एकांकी।
१९४५ जनवरी	फ़िलिमस्तान लि० के आमन्त्रण पर बम्बई प्रस्थान तथा सम्वाद-लेखक, गीतकार, कहानी-लेखक, अभिनेता आदि के रूप में फ़िल्म-जगत में कार्य।	१९४५	अंकुर (कहानी-संग्रह—हिन्दी) प्रकाशित। **रचनाएँ**—कैप्टन रशीद कहानी तथा बृहत् उपन्यास 'गिरती दीवारें' के अन्तिम परिच्छेद।
अगस्त	दूसरे पुत्र (नीलाभ) का जन्म।		
१९४६ दिसम्बर	बीमारी—डॉक्टरों द्वारा क्षयरोग होने का सन्देह। फ़िलिमस्तान से त्याग-पत्र तथा पंचगनी प्रस्थान।	१९४६	गिरती दीवारें (उपन्यास—हिन्दी) तथा अज़ली रास्ते (नाटक-संग्रह—उर्दू) प्रकाशित।

तिथि	जीवन-परिचय	तिथि	रचना-परिचय
			रचनाएँ—तूफ़ान से पहले एकांकी तथा दीप जलेगा—लम्बी कविता।
१९४७	पंचगनी के 'बेल-एयर सेनेटोरियम' में प्रवेश तथा बीमारी की दशा में काव्य-सृजन।	१९४७	तूफ़ान से पहले (एकांकी-संग्रह—हिन्दी) निशानियाँ (कहानी-संग्रह—हिन्दी) तथा क़ैदे हयात (नाटक—उर्दू) प्रकाशित। **रचनाएँ**—अस्त्र; छिद्रान्वेषी; बच्चे; जब सन्तराम ने बेलना उठाया—कहानियाँ; बरगद की बेटी—खण्ड-काव्य तथा कइसा साब : कइसी आया—एकांकी।
१९४८ जुलाई	उतर-प्रदेश सरकार द्वारा पाँच हज़ार रूपये के अनुदान की घोषणा। अर्ध-स्वस्थ हो कर इलाहाबाद में आगमन।	१९४८	चरवाहे (एकांकी-संग्रह—हिन्दी) प्रकाशित। **रचनाएँ**—आ लड़ाई आ, मेरे आँगन में से जा; चारा काटने की मशीन; टेबल लैण्ड; तकल्लुफ़; तमाशा; दलदल; मि० घटपाण्डे (खुद एतमादी); मोह-मुक्त हो; लेरें-जाइटिस; ज्ञानी आदि कहानियाँ।
१९४९	श्रीमती कौशल्या अश्क द्वारा उत्तर प्रदेश तथा भारत सरकार से ब्याज पर ऋण ले कर 'नीलाभ प्रकाशन' का आरम्भ।	१९४९	छींटे (कहानी-संग्रह—हिन्दी) दो धारा (अश्क-दम्पति का संयुक्त कहानी-संग्रह—हिन्दी) तथा बरगद की बेटी (खण्ड काव्य) प्रकाशित। **रचनाएँ**—मर्द का एतबार—कहानी तथा अड्डी चुक भूतना; कश्मीरीलाल अश्क—संस्मरण तथा 'अंधी गली' के कुछ एकांकी।
		१९५०	दीप जलेगा (कविता-संग्रह—हिन्दी) आदि मार्ग (नाटक-संग्रह—हिन्दी) क़ैद और उड़ान (दो नाटक—हिन्दी) तथा प्रतिनिधि

तिथि	जीवन-परिचय	तिथि	रचना-परिचय
			एकांकी (सम्पादित संकलन—हिन्दी) प्रकाशित। रचनाएँ—काले साहब; बरूसी का फूल और भैंस—कहानियाँ तथा बतसिया (बीएट्रिस); पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ; कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्घाटन—एकांकी।
		१९५१	पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ (एकांकी-संग्रह—हिन्दी) तथा जुदाई की शाम का गीत (कहानी-संग्रह—हिन्दी) प्रकाशित। रचनाएँ—मस्केबाज़ों का स्वर्ग (मस्केबाज़ों की जन्नत) एकांकी तथा उर्दू-हिन्दी दोस्तों से—निबन्ध।
१९५२	प्रगतिशील लेखक-संघ के प्रयाग अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष।	१९५२	गर्म राख (बृहत् उपन्यास—हिन्दी), पैंतरे (नाटक—हिन्दी) तथा चाँदनी रात और अजगर (खण्डकाव्य—हिन्दी) प्रकाशित। रचनाएँ—घिसा हुआ पत्ता; हीरो का रोल—रेखाचित्र तथा प्रगतिशील आन्दोलन (प्रगतिशील लेखक संघ के प्रयाग अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष पद से दिया गया भाषण)—निबन्ध।
१९५३ से १९५५	अपेक्षाकृत स्वस्थ हो कर नीलाभ प्रकाशन की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए लगभग सम्पूर्ण भारत का दौरा तथा प्रतिवर्ष कुछ महीनों के लिए गर्मियों में स्वास्थ्य-सुधार तथा लेखन-कार्य के लिए भारत के विभिन्न पर्वतीय प्रदेशों का प्रवास।	१९५३	रचनाएँ—वेपा के नगर में—संस्मरण तथा बड़ी-बड़ी आँखें—लघु-उपन्यास।
		१९५४	अलग-अलग रास्ते (नाटक—हिन्दी) बैंगन का पौधा (कहानी-संग्रह—

तिथि	जीवन-परिचय	तिथि	रचना-परिचय
			हिन्दी) तथा काले साहब (कहानी-संग्रह—उर्दू) प्रकाशित। **रचनाएँ**—कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल (अफ़साना निगार ख़ातून और जेहलम के सात पुल)—कहानी; मौसी—संस्मरण तथा आदर्श और यथार्थ (कुसुम का सपना)—एकांकी।
		१९५५	रेखाएँ और चित्र (निबन्ध-संग्रह—हिन्दी) अंजो दीदी (नाटक—हिन्दी) बड़ी-बड़ी आँखें (लघु-उपन्यास—हिन्दी) प्रकाशित। **रचनाएँ**—दालिये—कहानी; कलम घसीट—रेखाचित्र; घपले तथा 'अंधी गली' के कुछ एकांकी और हिन्दी कथा-साहित्य में गत्यवरोध—निबन्ध।
१९५६ सितम्बर	मॉस्को में कालिदास जयन्ती समारोह में भाग लेने के लिए विशेष निमन्त्रण पर रूस प्रस्थान। काबुल, स्टालिनाबाद, ब्लीसी, लेनिनग्राद, मॉस्को आदि का भ्रमण तथा रूसी लेखकों, विशेषकर इलिया एहरनबुर्ग से भेंट।	१९५६	अंधी गली (आठ स्वतन्त्र एकांकियों से युक्त नाटक—हिन्दी) मंटो : मेरा दुश्मन (संस्मरण-प्रबन्ध—हिन्दी) संकेत (बृहत् साहित्य-संकलन—हिन्दी) नये रंग-एकांकी (सम्पादित संकलन—हिन्दी) प्रकाशित। **रचनाएँ**—मेमने—कहानी।
		१९५७	पत्थर-अलपत्थर (हिन्दी लघु-उपन्यास—बर्फ़ का दर्द) कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल (कहानी-संग्रह—हिन्दी) तथा काले साहब (कहानी-संग्रह—उर्दू) प्रकाशित। **रचनाएँ**—कुछ कविताएँ तथा गिरती दीवारें के दूसरे भाग के कुछ परिच्छेद।

तिथि	जीवन-परिचय	तिथि	रचना-परिचय
१९५८	भारत सरकार के आमन्त्रण पर हिन्दी-प्रचार के लिए आन्ध्र-प्रदेश का दौरा।	१९५८	सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ (कहानी-संकलन—हिन्दी) प्रकाशित। रचनाएँ—किस की बात, फ़ादर्ज़ तथा साहब को जुकाम है—एकांकी; ठहराव—कहानी; मेरे कहानी लेखन के पैंतीस वर्ष—निबन्ध।
		१९५९	ज़्यादा अपनी : कम परायी (संस्मरणों तथा निबन्धों का संग्रह—हिन्दी) तथा साहब को जुकाम है (एकांकी-संग्रह—हिन्दी) प्रकाशित। रचनाएँ—बेबसी कहानी तथा हिन्दी नाटक और रंगमंच—निबन्ध।
१९६० दिसम्बर १४	जीवन के पचास वर्ष सम्पूर्ण। भारत तथा रूस में हिन्दी-प्रेमियों द्वारा अश्क-अर्धशती-समारोह का आयोजन।	१९६०	सड़कों पे ढले साये (कविता-संग्रह—हिन्दी) प्रकाशित। रचनाएँ—झाग और मुस्कान; टोपियाँ और डॉक्टर; पलँग; ख़ाली डिब्बा—कहानियाँ तथा नयी कविता : पुराना कवि—निबन्ध।
१९६१	असम-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन की अध्यक्षता, आसाम का दौरा तथा कुछ महीने कैलिम्पांग-प्रवास।	१९६१	पलँग (कहानी-संग्रह—हिन्दी) तथा भँवर (नाटक—हिन्दी) प्रकाशित। रचनाएँ—एम्बेसेडर—कहानी तथा शहर में घूमता आइना—(गिरती दीवारें का दूसरा भाग) उपन्यास। संकेत (उर्दू) सम्पादित साहित्य-संकलन!

परिशिष्ट : दो

"I thought famous people were proud, unapproachable, that they despised the crowd, and by their fame and the glory of their name, as it were, revenged themselves on the vulgar herd for putting rank and wealth above everything. But here they cry and fish, play cards, laugh and get cross like everyone else."...

—Nina in Chekov's Sea-Gull

बारान्निकोव
●●●

लेनिनग्राद में अश्क अर्धशती-समारोह

[ग्यारह दिसम्बर की शाम को जब प्रस्तुत संकलन का अन्तिम फ़ार्म छपने के लिए मशीन पर जा चुका था, सहसा लेनिनग्राद से श्री बारान्निकोव का ३०-११-६१ का एक पत्र और पैकेट मिला कि वे अश्क जी सम्बन्धी अपना संस्मरण भेज रहे हैं; उनको इस बात का खेद है कि उनके संस्मरण का हिन्दी रूपान्तर हमें पहले नहीं मिला; वे जल्दी में रूसी भाषा में ही अपना सस्मरण भेज रहे है और उनका आग्रह है कि हम अविलम्व प्रो० प्रकाशचन्द्र जी गुप्त के माध्यम से प्रो० सेन गुप्त से मिले और उनसे तत्काल संस्मरण का अनुवाद कर देने की प्रार्थना करें! बारान्निकोव जी ने यह भी लिखा कि वे प्रो० सेन गुप्त के नाम रूसी भाषा में पत्र भी दे रहे है; कि प्रो० सेन वर्षो से प्रयाग विश्वविद्यालय में रूसी भाषा पढ़ाते है और बारान्निकोव जी के मित्र है।

कौशल्या जी जब पत्र लेकर घर आयी तो शाम के सात बज चुके थे। पुस्तक चौदह तारीख़ को अश्क जी के ५१वें जन्म-दिवस पर भेंट की जाने वाली थी और यह संस्मरण केवल अन्त में छप सकता था और तभी छप सकता था यदि उसी रात इसका अनुवाद हो जाता।

एक तो इतनी दूर से अश्क जी के स्नेही मित्र का अनुरोध-भरा पत्र, दूसरे भैरव भाई का आदेश और फिर कौशल्या जी का आग्रह—सख़्त सर्दी के बावजूद मैंने साइकिल उठायी और प्रकाशचन्द्र जी गुप्त के घर

की ओर चल दिया। गुप्त जी ममफ़ोर्ड गंज में रहते हैं, जो खुसरोबाग रोड से कम-से-कम तीन-चार मील के फ़ासले पर है। रात के अँधेरे में बड़ी मुश्किल से पूछताछ करते हुए उनका घर मिला तो बाहर ताला लगा देख कर बड़ी निराशा हुई। बारान्निकोव जी के पत्र में कुछ ऐसी आत्मीयता थी कि मुझे खाली हाथ लौटना स्वीकार न हुआ। वहाँ से मैं जैन हॉस्टल गया और मैंने किसी प्रकार प्रो० सेन गुप्त के एक प्रिय शिष्य श्री पन्त को ढूँढ़ निकाला और उन्हें साथ ले कर लगभग साढ़े नौ बजे सेन जी के घर जा पहुँचा। इस बेतुके समय, ऐसे बेतुके अनुरोध को सुन कर प्रो० सेन पहले तो बड़े झल्लाये, लेकिन जब मैंने उन्हें पूरी स्थिति समझाते हुए श्री बारान्निकोव का पत्र दिया तो उन्होंने उसी वक्त अनुवाद कर देना स्वीकार कर लिया। लगभग बारह बजे रूसी से अंग्रेज़ी में अनुवाद ख़त्म हुआ और मैं एक बजे के करीब वापस खुसरोबाग रोड पहुँचा। संस्मरण का हिन्दी अनुवाद तड़के चार बजे समाप्त हुआ।

हो सकता है इतनी जल्दी में अनुवाद-दर-अनुवाद करने में श्री बारान्निकोव की भावनाएँ उतनी सूक्ष्मता से न व्यक्त हो पायी हों, लेकिन हमें प्रसन्नता है कि अन्त में ही सही, यह संस्मरण इस पुस्तक में सम्मिलित हो रहा है और इस प्रकार हम हिन्दी के एक अनन्य प्रेमी के अनुरोध की रक्षा कर सके है। इसके लिए हम प्रो० सेन गुप्त तथा श्री पन्त के अत्यन्त आभारी हैं।

—सुरेन्द्रपाल]

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का थोड़ा-सा परिचय रखने वाला भी अश्क के नाम से अनभिज्ञ नहीं रह सकता। कुछ वर्ष पहले मैंने अश्क की एक पुस्तक पढ़ी थी। तभी से मैं उनकी रचनाओं का प्रेमी हूँ। मुझे इस बात का संतोष है कि भारत के अपने प्रवास में न केवल मैंने अपने प्रिय लेखक की बहुत-सी रचनाएँ पढ़ीं, बल्कि उसे निकट से जानने का भी अवसर पाया। कदाचित १९५६-५७ के अन्त की बात है, 'भारत-रूसी सांस्कृतिक संघ' की इलाहाबाद शाखा के निमन्त्रण पर मैं उस शहर गया, जहाँ अश्क गत बारह वर्ष से निवास करते हैं और जो न केवल अपनी पुरातन सांस्कृतिक परम्पराओं के लिए प्रख्यात है, बल्कि जिसे हिन्दी साहित्य की अटूट परम्परा को सँजोये रखने का भी गौरव प्राप्त है। एक दिन मैं प्रयाग विश्वविद्यालय से वापस 'रायल होटल' (जहाँ कि मैं ठहरा हुआ था) लौटा

तो मैंने होटल के लॉन में दो नवागन्तुकों को अपनी प्रतीक्षा में बैठे पाया। यह जान कर मेरे हर्ष का ठिकाना न रहा कि मुझ से मिलने को आने वाले और कोई नहीं, मेरे प्रिय लेखक श्री उपेन्द्रनाथ अश्क और उनकी पत्नी कौशल्या हैं। और यद्यपि उस दिन हम पहली बार ही मिले थे, पर मुझे ऐसा लगा, जैसे वे मेरे वर्षों के परिचित हों।

अश्क और उनकी पत्नी बातें करने में बड़े दक्ष हैं। उनमें कुछ अजीब-सी दुर्लभ सरलता और सहृदयता है। बड़े उत्साह से अश्क ने मुझे रूस-यात्रा के अपने संस्मरण सुनाये, जहाँ कि वे कालिदास जयन्ती के अवसर पर भाग लेने गये थे। तभी उन्होंने अचानक, अत्यन्त अप्रत्याशित रूप से, मेरी माता जी की शुभकामनाएँ और मेरे बच्चों की कुशल-क्षेम का समाचार मुझे दिया, जो कि उस समय लेनिनग्राद में ही थे। तब मुझे मालूम हुआ कि लेनिनग्राद में अपने अत्यन्त व्यस्त कार्यक्रम में से कुछ समय निकाल कर, अश्क लेनिनग्राद में मेरे घर गये थे और उन लोगों से मिले थे। "यद्यपि आप वहाँ नहीं थे", अश्क ने हँस कर कहा, "पर मैं आपके घर हो आया हूँ। अब आपकी बारी है कि आप हमारे घर आयें!"

उसी शाम मैं अश्क जी के यहाँ, उनके निवासस्थान ५, खुसरोबाग रोड पर गया। अश्क जी की पत्नी ने अपने हाथ से पका कर बड़ा ही स्वादिष्ट भारतीय, कहूँ कि पंजाबी खाना मुझे खिलाया, जिसमें कई तरह के तिक्त-मृदु षट्रस व्यंजन थे। खाने के दौरान में और उसके बाद भी अश्क निरन्तर अपने बारे में, अपनी रचनाओं के बारे में और काम करने की अपनी पद्धति के बारे में धाराप्रवाह बातें करते रहे। उन्होंने मुझे अपने उपन्यास, कहानी-संग्रह, नाटक और एकांकी-संग्रह भी भेंट किये। मुझे इस बात का सदा खेद रहा कि मैं अधिक समय उन मेहमान-नवाज़ स्नेहियों के साथ नहीं बिता सका। कुछ ही देर बाद मुझे दिल्ली के लिए चल देना था और अभी अपने होटल से मुझे विदा लेनी थी।

स्टेशन पर अश्क का पूरा परिवार मौजूद था। अश्क-दम्पति को मेहमान की सुख-सुविधा के बारे में छोटे-से-छोटे ब्यौरे का कितना ध्यान रहता है और उनमें कितना टेक्ट है, यह मैं उसी दिन जान पाया——सर्दियों के दिन थे, सख़्त जाड़ा पड़ रहा था और मैं केवल पहनने के गर्म कपड़े ले कर दिल्ली से चला आया था। जब अश्क मेरा बिस्तर बिछवाने के लिए डिब्बे के अन्दर गये और उन्होंने पूछा कि बिस्तर कहाँ है तो मैंने उन्हें बताया कि मैं बिस्तर लेकर नहीं चला। मैं रूस की गाड़ियों और वहाँ की सुविधाओं का अभ्यस्त था और मुझे भारतीय रेल-विभाग के कायदे-कानून मालूम नहीं थे। रूस में थोड़ा-सा अतिरिक्त किराया देने पर गार्ड से गर्म बिस्तर मिल जाता है। अश्क स्वयं रूस हो आये थे और गिरती बर्फ़ में

लेनिनग्राद की रेल-यात्रा कर आये थे। वे हँसे, पर तत्काल चिन्तित हो गये कि मैं रात भर बिना कम्बल या लिहाफ़ के कैसे यात्रा करूँगा। कौशल्या जी को मालूम हुआ तो वे और भी चिन्तित हो उठीं। उन्होंने कहा कि हम अभी घर से कम्बल मँगा देते हैं और अश्क जी ने अपने बड़े लड़के को आदेश दिया कि वह भाग कर साइकिल या रिक्शा पर जाय और कम्बल ले आये। गाड़ी चलने में केवल दस मिनट थे, मैंने लाख मना किया, पर वह युवक हवा हो गया। बाद में दोनों पति-पत्नी मुझे समझाने लगे कि घर बहुत दूर नहीं और वह ज़रूर कम्बल ले आयेगा। न भी ला पाये तो कोशिश कर देखने में कोई बुराई नहीं। ठिठुरते हुए रात काटने में क्या लाभ है? . . .और सचमुच जब गाड़ी खिसकने लगी, वह युवक भागमभाग कम्बल लिये आ पहुँचा और उसने खिड़की में से मुझे कम्बल दे दिया।

अश्क-दम्पति बड़े प्रसन्न हुए। "अब कोई चिन्ता नहीं," गाड़ी के साथ-साथ चलते और मुझे विदा देते हुए उन्होंने कहा, "उतने आराम से आप चाहे रात न काटें, पर इतनी बे-आरामी से भी नहीं काटेंगे!"

दूसरी बार अश्क-दम्पति से मैं एक पुराने मित्र की हैसियत से मिला और मैंने उन्हें अपने घर ११, बारह खम्भा रोड पर निमन्त्रित किया। मेरी पत्नी रिम्मा बड़ी उत्सुकता से उनकी बाट देख रही थी। ठीक समय पर वे आ गये। अश्क का उपन्यास 'पत्थर-अलपत्थर' उन्हीं दिनों छपा था और मैं उसे पढ़ चुका था। चाय पर उन्होंने हमें इस उपन्यास के सम्बन्ध में बहुत कुछ बताया। उनका ख़याल था कि शिल्प और विषय-वस्तु—दोनों के विचार से उनका यह लघु-उपन्यास उनके सभी पिछले उपन्यासों से भिन्न है। इससे पहले अश्क ने अपने उपन्यासों में हमेशा भारतीय निम्न-मध्यवर्ग के जीवन का चित्रण किया है। इस उपन्यास में पहली बार उन्होंने निम्न-वर्ग के एक सीधे-सादे व्यक्ति को अपने उपन्यास का नायक बनाया है।

उपन्यास के नायक की बात करते हुए अश्क कश्मीर की जनता और उसकी ग़रीबी के विषय पर उतर आये और जब मैंने 'फ़िरन' और 'काँगड़ी' के बारे में जानना चाहा तो उन्होंने कश्मीरियों के आचार-व्यवहार, खान-पान और रहन-सहन के बारे में बीसियों बातें हमें बता डालीं।

दूसरे दिन हम दोनों अश्क-दम्पति के साथ पुरानी दिल्ली का भ्रमण करने निकले। नयी दिल्ली में रहने के कारण हम कम ही उधर गये थे। कश्मीरी गेट के पास दीवार के साथ अन्दर को जाते हुए उन्होंने हमें शहर-पनाह दिखायी, जिसमें ऊपर बन्दूक की नली-डाल कर शत्रु पर गोली चलाने के लिए लम्बे सूराख़ बने हुए थे। अश्क ने

हमें बताया कि इसी के पीछे से प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के सेनानियों ने १८५७ में विदेशी साम्राज्यवादियों के विरुद्ध मोर्चा लिया था।

शहर-पनाह इतनी चौड़ी थी कि उसकी मेहराबों के नीचे दूर तक कितने ही ग़रीब परिवार बसे हुए थे। जब हमने उनके सम्बन्ध में पूछा तो अश्क ने बताया कि ये शरणार्थी हैं। ये लोग १९४७ में देश के विभाजन के समय पाकिस्तान से आये हैं। अश्क ने उन दिनों का चित्र कुछ ऐसे अन्दाज़ में खींचा कि हमारे सामने उन दिनों की भयावहता, प्रत्यक्ष मूर्तिमान हो उठी। वहीं हमने कौशल्या जी के मामा मि० कपूर के यहाँ चाय पी। उनकी लड़की रूसी भाषा सीख रही थी और वह हमसे रूसी में बातें करती रही। तभी हमने अश्क-दम्पति और कपूर परिवार के साथ कुछ फ़ोटो लिये।

चाय के बाद हम मोरी गेट से होते हुए वापस कनाट प्लेस आये। हमने देखा कि अश्क पान के बड़े शौकीन हैं। रास्ते में कई बार उन्होंने पान ख़रीदे और बड़े स्नेह से हमें उनका ज़ायका चखने के लिए कहा। हँसते हुए उन्होंने यह भी बताया कि वे पहले पान नही खाते थे, यू० पी० में रहने के कारण खाने लगे हैं, पर इसमें यू० पी० वालों का दोष नहीं, उनके एक सिक्ख पंजाबी मित्र का दोष है, जो उर्दू के उच्च कोटि के कथाकार हैं; अश्क-परिवार के घनिष्ठ मित्र हैं; दो वर्ष पहले सात दिन के लिए इलाहाबाद आये थे, उनके यहाँ ठहरे थे और दोनों पति-पत्नी को पान-तम्बाकू खाने का चस्का लगा गये थे।

अपने उन कथाकार मित्र की कला और शिल्प की प्रशंसा करते हुए अश्क फिर साहित्य सम्बन्धी बातें करने लगे और कहानियों से नाटकों और नाटकों से उपन्यासों पर चले आये। तभी मैंने कहा कि रिम्मा जी की और मेरी बड़ी साध है कि हम स्वयं उनका कोई उपन्यास रूसी भाषा में अनूदित करें. . .

. . .और आज मुझे यह कहने में अपार प्रसन्नता होती है कि हम अपनी वह साध पूरी कर चुके हैं। मेरे सामने मेज़ पर उपेन्द्रनाथ अश्क का उपन्यास 'चेतन' ('गिरती दीवारें' का संक्षिप्त) रूसी भाषा में अनूदित पड़ा है, जिसे मैंने और मेरी पत्नी रिम्मा ने रूसी जामा पहनाया है और जिसे इसी वर्ष मास्को के 'विदेशी भाषा प्रकाशन गृह' ने छापा है। इस उपन्यास का अनुवाद करते हुए हमें निरन्तर लेखक के जीवन की झलक मिलती रही है, क्योंकि जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह लेखक की अर्धजीवनी ही है।

और अब इलाहाबाद से सहस्रों किलोमीटर दूर लेनिनग्राद में बैठे हुए मुझे इस प्रख्यात भारतीय लेखक से अपनी स्नेह और सौहार्द-भरी मुलाकातों की याद आती है। सामने दीवार पर लगा हुआ अश्क का चित्र मेरी ओर तेज़ और मेधावी

आँखों से देख रहा है; रैक में लगी हुई उनकी पुस्तकें मुझे उनकी याद दिला रही हैं और मेरे एलबम में लगा हुआ वह चित्र, जिसमें मैं, रिम्मा, अश्क और कौशल्या एक साथ खड़े हैं, दिल्ली के उस सुखद दिन की स्मृतियाँ ताज़ा कर रहा है।

हम दोनों अपने इन भारतीय स्नेहियों से प्रायः पत्र-व्यवहार करते रहते हैं। अश्क अपनी रचनाओं के बारे में ही नहीं, अपने घरेलू मामलों के सम्बन्ध में भी हमें सूचित करते रहते हैं और हम इतनी दूर बैठे हुए जानते हैं कि उनके ज्येष्ठ पुत्र का विवाह हो गया है; अश्क ससुर बन गये हैं और उनके घर बड़ी सुन्दर और सीधी-सादी बहू आ गयी है। जब भी अश्क की नयी पुस्तक छपती है, हमारी लायब्रेरी में सजे हुए अश्क-साहित्य में एक और ग्रन्थ की वृद्धि हो जाती है।

रूस में अश्क की रचनाएँ अत्यन्त लोकप्रिय हैं। 'चेतन' के अतिरिक्त उनकी अनेक कहानियाँ और कविताएँ रूसी भाषा में अनूदित हो कर लोकप्रिय हो चुकी हैं और मैंने मास्को रेडियो से उनका नाटक 'अलग-अलग रास्ते' भी सुना है।

अश्क अर्धशती पार कर गये हैं। गत वर्ष १४ दिसम्बर १९६० को उनकी अर्धशती लेनिनग्राद में बड़े उत्साह से मनायी गयी थी। यह सान्ध्य-समारोह 'भारत-रूसी सांस्कृतिक संघ' की लेलिनग्राद शाखा के तत्वावधान में आयोजित हुआ था। इस अवसर पर रूस तथा भारत में प्रकाशित अश्क-साहित्य की प्रदर्शनी भी आयोजित हुई। प्रो० वी० आई० कल्यानोव ने समारोह का उद्घाटन करते हुए लेनिनग्राद और मास्को में अश्क जी से अपनी मुलाकातों का उल्लेख किया; श्री सी० एन० ग्लोवानोव ने अपनी रिपोर्ट में श्रोताओं को अश्क के रचना-पथ का परिचय दिया; श्री एफ़० एल० बोग्दानोव ने अश्क के काव्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये और मैंने अश्क से अपनी अविस्मरणीय मुलाकातों का ज़िक्र किया।

यह समारोह अश्क की कविताओं और कहानियों के पाठ के साथ समाप्त हुआ। यह पाठ रूसी और हिन्दी दोनों भाषाओं में हुआ और यों लेनिनग्राद की हिन्दी-प्रेमी जनता ने अपने प्रिय लेखक की अर्धशती मनायी।